

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३२ सम्पादक : डा० सागरमल जैन

जैनाचार्य का

अलंकारशास्त्र में योगदान

लेखक

डा० कमलेश कुमार जैन

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

१९८४

डा० जैन की तत्त्वानुसन्धित्सा उत्तम कोटि की है और उसी का सार्थक प्रयोग करते हुए उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण विषय का गम्भीर विवेचन किया है। उपस्थापन, विवेचन और प्रतिपादन—तीनों दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ सहृदय विद्वानों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा।

डा० विश्वनाथ महापात्र

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

This is the first thesis covering the Jain contribution to Alamkara Sastra and it is gratifying to note that the candidate has done justice with the subject. The thesis on the whole has sufficient merit and is characterised by the discovery of new material hitherto unknown.

Dr. Rasik Vihari Joshi

Professor & Head, Sanskrit Deptt.

University of Delhi, DELHI

The Author has for the first time discussed the specific contribution of the Jain rhetoricians. The thesis is a piece of research work, characterised by discovery of new facts. Its literary presentation is satisfactory.

Dr. Ramjee Upadhyaya

Professor, Sanskrit Deptt.

University of Saugar, SAGAR.

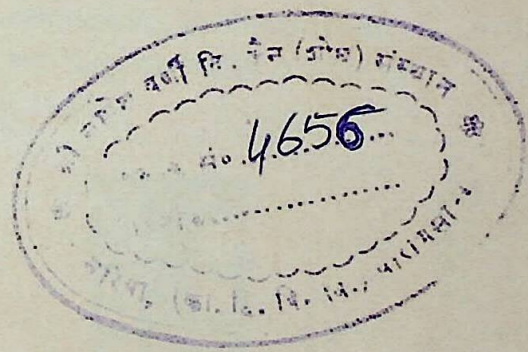
मूल्य : ५०-००

4/2

प्रिय अर्पणा जैन को
सलनेह।

अलेख्य 2. अर्पणा
30.1.87

श्री गणेश वरणी संस्थान
नरिया का सादर
स्वागत
०२.२.२००९



पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३२ :

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

लेखक

डॉ० कमलेशकुमार जैन

जैनदर्शन व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३२ :

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

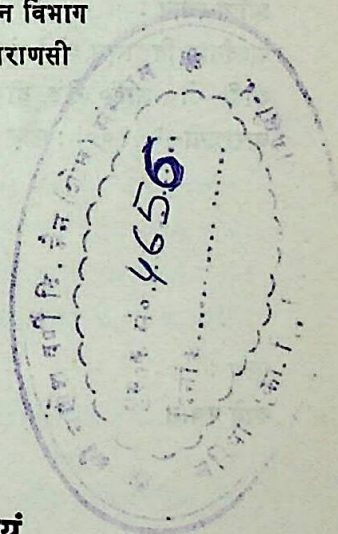
लेखक

डॉ० कमलेशकुमार जैन

जैनदर्शन व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



सच्चं लोगम्भि सारभूयं



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,

आई० टी० आई० रोड

वाराणसी-२२१००५

प्रकाशन वर्ष :

सन् १९८४

वीर निर्वाण संवत् २५१०

संस्करण : प्रथम

प्राप्ति-स्थान :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, बी० एच० यू०

वाराणसी-२२१००५; फोन : ६६७६२

मूल्य :

रुपये पचास

मुद्रक :

वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

प्रकाशकीय

डॉ० कमलेशकुमार जैन के शोधनिबन्ध “जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान” को पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। डॉ० जैन संस्थान के शोधछात्र रहे हैं, उन्हें रतनचन्द मेमोरियल स्कालरशिप प्रदान की गयी थी। संस्थान में रह कर ही उन्होंने इस शोध-निबन्ध का प्रणयन किया, जिस पर उन्हें सन् १९७८ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी।

जैन आचार्यों ने न केवल धार्मिक और उपदेशात्मक साहित्य का सृजन किया अपितु उन्होंने साहित्य की उन विविध विधाओं और ज्ञान की उन विविध शाखाओं पर भी अपनी कलम चलायी, जिनका सीधे रूप से धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। अलंकारशास्त्र जैसे गम्भीर विषय पर भी आगमकाल से लेकर परवर्ती युग तक जैनाचार्यों द्वारा काफी कुछ लिखा गया है। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में डॉ० कमलेशकुमार जैन ने जैन साहित्य का मन्थन करके यह बताने का प्रयास किया है कि अलंकारशास्त्र के प्रणयन में जैनाचार्यों का क्या योगदान रहा है। ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी बन पड़ा है, यह निर्णय तो हम विद्वान् पाठकों के लिए सुरक्षित रखते हैं, किन्तु इसके प्रणयन एवं प्रकाशन-कार्यों में डॉ० कमलेशकुमार जैन ने जो परिश्रम किया, उसके लिए हम उनके आभारी हैं तथा उनकी कृति की प्रकाशन-वेला में हम उन्हें बधाई देते हैं। हम संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन, शोध सहायक डॉ० रविशंकर मिश्र और डॉ० अरुण प्रताप सिंह के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया। साथ ही हम वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस मुद्रणकार्य को सम्पन्न किया है।

भूपेन्द्र नाथ जैन

मन्त्री

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, संचालक समिति

भूमिका

भारत की प्राचीनतम ज्ञानधारा संस्कृताश्रित रही है। वैदिक, पौराणिक तथा लौकिक स्रोतों से प्रवाहित होने वाली यह धारा सभी विषयों एवं भावों के प्रतिपादन से नितान्त पुष्ट है। इस धारा से थोड़ा हटकर और प्रायः इसके समान्तराल दो धारायें और उपलब्ध होती हैं, जिनमें एक जिन धर्मानुसारिणी और दूसरी बुद्धधर्मानुसारिणी है। यद्यपि प्रधानतः जैनधारा का वाहन प्राकृत और बौद्धधारा का पालि रहा है, फिर भी दोनों धाराओं को संस्कृत के व्यापक-तर प्रभाव को मानना ही पड़ा और फलतः दोनों धाराओं के विद्वानों के द्वारा संस्कृत में एक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ।

संप्रदाय विशेष की मान्यताओं से नियन्त्रित होने पर भी जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने लौकिक विषयों पर अपने विचारों के प्रतिपादन में असंख्य संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की। धर्म-दर्शन तथा आचार-नियम के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, कोष आदि सामान्य विषयों पर अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता जैन या बौद्ध थे। इन ग्रन्थों में विचार की सूक्ष्मता के साथ-साथ स्थान-स्थान पर मौलिक दृष्टिभेद भी दृष्टिगोचर होता है, जिसका सम्यक् अनुशीलन ज्ञानमार्ग में परम उपादेय है। वस्तुतः इनके अनुशीलन और तात्त्विक विवेचन के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषा की सार्वभौम और सर्वविषय-ग्राहिणी व्यापकता तथा गम्भीरता स्पष्ट होती है।

सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ ही समीक्षात्मक प्रतिभा के क्षेत्र में भारत वर्ष विश्व में अद्वितीय स्थान रखता है। पाश्चात्य विद्वान् बारंबार ग्रीक-मनीषा की दुहाई देते हैं और उनका चिरकालिक आग्रह यही रहा है कि ग्रीक-प्रतिभा को सर्वोत्तम सिद्ध करें, लेकिन वस्तु स्थिति के विचार से उनका यह आग्रह दुराग्रह ही सिद्ध होता है। सर्जन और मनन—दोनों क्षेत्रों में ग्रीक-मनीषा की असाधारण देन की मुक्तकण्ठ-प्रशंसा करते हुए भी हम निर्बाध कह सकते हैं कि मौलिकता और निरन्तर गतिशीलता की दृष्टि से भारतीय मनीषा अवश्य ही श्रेष्ठतर रही है। दर्शन, विज्ञान और साहित्य—इन तीन मौलिक विचार भूमियों में भारत ने जो बीज बोये हैं, वे अद्यावधि फलप्रसू हैं—कभी भी राजनैतिक उत्थान-पतन, बाह्य-आक्रमण और विपरीतधर्मी जीवनविधि के प्रहार और प्रभाव के कारण शुष्क और व्यर्थ नहीं हुए हैं। मनन-बीजों की यह विलक्षण विशेषता केवल भारत में ही देखी जा सकती है, जहाँ उसकी आधारशिला संस्कृतवाङ्मय अपनी बहुमुखी विचित्रता लिए आज भी ज्ञान का प्रमुख मूलस्रोत बना हुआ है।

धर्म-दर्शन और विज्ञान से दूर, मानव जीवन को भावनात्मक स्वरूप में देखने वाला साहित्य एक अलग महत्त्व रखता है। हमारे कवि एवं नाट्यकार

वास्तविकता की पृष्ठभूमि पर जीवन का भावनात्मक मूल्याङ्कन प्रस्तुत करते आये हैं। स्वभावतः उसमें धर्म, दर्शन, विज्ञान—सभी का समावेश हुआ है। अतः साहित्य ही जीवन को अपनी पूर्णता में प्रस्तुत करने के श्रेय का अधिकारी है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर अन्तहीन कवियों की परम्परा भारत के जीवनबोध को उजागर करती आ रही है। वस्तुतः आधुनिक भारतीय भाषा का साहित्य भी जीवनबोध की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

सर्जनात्मक इस समृद्धि के समान्तराल साहित्य विवेचन की प्रक्रिया भी सुप्राचीन काल में ही प्रारम्भ हुई। साहित्य के तात्त्विक स्वरूप और उत्कर्षा-घायक गुणों का गहराई से निरूपण और विवेचन भारतीय साहित्यशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। काव्य की आत्मा और उसके शरीरभूत शब्द और अर्थ के समग्र प्रपञ्च को विचारसूक्ष्मता के जिस धरातल पर आचार्यों ने प्रतिष्ठा-पित किया, वह अपने आप में एक महनीय उपलब्धि है, जो उनकी प्रतिभा के प्रति नतमस्तक होने को बाध्य करती है।

साहित्य का आधार मानवजीवन है, अतः उसमें संप्रदाय भेद नहीं हो सकता। यही कारण है कि वैदिक, जैन और बौद्ध—तीनों भिन्न धार्मिक संप्रदायों के आचार्यों के साहित्य-विचार में सैद्धान्तिक एकरूपता अनायास दृष्टि-गत होती है। अलग-अलग मकानों के छत पर खड़े मनुष्य जिस प्रकार क्षितिज से उदित होने वाले नवीन सूर्य को देखते हैं, उसी प्रकार इन आचार्यों ने साहित्य को देखा है। इस दर्शन में दृष्टिबिन्दु तो अनेक हैं, पर दर्शनीय एक ही है। बहुमुखी विचारों से परीक्षित संस्कृत के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्त इसीलिए अद्वितीय हैं, अनुपम हैं।

डॉ० कमलेशकुमार जैन मेरे विद्यार्थी हैं। “जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान” शीर्षक ग्रन्थ में डॉ० जैन द्वारा किया गया साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जैन मनीषियों के विचारों का पूर्णाङ्ग आकलन उनके प्रशंसनीय सारस्वत श्रम और निष्ठा का सुफल है और इस दिशा में प्रारम्भिक ग्रन्थ होने के गौरव का अधिकारी है। डॉ० जैन की तत्त्वानुसन्धित्सा उत्तमकोटि की है और उसी का सार्थक प्रयोग करते हुए उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण विषय का गम्भीर विवेचन किया है। उपस्थापन, विवेचन और प्रतिपादन—तीनों दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ सहृदय विद्वानों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा, इसी विश्वास से डॉ० जैन को इस कृति के लिए धन्यवाद देता हुआ इस ग्रन्थ की ओर विद्वानों के दृष्टिपात की कामना करता हूँ।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

रामनवमी : वि० सं० २०४१

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य में लाक्षणिक साहित्य का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उसके अध्ययन के बिना लक्ष्य-ग्रन्थों का ज्ञान अधूरा रहता है। अतः लक्ष्य-ग्रन्थों से पूर्व लक्षण-ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक है। अलंकारशास्त्र लाक्षणिक साहित्य का एक प्रमुख अंग है। अद्यावधि जिन अलंकारशास्त्रों का शोध-दृष्टि से अध्ययन किया गया है, उनमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों की गणना नगण्य रही है, अतः उनकी शोध-खोज आवश्यक है, क्योंकि जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकार विषयक कुछ ग्रन्थरत्न ऐसे हैं, जिनमें उन्होंने अपनी कुछ विशिष्ट मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध “जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान” इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है। इससे सुधी-जनों को जैन-अलंकारिकों की अलंकारशास्त्र विषयक मान्यताओं पर विचार करने का अवसर मिलेगा।

जैनाचार्यों ने जहाँ अलंकारशास्त्र विषयक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, वहीं दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि प्रसिद्ध आलंकारिकों के ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखी हैं तथा भरत, भामह, अभिनवगुप्त आदि महारथियों के मतों का यथेष्ट उल्लेख करते हुए खण्डन-मण्डन भी किया है, जो उनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का परिचायक है। आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन तो विभिन्न अलंकारशास्त्रियों के विचारों का आकर-ग्रन्थ ही है। इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण नाट्य-तत्त्वों का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय ‘जैन-आलंकारिक और अलंकारशास्त्र’ में जैन-आलंकारिकों का ऐतिहासिक क्रम से परिचय है, जिसमें उनके माता-पिता, गुरु, कुल-गोत्र और समय आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनके अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थों की विशेषताएँ तथा उनका सामान्य परिचय दिया गया है। इसमें वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी, अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि के नाम विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। इसके अतिरिक्त उन अलंकार-ग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है, जो अब तक अनुपलब्ध हैं अथवा यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भंडारों में बिखरे पड़े हैं। टीका-ग्रन्थों का बाहुल्य है, अतः उनका भी सामान्य परिचय दे दिया गया है।

द्वितीय अध्याय 'कवि और काव्य' में सर्वप्रथम कवि के स्वरूप पर विचार किया गया है, फिर कवि के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुये विभिन्न आधारों पर काव्य के भेद किये गये हैं। काव्य-भेदों के अन्तर्गत महाकाव्य के स्वरूप के विवेचन के साथ-साथ उसके वर्णनीय विषयों का विस्तृत रूप से उल्लेख है। इसी प्रसंग में काव्य के अन्य भेद—आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिवद्ध (मुक्तक) पर विशेष रूप से विचार किया है। अन्त में ध्वनि के आधार पर मान्य काव्य-भेदों पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय 'रस-विचार' में जैनाचार्यों की रस विषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है। इसमें सर्वप्रथम रस का महत्त्व और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक इस मान्यता की कि 'रस सुख-दुःखात्मक है' की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इसी क्रम में रसों के सभी भेदों पर पृथक्-पृथक् विचार किया है तथा अनुयोगद्वारसूत्रकार द्वारा भयानक रस के स्थान पर मान्य ब्रौडनक-रस का विवेचन किया है। तत्पश्चात् रसों के वर्ण और देवता, रसों का परस्पर सम्बन्ध, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव और स्थायिभावों आदि पर विचार किया है।

चतुर्थ अध्याय 'दोष-गुण विवेचन' में सर्वप्रथम दोष का स्वरूप और अनुयोग-द्वारसूत्रकार द्वारा उल्लिखित बत्तीस दोषों को सलक्षण प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, उभयदोष, अर्थदोष और रसदोषों पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। इसी क्रम में दोष-परिहार का भी उल्लेख है। पुनः काव्य में उपादेय गुण सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए गुण का महत्त्व, गुण का सामान्य स्वरूप और भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा मान्य गुण-भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय 'अलंकार-विवेचन' में सर्वप्रथम अलंकार के सामान्य स्वरूप और उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् शब्द और अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर अलंकार के शब्दालंकार आदि भेदों पर विचार किया है। इसी क्रम में जैनाचार्यों द्वारा मान्य अलंकारों की आचार्य मम्मटादि के साथ तुलना की गई है। अन्त में प्रकृति के आधार पर मान्य अर्थालंकारों के वर्गीकरण का विवेचन है।

षष्ठ अध्याय 'ध्वनि-विचार' में ध्वनि का स्रोत, ध्वनि का स्वरूप तथा वाक्यार्थ से पृथक् प्रतीयमान व्यंग्यार्थ का विविध उदाहरणों द्वारा उल्लेख किया है। तत्पश्चात् ध्वनि-भेदों पर प्रकाश डाला है। आचार्य मम्मटादि के अनुसार

पृथक्-पृथक् ध्वनि-भेदों के स्पष्टीकरण हेतु अन्त में ध्वनि-तालिकाओं का भी समावेश किया गया है ।

सप्तम अध्याय 'नाट्य का समावेश' में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार किया गया है । इसमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों में पाये जाने वाले नाट्य-तत्त्व ही प्रमुख हैं । नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय, नायक-स्वरूप और उसके भेद, नायक के सात्त्विक-गुण, प्रतिनायक-स्वरूप, नायिका-स्वरूप, नायिका-भेद, नायिका के सत्त्वज अलंकार, प्रतिनायिका तथा उपनायकों के अन्तर्गत विदूषक, पोथमर्द, विट, नागरिक और नर्मसचिव का स्वरूप तथा काम की दस अवस्थाएँ इसके विवेच्य विषय हैं । अन्त में रीति का महत्त्व, उसका स्वरूप और भेद तथा नाट्यवृत्तियाँ, शय्या और पाक पर भी संक्षेप में विचार किया गया है ।

अष्टम अध्याय शोध-प्रबन्ध का 'उपसंहार' है, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा अलंकारशास्त्र के विकास और प्रतिष्ठा में किये गये योगदान की चर्चा की गई है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि जैन आलंकारिकों ने अलंकारशास्त्र विषयक प्राचीन मान्यताओं का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया है, किन्तु उनके द्वारा कुछ ऐसे मौलिक चिन्तन-सूत्र भी प्रस्तुत किये गये हैं, जिनका अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

इस ग्रन्थ के पृष्ठ ५७ पर रूपचन्द्रकृत 'रूपकमंजरी' तथा तीन 'रूपकमाला' नाम के ग्रन्थों का उल्लेख अलंकारशास्त्र के अप्रकाशित ग्रन्थों की शृङ्खला में किया गया है, किन्तु स्व० श्री अगरचन्द नाहटा के एक लेख^१ से यह स्पष्ट होता है कि गोपाल के पुत्र रूपचन्द्र ने 'रूपमंजरी नाममाला' नामक ग्रन्थ की रचना की है । ऐसा प्रतीत होता है कि 'रूपकमंजरी' यह नाम किसी ने गलती से लिख दिया है, जिससे इसके अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ होने का सन्देह हो गया । वस्तुतः यह कोशग्रन्थ है, अलंकारग्रन्थ नहीं ।

इसी प्रकार उपाध्याय पुण्यनन्दनकृत 'रूपकमाला' भी अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है । यह 'रूपकमाला' राजस्थानी भाषा में निबद्ध मात्र ३२ पद्यों की एक लघुकृति है, जिसमें शीलधर्म का विवेचन किया गया है तथा इसके लेखक पुण्यनन्दन न होकर पुण्यनंदि हैं ।^२ पार्श्वचन्द्रसूरिकृत द्वितीय 'रूपकमाला' नामक

१. 'क्या रूपकमाला नामक रचनाएँ अलंकारशास्त्र सम्बन्धी हैं ?"—श्री अगरचन्द नाहटा, भ्रमण (मासिक), प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, जनवरी १९७८, पृष्ठ १२-१७ ।

२. वही, पृष्ठ १३

कृति भी राजस्थानी भाषा में निबद्ध ३० पद्यों की रचना है। यह भी अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है।^१ तृतीय 'रूपकमाला' नामक कृति के सन्दर्भ में भी स्व० नाहटा ने अलंकारशास्त्रीय कृति न होने की सम्भावना व्यक्त की है।^२

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा सन् १९७७ में पी-एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोधप्रबन्ध का अविकल मुद्रित रूप है। इसके प्रस्तुतीकरण में मुझे जिन गुरुजनों अथवा विद्वानों का सहयोग मिला है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। सर्वप्रथम मैं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्कालीन अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० मोहनलाल मेहता (प्रोफेसर, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना) एवं श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य (प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) का हृदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन एवं विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से यह शोध-प्रबन्ध अनुप्राणित हुआ है। ग्रन्थ प्रकाशन के इस अवसर पर श्रद्धेय प्रो० भट्टाचार्य ने भूमिका लिखकर भी हमें कृतार्थ किया है। आदरणीय भाई सा० डॉ० कोमल-चन्द्र जैन (प्राध्यापक, पालि एवं बौद्ध-अध्ययन विभाग, का० हि० वि० वि०) का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने हेतु प्रोत्साहित किया है।

मैं संस्कृत विभाग के उन समस्त गुरुजनों का भी ऋणी हूँ, जिनसे यथा-समय शोध विषयक कठिनाइयों के समाधान में सहयोग मिला है। उनमें गुरुवर प्रो० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, डॉ० रामायणप्रसाद द्विवेदी, डॉ० जयशंकरलाल त्रिपाठी एवं डॉ० कमलाप्रसाद सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रद्धेय डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी (प्रोफेसर, साहित्य विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, का० हि० वि० वि०) और पं० मनुदेव भट्टाचार्य (व्याकरण प्राध्यापक, सम्पूर्णनन्द सं० वि० वि०) ने भी मुझे शोध कार्य में सहायता प्रदान की है, अतएव उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

इस प्रसंग में प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनका शुभाशीर्वाद इस कार्य को पूर्ण करने में सतत प्रेरणा-स्रोत रहा है। साथ ही सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (अधिष्ठाता, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी), सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री (निदेशक, श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी), न्यायमनीषी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री (कटनी), प्रो० दलसुखभाई मालवणिया

१. वही, पृष्ठ १४

२. वही, पृष्ठ १४

(अहमदाबाद), प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला (काशी विद्यापीठ), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व जैनदर्शन विभागाध्यक्ष पं० अमृतलाल शास्त्री (जैनदर्शन-प्राध्यापक, जैन विश्व भारती, लाडनू), पं० उदयचन्द्र जैन पूर्वरीडर एवं दर्शन विभागाध्यक्ष, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, का० हि० वि० वि०), डॉ० राजाराम जैन (रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कालेज, आरा) एवं स्व० अगरचन्द्र नाहुटा (बोकानेर) प्रभृति विद्वानों का भी हृदय से आभारी हूँ, जिनके स्नेह एवं शुभाशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका। इस कार्य को पूर्ण करने में जिन मित्रों का सहयोग मिला है, उनमें डॉ० जयकुमार जैन (संस्कृत-प्रवक्ता, एस० डी० पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुजफ्फरनगर) डॉ० कु० मञ्जुला मेहता (पूना) एवं श्री अनुभवदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा शोधवृत्ति, आधुनिक सुविधा सम्पन्न छात्रावास एवं पुस्तकालय सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, इसके लिये विद्याश्रम के संचालकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। केन्द्रीय एवं विभागीय पुस्तकालय का० हि० वि० वि०, श्री गणेश वर्णी दि० जैन शोध संस्थान पुस्तकालय एवं श्री विश्वनाथ पुस्तकालय (गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी) के अधिकारियों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृपा से अनेक ग्रन्थों के अवलोकन तथा उपयोग करने की सुविधा मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी के वर्तमान निदेशक आदरणीय डॉ० सागरमल जैन को है, अतः उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रारम्भिक १६० पृष्ठों का प्रूफ संशोधन डॉ० रविशंकर मिश्र ने किया है और शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में श्री अरुणकुमार जैन (शोध छात्र, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) का सहयोग मिला है, अतः उक्त बन्धुद्वय धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ-मुद्रण का कार्य वर्द्धमान मुद्रणालय ने सम्पन्न किया है, अतः उनके प्रति भी मैं अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

बी २/२४९ निर्वाण भवन

लेन नं० १४, रवीन्द्रपुरी

वाराणसी-२२१००५

श्रुतपञ्चमी : वि० सं० २०४१

कमलेशकुमार जैन

व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्रथम अध्याय : जैन आलंकारिक और अलंकारशास्त्र

१-६१

आर्यरक्षित २, अनुयोगद्वारसूत्र ३, अलंकारदप्पणकार ३, अलंकारदप्पण ४, वाग्भट-प्रथम ५, वाग्भटालंकार ७, आचार्य हेमचन्द्र ८, काव्यानुशासन १०, रामचन्द्र-गुणचन्द्र १२, नाट्यदर्पण १६, नरेन्द्रप्रभसूरि १८, अलंकारमहोदधि २०, अमरचन्द्रसूरि २२, काव्यकल्पलतावृत्ति २५, विनयचन्द्रसूरि २७, काव्यशिक्षा ३०, विजयवर्णी ३१, शृंगारार्णवचन्द्रिका ३३, अजितसेन ३५, अलंकारचिन्तामणि ३७, वाग्भट-द्वितीय ३९, काव्यानुशासन ४१, मंडन-मंत्री ४२, अलंकारमण्डन ४३, भावदेवसूरि ४३, काव्यालंकारसारसंग्रह ४५, पद्मसुन्दरगणि ४५, अकबरसाहि-शृङ्गारदर्पण ४७, सिद्धिचन्द्रगणि ४८, काव्यप्रकाशखण्डन ५० ।

अप्रकाशित (अमुद्रित), अनुपलब्ध एवं टीका-ग्रंथ :

कविशिक्षा ५२, कल्पलता ५२, कल्पलता-पल्लव (संकेत) ५२, कल्पपल्लवशेषविवेक ५२, वाग्भटालंकार-वृत्ति ५३, अलंकारचूडामणि-वृत्ति ५४, काव्यानुशासन-वृत्ति ५४, काव्यानुशासन-अवचूरि ५४, कविशिक्षा ५४, कवितारहस्य ५४, काव्यकल्पलतापरिमल-वृत्ति ५४, काव्यकल्पलतामंजरी-वृत्ति ५५, काव्यकल्पलतावृत्ति मकरन्द-टीका ५५, काव्यकल्पलतावृत्ति टीका ५५, काव्यकल्पलता-वृत्ति बालावबोध ५५, अलंकारप्रबोध ५५, शृंगारमंजरी ५५, काव्यकल्पलतावृत्ति बालावबोध ५६, अलंकारसंग्रह ५६, कविमुखमण्डन ५६, कविमदपरिहार ५६, कविमद-परिहारवृत्ति ५६, मुग्धमेघालंकार ५६, मुग्धमेघालंकार-वृत्ति ५६, काव्यलक्षण ५६, कर्णालंकारमंजरी ५६, प्रक्रान्ता-

लंकारवृत्ति ५६, अलंकारचूर्ण ५७, अलंकारचिन्तामणि-
 वृत्ति ५७, वक्रोक्तिपंचाशिका ५७, रूपकमंजरी ५७,
 रूपकमाला ५७, काव्यादर्श-वृत्ति ५७, काव्यालंकार-वृत्ति
 ५७, काव्यालंकार निबन्धन-वृत्ति ५७, काव्यप्रकाश संकेत-
 वृत्ति ५८, काव्यप्रकाश टीका ५८, सारदीपिका वृत्ति ५८,
 काव्यप्रकाश-वृत्ति (जयानन्दसूरि) ५८, काव्यप्रकाश-वृत्ति
 (यशोविजयगणि) ५८, काव्यप्रकाश गुरु-टीका ५८,
 काव्यप्रकाश टीका (नवमोल्लासस्य) ५९, सरस्वती-
 कण्ठाभरण-वृत्ति (पदप्रकाश) ५९, विदग्धमुखमण्डन-अव-
 चूरि ५९, विदग्धमुखमण्डन टीका ५९, विदग्धमुखमण्डन-
 वृत्ति (विनयसागर) ५९, विदग्धमुखमण्डनवृत्ति (विनयरत्न)
 ५९, विदग्धमुखमण्डन-टीका ५९, विदग्धमुखमण्डन-अवचूरि
 ५९, विदग्धमुखमण्डन टीका ६०, विदग्धमुखमण्डन बालाव-
 बोध ६०, विदग्धमुखमण्डन-दर्पण ६०, अलंकारावचूर्णि
 ६०, अनूपशृंगार ६०, भावशतक ६०, रसमंजरी ६०,
 चतुरप्रिया ६१, पाण्डित्यदर्पण ६१, रसिकप्रिया टीका ६१ ।

द्वितीय अध्याय : कवि और काव्य

६२-९८

कवि ६२, कविभेद ६६, विषय-विवेचन ६६,
 अवस्था ६६, काव्यकला की उपासना ६६, प्रतिभा ६६,
 रचना की मौलिकता ६६, अर्थापहरण ६७, रोचिक ६७,
 वाचिक ६७, आर्थ ६७, शिल्पिक ६७, मार्दवानुग ६७,
 विवेकी ६७, भूषणार्थी ६७, महाकवि ६७, मध्यमकवि
 ६७, अन्यकवि ६७, काव्यप्रयोजन ६८, काव्यहेतु ७२,
 काव्यस्वरूप ७६, काव्यभेद ८१, महाकाव्य ८४, शब्द-
 वैचित्र्य ८५, अर्थवैचित्र्य ८५, उभयवैचित्र्य ८५, राजा के
 वर्णनीय गुण ८७, रानी के वर्णनीय गुण ८७, राजपुरोहित
 के वर्णनीय गुण ८७, राजपुत्र के वर्णनीय गुण ८७,
 राजमन्त्री के वर्णनीय गुण ८७, सेनापति के वर्णनीय
 विषय ८७, देश के वर्णनीय विषय ८७, ग्राम के वर्णनीय
 विषय ८८, नगर के वर्णनीय विषय ८८, सरोवर के
 वर्णनीय विषय ८८, समुद्र के वर्णनीय विषय ८८, नदी के
 वर्णनीय विषय ८८, उद्यान के वर्णनीय विषय ८८, पर्वत
 के वर्णनीय विषय ८८, अरण्य के वर्णनीय विषय ८८,

मन्त्रणा के वर्णनीय विषय ८८, दूत के वर्णनीय विषय ८८, प्रयाण के वर्णनीय विषय ८८, मृगया के वर्णनीय विषय ८९, अश्व के वर्णनीय विषय ८९, हाथी के वर्णनीय विषय ८९, वसन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, ग्रीष्म-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, वर्षा-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, शरद्-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, हेमन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, शिशिर-ऋतु के वर्णनीय विषय ८९, सूर्य के वर्णनीय विषय ८९, चन्द्रमा के वर्णनीय विषय ८९, आश्रम के वर्णनीय विषय ९०, युद्ध के वर्णनीय विषय ९०, जन्मकल्याणक के वर्णनीय विषय ९०, विवाह के वर्णनीय विषय ९०, विरह के वर्णनीय विषय ९०, सुरत के वर्णनीय विषय ९०, स्वयंवर के वर्णनीय विषय ९०, मधुपान के वर्णनीय विषय ९०, पुष्पावचय के वर्णनीय विषय ९०, जलक्रीड़ा के वर्णनीय विषय ९१, आख्यायिका ९१, कथा ९२, आख्यान ९३, निदर्शन ९३, प्रवह्लिका ९३, मतल्लिका ९३, मणिकुल्या ९४, परिकथा ९४, खण्डकथा ९४, सकल-कथा ९४, उपकथा ९४, बृहत्कथा ९४, चम्पू ९५, अनिवद्ध ९५, ध्वनि के आधार पर काव्यभेद ९६ ।

तृतीय अध्याय : रस-विचार

९९-१३९

रसस्वरूप ९९, रसभेद १०४, ऋङ्गाररस १०९, हास्यरस ११२, करुणरस ११३, रोद्ररस ११४, वीररस ११५, भयानकरस ११६, भीमत्सरस ११७, अद्भुतरस ११८, शान्तरस १२०, व्रीडनकरस १२१, रसों के वर्ण और देवता १२२, रसों के वर्ण एवं देवता बोधक-चक्र १२४, रसों का परस्पर सम्बन्ध १२४, अविरोधी रस १२४, विरोधी रस १२५, भाव १२६, विभाव १२६, अनुभाव १२८, वेपथु १२८, स्तम्भ १२८, रोमांच १२९, स्वरभेद १२९, अश्रु १२९, मूर्च्छा १२९, स्वेद १२९, वैवर्ण्य १२९, व्यभिचारिभाव १३०, सात्त्विकभाव १३४, रसाभास-भावाभास १३५, स्थायिभाव १३६, रति १३७, हास १३७, शोक १३७, क्रोध १३७, उत्साह १३७, भय १३७, जुगुप्सा १३७, विस्मय १३७, क्षाम १३७ ।

चतुर्थ अध्याय : दोष-गुण विवेचन

१४०-२०२

दोषस्वरूप १४०, दोषभेद १४२, गूढार्थ १४३,
 अर्थान्तर १४३, अर्थहीन १४३, भिन्नार्थ १४३, एकार्थ
 १४३, अभिप्लुतार्थ १४३, न्यायादपेत १४३, विषम १४३,
 विसन्धि १४३, शब्दच्युत १४३, अलीक १४४, उपघात-
 जनक १४४, निरर्थक १४४, अपार्थक १४४, छल १४४,
 द्रुहिल १४४, निस्सार १४४, अधिक १४४, ऊन १४४,
 पुनरुक्त १४४, व्याहत १४४, अयुक्त १४४, क्रमभिन्न १४४,
 वचनभिन्न १४४, विभक्तिभिन्न १४४, लिङ्गभिन्न १४४,
 अनभिहित १४४, अपद १४५, स्वभावहीन १४५, व्यवहित
 १४५, कालदोष १४५, यतिदोष १४५, छविदोष १४५,
 समयविरुद्ध १४५, वचनमात्र १४५, अर्थापत्तिदोष १४५,
 असमासदोष १४५, उपमादोष १४५, रूपकदोष १४५,
 निर्देशदोष १४५, पदार्थदोष १४५, सन्धिदोष १४५, पददोष
 १४७, अनर्थक १४७, श्रुतिकटु १४७, व्याहतार्थ १४७,
 अलक्षण १४७, स्वसंकेतप्रवृत्तार्थ १४८, अप्रसिद्ध १४८,
 असम्मत १४८, ग्राम्य १४८, निरर्थक १४८, असाधु १४८,
 असमर्थ १४९, श्रुतिकटु १४९, निरर्थक १४९, अवाचक
 १४९, च्युतसंस्कृति १४९, अप्रयुक्त १४९, ग्राम्य १४९,
 अश्लील १४९, नेयार्थ १४९, क्लिष्ट १४९, सन्दिग्ध १४९,
 अनुचितार्थ १४९, अविमृष्टविधेयांश १४९, विरुद्धमतिकृत्
 १४९, अप्रतीत १४९, अपुष्टार्थ १५०, अन्यार्थ १५०,
 गूढार्थ १५०, अप्रयोजक १५०, निहतार्थ १५१, पदांशगतदोष
 १५२, वाक्यदोष १५३, खण्डित १५३, व्यस्तसम्बन्ध १५३,
 असम्मत १५३, अपक्रम १५४, छन्दोभ्रष्ट १५४, रीति-
 भ्रष्ट १५४, यतिभ्रष्ट १५४, असत्क्रिया १५४, विसन्धि
 १५५, न्यूनपदता १५५, अधिकपदता १५६, उक्तपदता
 १५६, अस्थानस्थपदता १५६, पतत्रकर्ष १५६, समाप्त-
 पुनरात् १५६, अविसर्गता १५७, हतवृत्तता १५७, संकीर्णता
 १५७, गमितता १५७, भग्नप्रक्रमता १५७, अनन्वितता
 १५८, रसाद्यनुचिताक्षर १५९, अक्रमता १५९, अर्द्धान्ति-
 रस्थैकपदता १५९, अनिष्टान्यार्थ १५९, अस्थानसमास-
 दुःस्थित १५९, अप्रोक्तवाच्य १६०, त्यक्तप्रसिद्धि १६०,

रसच्युत १६०, अप्रस्तुतार्थ १६१, उभयदोष १६२,
 अप्रयुक्तत्व १६३, शास्त्रमात्रप्रसिद्ध १६३, अश्लीलत्व १६३,
 ब्रीडाभिव्यञ्जक १६३, असमर्थत्व १६४, कल्पितार्थत्व से
 असमर्थता १६४, सन्दिग्ध से असमर्थता १६५, अनुचि-
 तार्थता १६५, श्रुतिकटुता १६६, क्लिष्टता १६६, अवि-
 मृष्टविधेयांश १६६, विरुद्धमतिकृत् १६७, अर्थदोष १६८,
 कष्टार्थता १६९, अपुष्टार्थता १७०, व्याहृतार्थत्व १७०,
 ग्राम्यत्व १७०, अश्लीलता १७०, साकांक्षता १७१,
 सन्दिग्धता १७१, अक्रमत्व १७१, पुनस्त्वत्व १७२,
 भिन्नसहचरत्व १७२, विरुद्धव्यंग्यत्व १७२, प्रसिद्धि-
 विरुद्धत्व १७३, विद्याविरुद्धत्व १७३, त्यक्तपुनरास्तत्व
 १७३, परिवृत्त-नियम १७४, परिवृत्त-अनियम १७४,
 परिवृत्त-सामान्य १७४, परिवृत्त-विशेष १७४, परिवृत्त-
 विधि १७५, परिवृत्त-अनुवाद १७५, अपार्थ १७६, व्यर्थ
 १७६, भिन्नार्थ १७६, परुषार्थ १७६, अलंकारहीनता
 १७६, विरस १७७, अतिमात्र १७७, विसदृश १७७,
 समताहीन और समतासाम्य १७७, रसदोष १७८,
 विभावानुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति १७९, रस
 की पुनः पुनः दीप्ति १७९, अनवसर में रस का विस्तार
 १७९, अनवसर में रस का विच्छेद १७९, अंग का अति-
 विस्तार से वर्णन १८०, अंगी की विस्मृति १८०, अनंग
 का वर्णन १८०, प्रकृतिव्यत्यय १८०, दोषपरिहार १८३,
 गुणविचार १८५, गुणभेद १८९, औदार्य १९०, समता और
 कान्ति १९०, अर्थव्यक्ति १९१, प्रसन्नता १९१, समाधि
 १९१, श्लेष और ओज १९२, माधुर्य और सौकुमार्य १९२,
 माधुर्य १९३, ओजस् १९४, प्रसाद १९५, भाविक १९७,
 सम्मितत्व १९७, गाम्भीर्य १९७, रीति १९७, उक्ति १९८,
 गति १९८, और्जित्य १९८, सौक्ष्म्य १९८, विस्तार १९९,
 सूक्ति १९९, प्रौढ़ि १९९, उदात्तता १९९, प्रेयान् २००,
 संक्षेपक २००, शोभा २०१, अभिमान २०१, प्रतिषेध
 २०१, निरुक्त २०१, युक्ति २०१, कार्य २०१, प्रसिद्धि
 २०१, अक्षरसंहति २०१, मिथ्याध्यवसाय २०१ ।

पञ्चम अध्याय : अलंकार-विवेचन

२०३-२३२

अलंकार : स्वरूप और महत्त्व २०३, अलंकारों के भेद २०५, शब्दालंकार २०६, अर्थालंकार २१२, अलंकारों का वर्गीकरण २२६, वास्तवमूलकवर्ग २२७, औपम्यमूलक-वर्ग २२७, अतिशयमूलकवर्ग २२७, श्लेषमूलकवर्ग २२७, सादृश्यमूलक २२८, विरोधमूलक २२९, शृङ्खलामूलक २२९, न्यायमूलक २२९, गुणार्थप्रतीतिमूलक २२९, अतिशयोक्तिमूलक २३०, विरोधमूलक २३०, शृङ्खलामूलक २३०, विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक २३०, लोकन्याय-मूलक २३०, रसवदादि २३०, प्रतीयमानशृङ्गाररस-भावादिरूप २३१, स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप २३१, अस्फुट-प्रतीयमानवस्तुरूप २३१, प्रतीयमान-औपम्यादिरूप २३१, अध्यवसायमूलक २३१, विरोधमूलक २३१, वाक्यन्याय-मूलक २३१, लोकव्यवहारमूलक २३१, तर्कन्यायमूलक २३१, शृङ्खलावैचित्र्यमूलक २३२, अपह्नवमूलक २३२, विशेषणवैचित्र्यहेतुक २३२ ।

षष्ठ अध्याय : ध्वनि-विचार

२३३-२५२

ध्वनि का स्रोत २३३, ध्वनि-स्वरूप २३५, ध्वनि-वैविध्य २३६, संलक्ष्यक्रमव्यंग्य २४१, शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य २४१, संसर्ग २४२, विप्रयोग २४२, साहचर्य २४२, विरोध २४२, अर्थ २४२, प्रकरण २४२, लिङ्ग २४२, शब्दान्तर-सन्निधि २४२, सामर्थ्य २४२, औचित्य २४२, देश २४२, काल २४३, व्यक्ति २४३, अभिनय २४३, अपदेश २४३, निर्देश २४३, संज्ञा २४३, इंगित २४४, आकार २४४, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य २४५, उभयशक्तिमूलकव्यंग्य २४७, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य २४७, आचार्य हेमचन्द्रकृत ध्वनि-विभाजन २४९, नरेन्द्रप्रभसूरीकृत ध्वनि-विभाजन २५०, मम्मटकृत ध्वनिविभाजन २५१ ।

सप्तम अध्याय : नाट्य का समावेश

२५३-२८४

नाट्य की उत्पत्ति २५३, नाट्यग्रन्थ २५४, दशरूपक २५४, नाटकलक्षणरत्नकोश २५५, नाट्यदर्पण २५५,

नायक २५६, नायक का स्वरूप २५६, नायकभेद २५८,
 नायक के सात्त्विकगुण २६०, शोभा २६०, विलास २६०,
 ललित २६०, माधुर्य २६०, स्थैर्य २६०, गाम्भीर्य २६०,
 औदार्य २६१, तेज २६१, प्रतिनायक २६१, नायिका
 २६२, नायिका-स्वरूप २६२, नायिका-भेद २६३, अनूढा
 २६४, स्वकीया २६४, परकीया २६४, वेश्या २६४, मुग्धा
 २६४, मध्या २६५, प्रगल्भा २६५, धीरामध्या २६५,
 अधीरामध्या २६५, धीराऽधीरामध्या २६५, धीराप्रगल्भा
 २६५, अधीराप्रगल्भा २६५, धीराऽधीराप्रगल्भा २६५,
 स्वाधीनपतिका २६६, प्रोषितभर्तृका २६६, खण्डिता २६६,
 कलहान्तरिता २६७, वासकसज्जा २६७, विरहोत्कण्ठिता
 २६७, विप्रलब्ध २६७, अभिसारिका २६७, नायिका के
 सत्त्वज-अलंकार २६७, हाव-भाव और हेला २६९, लीला
 २६९, विलास २६९, विच्छित्ति २६९, विग्लोक २६९,
 विभ्रम २६९, किलिकिञ्चित् २६९, मोट्टायित २६९,
 कुट्टमित २६९, ललित २६९, विलास २६९, विहृत २६९,
 शोभा-कान्ति और दीप्ति २७०, माधुर्य २७०, धैर्य २७०,
 औदार्य २७०, प्रागल्भ्य २७०, प्रतिनायिका २७१, उप-
 नायक २७१, विदूषक २७२, पीठमर्द २७२, विट २७४,
 नागरिक २७४, नर्मसचिव २७४, काम की अवस्थाएँ
 २७४, नयनप्रीति २७५, मनःसक्ति २७५, संकल्प २७५,
 जागर २७५, तनुता २७५, विषयद्वेष २७५, त्रपानाश
 २७६, मोह २७६, मूर्च्छा २७६, मरण २७६, रीति २७६,
 रीति का महत्त्व २७६, रीति का स्वरूप २७७, रीति के
 भेद २७७, वैदर्भी २७७, गौड़ी २७७, पाञ्चाली २७७,
 लाटी २७७, वैदर्भी २७८, गौड़ी २७८, पाञ्चाली २७८,
 नाट्यवृत्तियाँ २७८, नाट्यवृत्तियों की उत्पत्ति २७८, वृत्ति
 का महत्त्व २७९, वृत्ति का स्वरूप २७९, वृत्ति के भेद
 २८०, कैशिकी २८०, आरभटी २८०, भारती २८०,
 सात्त्वती २८०, रस और वृत्ति २८१, शय्या २८२, पाक
 २८२, पाक का महत्त्व २८२, पाक का स्वरूप २८३, पाक
 के भेद २८३, द्राक्षापाक २८३, नारिकेरपाक २८४ ।

- १८ -

अष्टम अध्याय : उपसंहार

२८५-२९५

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र २८५, कवि २८७,
 काव्य २८७, रस २८८, दोष २८९, गुण २९०, अलंकार
 २९०, छ्वनि २९२, नाट्यतत्त्व २९३, नायक २९४,
 रीति २९४, नाट्यवृत्तियाँ २९४, शय्या २९५, पाक
 २९५।

सहायक ग्रन्थ-सूची :

२९७-३०४

शब्दानुक्रमणिका :

३०५-३५२

जैन-आलंकारिक और अलंकारशास्त्र

संस्कृत अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में जैनधर्म के अनुयायी संस्कृतज्ञों की सेवा एक विशेष महत्त्व रखती है। सम्प्रदायगत भेद के होते हुए भी जैन-आचार्यों ने दर्शनादि दूसरे विषयों के अनुरूप अलंकारशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन में पूर्णरूपेण साधिकार योगदान किया है और उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जिनके मनन के बिना संस्कृत अलंकारशास्त्र की पूर्णता और व्यापकता का ज्ञान सम्भव नहीं है। इन आचार्यों ने प्रतिष्ठित अलंकार सम्बन्धी सिद्धान्तों का मौलिक ढंग से विवेचन किया है और काव्य के सभी उपादानों पर विचार प्रस्तुत किए हैं। अतः संस्कृत अलंकार शास्त्र में जैनाचार्यों की देन महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीनतम आचार्य भरतमुनि के नाट्य सम्प्रदाय, भामह तथा उद्भट के अलंकार सम्प्रदाय दण्डी और वामन के गुण-रीति सम्प्रदाय तथा अन्तिम ध्वनिकार के ध्वनि-सम्प्रदाय-अलंकार-शास्त्र के यहाँ प्रमुख प्रस्थान अर्थात् सम्प्रदाय हैं। यद्यपि जैनाचार्य (आलंकारिकों) ने किसी नये सम्प्रदाय को प्रारम्भ नहीं किया, फिर भी इन सभी सम्प्रदायों की मान्यताओं का पूर्णानुसृत्य उनके ग्रन्थों की अद्वितीय विलक्षणता है। प्रस्तुत प्रथम अध्याय में सभी जैन-आलंकारिकों का कालानुक्रमिक परिचय तथा उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुए हम अलंकारशास्त्र में उनके योगदान की विशेषताओं का आकलन प्रस्तुत करेंगे।

काल की दृष्टि से प्रथम आचार्य आर्यरक्षित ईसा की प्रथम शताब्दी के हैं और अन्तिम आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ईसा की षोडश शती के हैं, इसके अतिरिक्त कई टीकाकार हैं, जिनकी परम्परा अष्टादश शती तक विस्तृत है। इन आचार्यों में आर्यरक्षित विशुद्ध आलंकारिक नहीं हैं, फिर भी उनका समावेश इसलिए किया गया है कि इनका कृति में प्रसंगवश अलंकारशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। प्रसंग के भिन्न होने पर भी उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्य साहित्य के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। अतः उनका विवेचन वांछनीय है। इस परम्परा में दूसरे हैं अलंकार-दप्पण के रचयिता अज्ञातनामा आचार्य। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर भी 'अलंकार-दप्पण' का विशेष महत्त्व है,

क्योंकि इसमें अलंकार सम्बन्धी विचार संस्कृत की ही परम्परा के अनुसार किया गया है और वे विशुद्ध सभी संस्कृत जैन-आलंकारिकों के पूर्वभावी हैं।

प्रथम शती के आर्यरक्षित और एकादश शती के अलंकारदम्पणकार के अनन्तर हम वाग्भट-प्रथम से शुरु होने वाले जैन आलंकारिकों की परम्परा में प्रवेश करते हैं। यह परम्परा द्वादश शताब्दी से अविच्छिन्न चलती है।

परिचयात्मक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह उल्लेखनीय है कि धर्म की दृष्टि से सम्प्रदाय-भेद के होते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार सम्प्रदाय के अधिकारी प्रवक्ता हैं और सबने अलंकार-शास्त्र के सभी प्रतिपाद्य तत्त्वों पर गम्भीर तथा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुये संस्कृत अलंकार-साहित्य को परिपुष्ट किया है।

आर्यरक्षित :

आर्यरक्षित की गणना एक विशिष्ट युग प्रधान आचार्य के रूप में की जाती है। इनका जन्म वीर-निर्वाण सम्वत् ५२२ में, दीक्षा (२२ वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण सम्वत् ५४४ (ई० सन् १७) में, युगप्रधान पद (६२ वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) में तथा स्वर्गवास (७५ वर्ष की आयु में) वीर निर्वाण सम्वत् ५९७ (ई० सन् ७०) में माना जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) में हुआ था।^१

इनके पिता का नाम सोमदेव था, जो मालवान्तर्गत दशपुर (मन्दसौर) के राजा उदयन के पुरोहित थे तथा माता का नाम रुद्रसोमा था। आर्यरक्षित अल्पायु में ही वेद-वेदांगों का अध्ययन करने के लिये पाटलिपुत्र चले गये थे। अध्ययन करने के पश्चात् जब वे घर लौटे तब दशपुर के राजा और नगर-वासियों ने प्रसन्न होकर बड़ी धूमधाम से उन्हें नगर प्रवेश कराया। तत्पश्चात् दिन के अन्तिम प्रहर में घर पहुँचकर उन्होंने अपनी माता को प्रणाम किया। माता रुद्रसोमा जैन धर्म की उपासिका थीं, अतः वेद-वेदांगों के अध्ययन से वह अत्यधिक प्रसन्न नहीं हुई। कारण ज्ञात कर आर्यरक्षित दूसरे दिन प्रातःकाल ही जैनाचार्य तोसलीपुत्र के पास अध्ययन करने के लिए गये। वहाँ यह जानकर कि दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन-दीक्षा अनिवार्य है, अतः

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० ५६०।

उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् वे आगे अध्ययन के लिए उज्जयिनी नगरी में वज्रस्वामी के पास गये। वहाँ जब उन्होंने नौ पूर्वों का अध्ययन कर दशम पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया, तभी उनके माता-पिता ने पुत्र-वियोग से चिन्तित होकर अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को उन्हें बुला लाने के लिए भेजा। फल्गुरक्षित ने वहाँ पहुँचकर आर्यरक्षित से दशपुर लौटने का आग्रह किया। वहाँ उन्होंने अपने लघु भ्राता फल्गुरक्षित को जैनधर्म में दीक्षित किया और वज्रस्वामी से आज्ञा लेकर दशपुर की ओर प्रस्थान किया। दशपुर पहुँचकर उन्होंने अपने माता-पिता तथा परिजनों को प्रबुद्ध कर श्रमण-धर्म की दीक्षा दी। पुनः वे नव-दीक्षित मुनियों को लेकर अपने गुरु तोसली-पुत्र के पास गये। गुरु तोसली पुत्र ने सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया।^१

अनुयोगद्वार-सूत्र :

जैन-परम्परा में आगम साहित्य का विशेष महत्त्व है। यह आगम साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के रूप में दो प्रकार का है। अंग-बाह्य आगमों में एक है अनुयोगद्वार सूत्र, जो प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। इसे चूलिका-सूत्र भी कहते हैं।

अनुयोगद्वार-सूत्र में अनुयोग के चार द्वार—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय पर विचार किया गया है। उपक्रम के द्वितीय भेद नाम निरूपण के प्रसंग में एक-नाम, द्विनाम, त्रिनाम आदि क्रमशः दस नामों तक उतनी-उतनी संख्या वाले विषयों का प्रतिपादन है। नौ नामों के अन्तर्गत रसों का विवेचन किया गया है। रसों के नाम हैं—त्रीर, शृङ्गार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त।

इसी प्रकार अनुगम के अन्तर्गत अलीक, उपघातजनक, निरर्थक, छल आदि बत्तीस दोषों का उल्लेख किया गया है।

अलंकार-दप्पणकार :

अलंकार-दप्पण के लेखक का नाम अज्ञात है। तथापि इसके प्रारम्भिक

१. प्रभावकचरित-आर्यरक्षितचरित, पृ० ६-१८।

आर्यरक्षित का जीवन चरित प्रभावकचरित के पूर्व रचित ग्रन्थों-आवश्यक चूर्णि और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति आदि में भी पाया जाता है।

मंगलाचरण^१ में लेखक ने श्रुत देवता को नमस्कार किया है, अतः इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना किसी जैनधार्मिक ने की होगी।^२ श्री अगरचन्द जी नाहटा के एक लेख^३ से ज्ञात होता है कि जैसलमेर के बृहद् ज्ञान भण्डार की ताड़पत्रीय प्रति में 'अलंकार दप्पण' के अतिरिक्त काव्यादर्श और उद्भटालंकार लघु-वृत्ति भी लिखी है, काव्यादर्श के अन्त में प्रति का लेखन-काल 'सम्बत् ११६१ भाद्रपदे' लिखा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना सम्बत् ११६१ के पूर्व की होगी। उक्त श्रीयुत नाहटा जी ने भँवरलाल नाहटा के अलंकारदप्पण के अनुवाद के प्रारम्भ में (भूमिका स्वरूप) प्रस्तुत ग्रन्थ के अलंकार सम्बन्धी विवरण को ध्यान में रखते हुए इसका निर्माण काल ऋषी से ११वीं शताब्दी माना है।^४ जैनधार्मिक-प्रणीत संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रायः सभी अलंकारशास्त्र सम्बत् ११६१ के पश्चात् रचे गये हैं। अतः पूर्ववर्ती होने से 'अलंकारदप्पण' की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

अलंकार-दप्पण :

प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध एक मात्र कृति है। इसमें केवल १३४ गाथाएँ हैं। जिनका सीधा सम्बन्ध अलंकारों से है। इसमें कुछ ऐसे नवीन अलंकारों का समावेश किया गया है, जो इसके पूर्व रचित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि इस ग्रन्थ में निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलंकार अन्य लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं, या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण

१. सुंदरपथ विष्णुणां विमलालंकाररेहिअसरीरं ।

सुहदेविअं च कव्वं च पणविअ पवरवण्डडं ॥ १ ॥

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ६६ ।

३. 'प्राकृत भाषा का एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार दर्पण'

—गुरुदेव श्रीरत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३६४-३६८ ।

४. 'प्राकृत भाषा का एक मात्र अलंकारशास्त्र : अलंकारदप्पण'

—मरुवरकेशरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित, चतुर्थ खण्ड, पृ० ४२६ ।

हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता^१। फिर भी उपमा आदि के महत्त्वपूर्ण विवेचन से प्रस्तुत ग्रन्थ की मौलिकता अंधुण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मंगलावरण करने के पश्चात् सर्वप्रथम अलंकारों की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पुनः उपमा, रूपक, दीपक, रोघ, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय (उद्धर्त, परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर), बहुश्लेष, व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, संसिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शना, उपेक्षावयव, उद्भिद्, वलित, अभेदवलित, और यमक इन ४० अलंकारों का नामोल्लेख किया है। तत्पश्चात् इन्हीं अलंकारों के सभेद लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर विषय-विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार ने उपमा के १७ भेद किए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—प्रतिवस्तूपमा, गुणकलिता, उपमा, असमा-उपमा, मालोपमा, विगुणरूपा-उपमा, सम्पूर्णा-उपमा, गूढा-उपमा, निन्दाप्रशंसोपमा, ललितप्सा-उपमा, निन्दोपमा, अतिशयिता-उपमा, श्रुतिमिलितोपमा, विकल्पिकोपमा (एकत्र विकल्पिकोपमा और बहुधा विकल्पिकोपमा)। इसमें किसी-किसी अलंकार का मात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

वाग्भट-प्रथम :

वाग्भटालंकार के यशस्वी प्रणेता वाग्भट-प्रथम और आचार्य हेमचन्द्र ये दोनों समकालीन आचार्य होते हुए भी काल की दृष्टि से वाग्भट-प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट-प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, इसलिए कुछ विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व में स्थान दिया है और वाग्भट-प्रथम को पश्चात् में^२। काव्यानुशासन के रचयिता

१. अलंकारदण्ड-भूमिका।

—मरूवर केशरी मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्थ-खण्ड, पृ० ४२६।

२. द्रष्टव्य—संस्कृत साहित्य का इतिहास—अनु० मंगलदेव शास्त्री, पृ० ४६८।

,, अलंकार धारणा: विकास और विश्लेषण; पृ० २२४ एवं पृ० २२६।

वाग्भट को अभिनव-वाग्भट अथवा वाग्भट-द्वितीय के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने नेमिनिर्वाण-काव्य के कर्त्ता वाग्भट को वाग्भट-प्रथम कहा है^१। किन्तु आधुनिक विद्वान् सामान्यतः वाग्भटालंकार के कर्त्ता को वाग्भट-प्रथम और काव्यानुशासन के कर्त्ता को वाग्भट-द्वितीय मानते हैं^२।

आचार्य वाग्भट का प्राकृत नाम बाहड तथा पिता का नाम सोम था^३। यह एक कुशल कवि और किसी (जयसिंह राजा के) राज्य के महामात्य थे^४। प्रभावक-चरित में बाहड के स्थान पर थाहड का प्रयोग किया गया है^५। इनको प्रभावक चरित के अन्य कई स्थलों पर भी थाहड नाम से अभिहित किया गया है। वाग्भट प्रथम धनवान् और उच्चकोटि के श्रावक थे, एक बार इन्होंने गुरुचरणों में निवेदन किया कि मुझे किसी प्रशंसनीय कार्य में धन-व्यय करने की आज्ञा दीजिए। उसके उत्तर में गुरुदेव ने जिनमंदिर बनवाने में व्यय किए गए धन को सफलीभूत बतलाया था, तदनन्तर गुरु के आदेशानुसार वाग्भट ने एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था, जो हिमालय के सदृश श्वेत, उत्तुंग और बहुमूल्य मणिओं वाले कलश से सुशोभित था। उसमें विराजमान वर्षमान-

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड चतुर्थ, पृ० २२।

२. वाग्भट-विवेचन-आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ० २८२।

३. वंभण्डसुत्तिसंपुड-मुक्तिअ-मणिणोपहासमूह व्व।

सिरि बाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्य सोमस्य ॥

—वाग्भटालंकार, ४।१४८।

४. वंभण्डसुत्तिसंपुड—इत्यादि पद्य की उत्थानिका में लिखा है—इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटामिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथेकया निदर्शयति।—सिंहदेवगणि टीका—वाग्भटालंकार, ४।१४८; आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट को जयसिंह का अमात्य कहा है।

—द्वयाश्रय महाकाव्य, २०।११-१२।

५. अथासित थाहडो नाम धनवान् धामिकाग्रणीः।

गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ ॥

वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।

श्री वीरस्य प्रतिष्ठां सा थाहडोऽकारयन्मुदा ॥

—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित ६७, ७३।

(महावीर) स्वामी की प्रतिमा अद्भुत शोभा से युक्त थी, जिसके तेज से चन्द्र-कान्त और सूर्यकान्त मणि की प्रभा फीकी पड़ गई^१ थी ।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने समुच्चयालंकार के उदाहरण में निम्न तीन रत्नों का उल्लेख किया है—(१) अणहिल्लपाटनपुर नामक नगर, (२) राजा कर्णदेव के सुपुत्र-राजा जयसिंह और (३) श्रीकलश नामक हाथी^२ । इससे यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य वाग्भट-प्रथम चालुक्यवंशीय कर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह के समकालीन थे । राजा जयसिंह का राज्य काल वि० सं० ११५० से ११६६ (१०६३ ई० से ११४३ ई०) तक माना जाता है^३ । अतः वाग्भट-प्रथम का भी यही काल प्रतीत होता है । इसकी पुष्टि प्रभावक-चरित के इस कथन से भी होती है कि वि० सं० ११७८ में मुनिचन्द्रसूरि के समाधिमरण होने के एक वर्ष पश्चात् देवसूरि के द्वारा थाहड (वाग्भट) ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई^४ । तात्पर्य यह कि उस समय वाग्भट विद्यमान थे । अतः वाग्भट का समय उक्त राजा जयसिंह का ही काल युक्तियुक्त मालूम होता है । अब तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार उनका एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ वाग्भटालंकार ही प्राप्त है ।

वाग्भटालंकार :

वाग्भटालंकार एक बहुचर्चित कृति है । इसकी संस्कृत टीकाएँ जैन विद्वानों

१. प्रभावक चरित-वादिदेवसूरि चरित, ६७-७० ।
२. अणहिल्लपाटलं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।
श्रीकलशनामधेयः करी च जगतीह रत्नानि ॥—वाग्भटालंकार, ४।१३२।
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२८ ।
गणेश त्र्यंबक देशपांडे ने वाग्भट का लेखन काल ख्रि० ११२२ से ११५६ माना है ।
—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १३५ ।
४. शतेकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः ।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूर्यः ॥
आराधनाविधिश्चेष्टं कृत्वा प्रायोपवेशनम् ।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः ।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स थाहडो कारयन्मुदा ॥
—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित, ७१-७३ ।

के अतिरिक्त जैनतर विद्वानों द्वारा भी लिखी गई हैं। वाग्भटालंकार पर लिखी गई उपलब्ध एवं अनुपलब्ध कुल टीकाओं की संख्या लगभग १७ है। इतनी अधिक टीकाओं से ही इस ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध हो जाती है कि यह कितना लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है।

वाग्भटालंकार को ५ परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद में मंगलाचरण के पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य में अर्थ-स्फूर्ति के पांच हेतु-मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभातवेला, काव्य-रचना में अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन आदि का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् कवि-समय का वर्णन किया गया है, इसके अन्तर्गत लोकों और दिशाओं की संख्या निर्धारण, यमक, श्लेष और चित्रालंकार में व और व, ड और ल आदि में अभेद, चित्रबन्ध के अनुस्वार और विसर्ग की छूट आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम काव्य-शरीर का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि संस्कृत, प्राकृत, उस (संस्कृत) का अपभ्रंश और पैंशाची ये चारों भाषाएँ काव्य का अंग होती हैं। काव्य के भेद, काव्य-दोष और उसके भेदों का अन्त में विवेचन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में औदार्य, समता आदि दस गुणों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है। कुछ गुणों का लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में दिया गया है। यद्यपि वाग्भटालंकार में सर्वत्र पद्यों का प्रयोग किया गया है, किन्तु ओजगुण का उदाहरण गद्य में प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ परिच्छेद में सर्वप्रथम अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। पुनः चित्रादि चार शब्दालंकारों और जाति आदि पैंतीस अर्थालंकारों का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया गया है। इसके साथ ही यत्र-तत्र अलंकारों के भेदोपभेदों का भी सोदाहरण वर्णन किया है। तत्पश्चात् गौडीया और वैदर्भी इन दो रीतियों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

पंचम एवं अन्तिम परिच्छेद में रस-स्वरूप, सभेद शृङ्गारादि नौ रस और उनके स्थायी भाव, अनुभाव तथा भेदों का निरूपण किया गया है। प्रसंगवशात् बीच में नायक के चार भेद और उनका स्वरूप, नायिका के चार भेद और उनका स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र :

। आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। उनकी साहित्य

साधना अत्यन्त विशाल और व्यापक है। जीवन को संस्कृत संवर्द्धित और संचालित करने वाले जितने पहलू हैं, उन सब पर उन्होंने अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाई है। उनकी साहित्य सेवा को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' जैसी उपाधि से विभूषित किया है^१।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम सं० ११४५ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि को घुघुका नामक नगर (गुजरात) के मोढ वंश में हुआ था। उनका बाल्यावस्था का नाम चांगदेव था तथा उनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था^२। 'होनहार विरवानं के होत चीकने पात' के अनुसार बालक चांगदेव का धीरे-धीरे विकास होने लगा। उसे बचपन से ही धर्म गुरुओं के संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः उन्होंने आठ वर्ष की अल्पायु में ही अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से दीक्षा ग्रहण कर ली थी^३। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया^४।

सोमचन्द्र ने थोड़े ही समय में तर्क-साहित्य आदि सभी विद्याओं में अनन्य प्रवीणता प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् उन्होंने अपने गुरु के साथ विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया और अपने शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान में काफी वृद्धि की^५। विक्रम संवत् ११६६ में २१ वर्ष की अल्पायु में ही मुनि सोमचन्द्र को उनके गुरु ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके हेमचन्द्र नाम दिया^६। जिसके कारण उन्होंने

१. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (एम० विन्टरनिट्स) वाल्यूम सेकेण्ड, पृ० २८२।

२. (क) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० २३४।

(ख) अर्द्धाष्टमनामनि देशे घुघुकाभिधाने नगरे श्रीमन्मोढवंशे चाचिगनामा व्यवहारी सतीजनमतल्लिका जिनशासनशासनदेवीव तत्सधर्मचारिणी शरीरिणीव श्रीः पाहिणीनाम्नी चामुण्डागोत्रजाया आद्याक्षरेणांकितनामा तयोः पुत्रश्चांगदेवोऽभूत्। —प्रबन्धचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

३. प्रबन्धचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

४. प्रभावकचरित-हेमचन्द्रसूरिचरित, श्लोक ३४।

५. काव्यानुशासन-हेमचन्द्र, प्रो० पारीख की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २६६।

६. कुमारपाल प्रतिबोध-हेमचन्द्रजन्मादिवर्णन, पृ० २१।

आचार्य हेमचन्द्र के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनकी मृत्यु वि० सं० १२२६ में हुई थी^१।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि विविध विषयों पर सफलता-पूर्वक साहित्य सृजन किया है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्रयाश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, द्वात्रिंशिकाएँ, अभिधान-चिन्तामणि तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ये उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र एक साथ कवि, कथाकार, इतिहासकार, एवं आलोचक थे। वे सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रख्यात हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् डा० पिटर्स ने उनके विद्वतापूर्ण ग्रन्थों को देखकर उन्हें 'ज्ञान-महोदधि'^२ जैसी उपाधि से अलंकृत किया है।

काव्यानुशासन :

काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र का अलंकार विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० सं० ११६६ के लगभग हुई है^३। इसमें सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। काव्य प्रकाश के पश्चात् रचे गये प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनव भारती, काव्य-मीमांसा और काव्य-प्रकाश से लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। जिससे कुछ विद्वान् इसे संग्रह ग्रन्थ की कोटि में मानते हैं, किन्तु उनकी कुछ नवीन मान्यताओं का प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचन मिलता है। आचार्य मम्मट ने कुल ६७ अलंकारों का उल्लेख किया है, किन्तु हेमचन्द्र ने मात्र २६ अलंकारों का उल्लेख कर शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है। मम्मट ने जिस अलंकार को अप्रस्तुतप्रशंसा नाम दिया है, उसे हेमचन्द्र ने "अन्योक्ति" नाम से अभिहित किया है। मम्मट काव्य प्रकाश को १० उल्लासों में विभक्त करके भी उतना विषय नहीं दे पाये हैं, जितना हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के केवल ८ अध्यायों में प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही हेमचन्द्र ने अलंकार-शास्त्र में सर्वप्रथम नाट्य विषयक तत्त्वों का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने भी किया है।

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७६।

२. हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, पृ० ४।

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १००।

काव्यानुशासन में तीन भाग पाये जाते हैं—(१) सूत्र, (२) अलंकार-चूड़ामणि नामक वृत्ति और (३) विवेक नामक टीका । इन तीनों के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ही हैं । यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है ।

प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य-लक्षण, गुण-दोष का सामान्य लक्षण, अलंकार का सामान्य लक्षण, अलंकारों के ग्रहण और त्याग का नियम, शब्दार्थ-स्वरूप, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का स्वरूप, शब्द-शक्तिमूलक-व्यंग्य में नानार्थ निबन्धन, अर्थशक्तिमूलक-व्यंग्य के वस्तु और अलंकार इन दो भेदों तथा इसके पद वाक्य और प्रबन्ध के अनेक भेदों का विवेचन किया गया है । साथ ही अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के स्वतः संभवी, कविप्रोढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरीर, इन अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रोढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरीर इन भेदों के कथन को अनुचित बताया गया है ।

द्वितीय अध्याय में रस-स्वरूप, रस के भेद-प्रभेद तथा उनका सोदाहरण लक्षण-निरूपण, स्थायिभाव और व्यभिचारिभावों की गणना एवं उनका सोदाहरण लक्षण, आठ सात्त्विक-भावों की गणना तथा काव्यभेदों का विवेचन किया गया है ।

तृतीय अध्याय में दोष का विशेष लक्षण, आठ रसदोषों, १३ वाक्यदोषों और उभय, (पद-वाक्य) दोषों तथा अर्थदोषों का सोदाहरण विवेचन किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में माधुर्य, प्रसाद और ओज इन तीन गुणों के सभेद लक्षण और उदाहरण तथा तत्-तत् गुणों में आवश्यक वर्णों का गुम्फन किया है ।

पंचम अध्याय में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकारों के सभेद लक्षण और उदाहरणों का विवेचन किया गया है ।

षष्ठ अध्याय में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति) व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारण-माला और शंकर, इन २६ अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है ।

सप्तम अध्याय में नायक का स्वरूप, उसके आठ सात्त्विकगुणों का सोदाहरण लक्षण, नायक के चार भेद, उनका सोदाहरण स्वरूप, नायक के अवस्था भेद और उनका सोदाहरण लक्षण, प्रतिनायक, नायिका-भेद, उसकी स्वाधीन-

पतिका आदि आठ अवस्थाओं का सोदाहरण वर्णन तथा स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलंकारों का सलक्षण-सोदाहरण विवेचन किया गया है ।

अष्टम अध्याय में प्रबंधकाव्य के दो भेद—दृश्य और श्रव्य, पुनः दृश्य के दो भेद—पाठ्य और गेय, तत्पश्चात् पाठ्य के नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक आदि भेदों का लक्षण दिया गया है । इसी शृङ्खला में गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य का लक्षण दिया गया है । तदनन्तर महाकाव्य, आख्यायिका, कथाआख्यान, निदर्शन प्रवृत्तिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा, वृहत्कथा तथा चम्पू इन श्रव्य काव्यों का सलक्षण विवेचन किया गया है । अन्त में मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और कोश का सलक्षण विवेचन है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र :

रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाम प्रायः साथ-साथ लिया जाता है । इन विद्वानों के माता-पिता और वंश इत्यादि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है । अतः इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनों विद्वान् सतीर्थ्य के थे । आचार्य रामचन्द्र ने अपने अनेक ग्रन्थों में अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है^१ । ये उनके पट्टधर शिष्य थे । एक बार तत्कालीन गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि आपके पट्ट के योग्य

१. शब्द-प्रमाण-साहित्य छन्दोलम्भविधायिनाम् ।

श्री हेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः ॥

—हिन्दी नाट्य-दर्पण विवृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति, पृष्ठ १ ।

सूत्रधार-दत्तः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासाभिधानमाद्यं रूपकमभितेनुमादेशः ।

—नलविलास, पृ० १ ।

श्रीमदाचार्यश्रीहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवेः रामचन्द्रस्य भूयांसः प्रवन्धाः ।

—निर्भयभीम व्यायोग पृ० १ ।

गुणवान् शिष्य कौन है^१ ? इसके उत्तर में हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का नाम लिया था^२ ।

रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा एवं कवि-कर्म कुशलता के कारण 'कविकटारमल्ल' की सम्मानित उपाधि से अलंकृत थे । यह उपाधि उन्हें सिद्धराज जयसिंह ने प्रसन्न होकर प्रदान की थी । इसका उल्लेख रत्नमंदिर-गणि-गुम्फित उपदेशतरंगिणी में इस प्रकार मिलता है^३ कि एक बार जयसिंहदेव ग्रीष्म-ऋतु में क्रीडोद्यान जा रहे थे, उसी समय मार्ग में रामचन्द्र मिल गये । उन्होंने रामचन्द्र से पूछा कि, ग्रीष्म-ऋतु में दिन बड़े क्यों होते हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने (तत्काल पद्य-रचना करके) निम्न पद्य कहा—

देव श्रीगिरिवुर्गमल्ल भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्धीरतुरंगनिष्ठुरखुरधुण्णक्षमामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजो मिलत्सुरसरित्संजातपंकस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनाति वृद्धं दिनम् ॥

यह सुनकर सिद्धराज द्वारा पुनः 'तत्काल पत्तन-नगर का वर्णन करो' यह कहे जाने पर उन्होंने निम्न पद्य की रचना की—

एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यता निर्जिता,
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।
कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सूय वाहावलीं—
तन्त्रीकां गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बीं निजां कच्छप्रीम् ॥

१. राज्ञा श्रीसिद्धराजेनान्यदा नुयुयुजे प्रभुः ।

भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः ॥

—प्रभावकचरित-हेमसूरिप्रबन्ध, पद्य १२६ ।

२. आह श्रीहेमचन्द्रस्य न कोऽप्येवं हि चिन्तकः ।

आद्योप्यभूदिलापालः सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमाः ॥

सज्ज्ञानमहिमस्थैर्य मुनीनां किं न जायते ।

कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥

अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ।

प्रातरैखः प्रातरूपः संघे विश्वकलानिधिः ॥ —वही, १३१-१३३ ।

३. द्रष्टव्य—उपदेशतरंगिणी, पृ० ६३ ।

तदनन्तर सिद्धराज ने प्रसन्न होकर सबके सामने 'कविकटारमल्ल' की उपाधि प्रदान की थी ।

महाकवि रामचन्द्र समस्यापूर्ति करने में भी चतुर थे । एक बार वाराणसी से विश्वेश्वर कवि पत्तन नामक नगर आये तथा वे आचार्य हेमचन्द्र की सभा में गए । वहां राजा कुमारपाल भी विद्यमान थे । विश्वेश्वर ने कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए कहा—'पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्रहन्' चूंकि राजा जैन थे, अतः उन्हें कृष्ण द्वारा अपनी रक्षा की बात अच्छी नहीं लगी । अतः उन्होंने क्रोध भरी दृष्टि से देखा । तभी रामचन्द्र ने उक्त श्लोकार्थ की पूर्ति के रूप में "षड्दर्शनपशुग्रामं चारयत् जैन गोचरे" यह कहकर राजा को प्रसन्न कर दिया^१ ।

आचार्य रामचन्द्र की विद्वता का परिचय उनकी स्वलिखित कृतियों में भी मिलता है । रघुविलास में उन्होंने अपने को "विद्यात्रयीचणम्" कहा है^२ । इसी प्रकार नाट्यदर्पण-विवृति की प्रारम्भिक प्रशस्ति में "त्रैविद्यवेदिनः" तथा अंतिम प्रशस्ति में व्याकरण-न्याय और साहित्य का ज्ञाता कहा है^३ ।

प्रारम्भ में कहे गये प्रभावकचरित और उपदेशतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह समकालीन थे तथा उस समय तक रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे । सिद्धराज जयसिंह ने सं० ११५० से सं० ११६६ (ई० सन् १०६३-११४२) पर्यन्त राज्य किया था^४ । मालवा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सिद्धराज का स्वागत समारोह ई० सन् ११६६ (वि० सं० ११६३) में हुआ

१. प्रबन्ध-चिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध पृ० ८६ ।

२. पंचप्रबन्धमिषपंचमुखानकेन विद्वन्मनः सदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।
विद्यात्रयीषणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ॥

—नलविलासनाटक—प्रस्तावना, पृ० ३३ ।

३. प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।

त्रैविद्यवेदितोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥ —प्रारम्भिक प्रशस्ति, ६ ।

शब्दलक्ष्म-प्रभालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः ।

वाग्विलासस्त्रिमार्गो नो प्रवाह इव जाह्नवः ॥ —अंतिम प्रशस्ति, ४ ।

४. प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ७६ ।

था, तभी हेमचन्द्र का सिद्धराज से प्रथम परिचय हुआ था^१। सिद्धराज की मृत्यु सं० ११६६ में हुयी थी^२। इस बीच रामचन्द्र का परिचय सिद्धराज से हो चुका था तथा प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने सं० ११६६ से १२३०^३ तथा उसके भी उत्तराधिकारी अजयदेव ने सं० १२३० से १२३३^४ तक गुर्जर भूमि पर राज्य किया था। इसी अजयदेव के शासन काल में रामचन्द्र को राजाज्ञा द्वारा तप्त ताम्र-पट्टिका पर बैठाकर मारा गया था^५।

उपयुक्त विवेचन से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र का साहित्यिक-काल वि० सं० ११६३ से १२३३ के मध्य रहा होगा।

महाकवि रामचन्द्र प्रबन्ध-शतकर्ता के नाम से विख्यात हैं। इसके संबंध में विद्वानों ने दो प्रकार से विचार अभिव्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान् प्रबन्धशतकर्ता का अर्थ “प्रबन्धशत” नामक ग्रन्थ के प्रणेता ऐसा करते हैं। दूसरे विद्वान् इसका अर्थ “सौ ग्रन्थों के प्रणेता” के रूप में स्वीकार करते हैं। डा० के० एच० त्रिवेदी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र सौ प्रबन्धों के प्रणेता थे^६। यह मत अधिक मान्य है, क्योंकि ऐसे विलक्षण एवं प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् के लिए यह असम्भव भी प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने अपने नाट्य दर्पण में स्वरचित ११ रूपकों का उल्लेख किया है। इसकी सूचना प्रायः “अस्मदुपज्ञे—” इत्यादि पदों से दी गई है। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—(१) सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, (२) नलविलास-नाटक, (३) रघु-विलास-नाटक, (४) यादवाम्युदय, (५) राघवाम्युदय, (६) रोहिणीमृगांक-प्रकरण, (७) निर्भयभीम-व्यायोग, (८) कौमुदीमित्राणन्द-प्रकरण, (९) सुधा-

१. हिन्दी नाट्य-दर्पण, भूमिका, पृ० ३।

२. द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।

एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिवं गते ॥

—प्रभावकचरित-हेमसूरिचरित, पृ० १६७।

३. प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ६५।

४. वही, पृ० ६७।

५. प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ६७।

६. दी नाट्य दर्पण आफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र : एक क्रिटिकल स्टडी, पृ० २१६-२०।

कलश, (१०) मल्लिकामकरन्द-प्रकरण और (११) वनमाला-नाटिका । कुमार बिहार शतक, द्रव्यालंकार और यदुविलास ये उनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं । एतदतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे स्तव भी पाये जाते हैं । इस प्रकार उनके उपलब्ध ग्रन्थों की कुल संख्या डा० के० एच० त्रिवेदी ने ४७ स्पीकार की है ।^१

नाट्य-दर्पण :

यह नाट्य विषयक प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रन्थ है । इसमें महाकवि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक नवीन तथ्यों का समावेश किया है । आचार्य भरत से लेकर धनंजय तक चली आ रही नाट्यशास्त्र की अधुण परम्परा का युक्ति-पूर्ण विवेचन करते हुए आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्वाचार्य स्वीकृत नाटिका के साथ प्रकरणिका नाम की एक नवीन विधा का संयोजन कर द्वादश-रूपकों की स्थापना की है । इसी प्रकार रस की सुख-दुःखात्मकता स्वीकार करना इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है^२ । नाट्य दर्पण में नौ रसों के अतिरिक्त तृष्णा, आर्द्रता, आसक्ति, अरति और संतोष को स्थायीभाव मानकर क्रमशः लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख और सुख-रस की भी सम्भावना की गई है^३ । इसमें शान्त-रस का स्थायीभाव शम स्वीकार किया गया है । प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो अद्यावधि अनुपलब्ध हैं । कारिका रूप में निबद्ध किसी भी गूढ़ विषय को अपनी स्वोपज्ञ विवृति में इतने स्पष्ट और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है कि साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को भी विषय समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता है । इसीलिए इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—कि नाट्य विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है । यह वह शृङ्खला है जो धनंजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोड़ती है । इसमें अनेक विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तों से

१. वही, पृ० २२१-२२२ । नलविलास के संपा० जी० के० गोन्डेकर एवं नाट्यदर्पण के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त ग्रंथों की भूमिका में रामचन्द्र के ज्ञात ग्रन्थों की कुल संख्या ३६ मानी है ।

२. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः ।

स्पष्टानुभावनिश्चयः सुखदुःखात्मको रसः ॥

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७ ।

३. वही, पृ० ३०६ ।

विलक्षण हैं, जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप^१ । इसके अतिरिक्त आचार्य उपाध्याय ने प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण इसका ऐतिहासिक मूल्य भी स्वीकार किया है^२ । इन सब विशेषताओं के कारण नाट्यदर्पण अनुपम एवं उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो भाग पाये जाते हैं—प्रथम कारिकावद्ध मूलग्रन्थ और द्वितीय उसके ऊपर लिखी गई स्वोपज्ञ विवृति । कारिकाओं में ग्रन्थ का लाक्षणिक भाग निबद्ध है तथा विवृति में तद्विषयक उदाहरण एवं कारिका का स्पष्टीकरण । यह ग्रन्थ चार विवेकों में विभाजित किया गया है ।

इसके प्रथम विवेक में मंगलाचरण और विषय प्रतिपादन की प्रतिज्ञा के पश्चात् १२ रूपकों की सूची गिनायी गयी है । पुनः रूपक के प्रथम भेद नाटक का स्वरूप, नायक के चार भेद, वृत्त (चरित) के सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य (कल्पनीय) और उपेक्षणीय नामक चार भेद, तथा कुछ अन्य भेदों के साथ काव्य में चरित निबन्धन विषयक शिक्षाओं का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् अंक स्वरूप, उसमें अदर्शनीय तत्त्व, विष्कम्भ, प्रवेशक, अंकास्य, चूलिका और अंकावतार नामक पांच अर्थोपक्षेपक, बीज, प्रताका, प्रकरी, बिन्दु और कार्य नामक पांच फल-हेतु आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताति और फलागम नामक पांच अवस्थाएँ, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पांच संघियाँ एवं उनके कुल ६५ भेदों (१२+१३+१३+१३+१४ = ६५) का सांगोपांग निरूपण किया है ।

द्वितीय विवेक में नाटक के अतिरिक्त प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकांक, ईहामृग और वीथि नामक शेष ११ रूपकों का लक्षणोदाहरण सहित विस्तृत विवेचन किया गया है । पुनः वीथि के १३ अंगों का भी सलक्षणोदाहरण विषय प्रतिपादन किया गया है ।

तृतीय विवेक में सर्वप्रथम भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी नामक चार वृत्तियों का विवेचन किया गया है, पुनः रस-स्वरूप, उसके भेद, काव्य में रस का सन्निवेश, विरुद्ध रसों का विरोध और परिहार, रस-दोष, स्थायीभाव, ३३ व्यभिचारिभाव, वेपथु, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद और विवर्णता नामक आठ अनुभाव, तथा वाचिक, आंगिक,

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० २३५ ।

२. वही, २३५ ।

सात्त्विक और आहार्य नामक चार अभिनयों का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

चतुर्थ विवेक में समस्त रूपकों के लिए उपयोगी कुछ सामान्य बातों को प्रस्तुत किया गया है । इसमें सर्वप्रथम, नान्दी-स्वरूप, कविध्रुवा-स्वरूप, उसके प्रावेशिकी, नैष्कामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और आन्तरी नामक पांच भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन, पुरुष और स्त्री पात्रों के उत्तम, मध्यम और अधम भेदों का कथन, मुख्य नायक का स्वरूप और उसके तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और ललित नामक आठ गुणों का विवेचन, प्रतिनायक, नायक के सहायक, नायिका-स्वरूप, नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगत्मा नामक तीन सामान्य भेद तथा प्रोषितपतिका और विप्रलब्धा आदि प्रसिद्ध आठ भेद एवं स्त्रियों के यौवनजन्य हाव-भाव आदि तीन आंगिक, विभ्रम-विलास आदि दस स्वाभाविक तथा शोभाकान्ति आदि सात अयत्मज को मिलाकर कुल बीस अलंकारों का विवेचन किया गया है । पुनः नायिकाओं का नायक के साथ संबंध, नायिकाओं की सहायिकाएँ, पात्रों द्वारा भाषा प्रयोग के औचित्य का विस्तृत विवेचन, पात्रों के लिए पात्रों के द्वारा सम्बोधन में प्रयुक्त नामावली तथा पात्रों के नामकरण में ज्ञातव्य बातों आदि का विवेचन किया गया है । अन्त में प्रथम और द्वितीय विवेक में कहे गये १२ रूपकों के अतिरिक्त सट्टक, त्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्पा, प्रेक्षणक, रासक, नाट्य-रासक, काव्य, भाण और भाणिका नामक १३ अन्य रूपकों का सलक्षण विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

नरेन्द्रप्रभसूरि :

नरेन्द्रप्रभसूरि हर्षपुरीय गच्छ परम्परा के आचार्य थे । इनके गुरु का नाम नरचन्द्रसूरि और दादा-गुरु का नाम देवप्रभसूरि था^१ । गुरु नरचन्द्रसूरि न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे । जिसकी पुष्टि उक्त विषयों पर लिखे गये उनके ग्रन्थों और टिप्पणियों से होती है^२ ।

गुजरात के धोलका नामक नगर के वाघेला-वंशीय राजा वीरधवल के

१. अलंकारमहोदधि-प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।६ ।

२. द्रष्टव्य-महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०२ ।

महामात्य वस्तुपाल एक विद्या-मण्डल का संचालन करते थे, जिसने संस्कृत साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है। विद्यामंडल के संपर्क में अनेक विद्वान् थे, उनमें नरचन्द्रसूरि भी एक थे। महामात्य वस्तुपाल और नरचन्द्रसूरि में प्रगाढ़ मैत्री थी। महामात्य वस्तुपाल के साथ नरचन्द्रसूरि अनेक बार तीर्थयात्रा के लिए गये थे। एक बार वस्तुपाल ने श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर नरचन्द्रसूरि से निवेदन किया कि अलंकार विषयक कुछ ग्रन्थ विस्तृत और दुर्बोध हैं, कुछ संक्षिप्त और दोषपूर्ण हैं, दूसरे विषयान्तरों से युक्त और क्लेश पूर्वक समझे जाने वाले हैं, ऐसे काव्य-रहस्य निर्णय से रहित अनेक ग्रन्थों को सुनते-सुनते मेरा मन ऊब गया है। अतः मेरे लिए अति विस्तार रहित ऐसे शास्त्र का उपदेश दीजिए, जो अलंकार सार से युक्त और अल्प बुद्धियों के द्वारा भी ग्राह्य हो^१। वस्तुपाल की इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर नरचन्द्रसूरि ने अपने सुयोग्य शिष्य नरेन्द्र-प्रभसूरि को उक्त प्रकार का ग्रन्थ रचने की आज्ञा दी। गुरु के आदेशानुसार नरेन्द्रप्रभसूरि ने वस्तुपाल की प्रसन्नता हेतु अलंकार-महोदधि नामक ग्रन्थ की रचना की थी^२। इसका लेखन काल वि० सं० १२८० (ई० सन् १२२३) है^३ तथा इसकी स्वोपज्ञ टीका का लेखन काल वि० सं० १२८२ (ई० सन् १२२५) है^४। अतः नरेन्द्रप्रभसूरि का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

राजशेखर-सूरि ने न्यायकन्दली-पंजिका में नरेन्द्रप्रभसूरि की दो रचनाओं का उल्लेख किया है—अलंकार-महोदधि और काकुत्स्थ-केलि^५। इसके अतिरिक्त

१. अलंकारमहोदधि-प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।१७-१८।

२. वही, १।१९।

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०९।

४. नयन-वसु-सूर (१२८२) वर्षे निष्पन्नायाः प्रमाणमेतस्याः।

अजनि सहस्रचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती ॥

—अलंकार-महोदधि-ग्रन्थान्तप्रशस्ति, श्लोक ११।

५. तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुनरेन्द्रप्रभः प्रभावाढ्यः।

योऽलंकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिच ॥

—महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०४।

विवेक-पादप और विवेक-कलिका नामक दो सुभाषित संग्रह तथा दो वस्तुपाल प्रशस्ति-काव्य भी पाये जाते हैं। साथ ही गिरनार के वस्तुपाल के एक शिलालेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभसूरि रचित हैं^१।

अलंकार-महोदधि :

यह एक अलंकार विषयक ग्रन्थ है। नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचे गये ग्रन्थों में यह सर्वोच्च है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की छाया प्रतीत होती है। अतः डॉ० भोगीलाल सांडेसरा का यह कथन उचित ही है कि “अलंकार-महोदधि” का सारा तीसरा तरंग काव्य-प्रकाश के चौथे अध्याय का एक लम्बा और सरलीकृत संस्करण है।^२ डा० सांडेसरा के उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि अलंकार महोदधि काव्यप्रकाश जैसे दुर्लभ ग्रन्थों की अपेक्षा सरल है। जिसकी पुष्टि अलंकार-महोदधि के रचने में कारणभूत महामात्य वस्तुपाल के निवेदन से भी होती है।^३ इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की अपेक्षा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। क्योंकि कवि-शिक्षा प्रसंग में काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ अलंकार-चूड़ामणि नामक टीका का एक सम्पूर्ण अंश ही प्रायः उद्धृत कर दिया गया है।^४ लेकिन इसके साथ ही अलंकार-महोदधि में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो उसे काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से पृथक् सिद्ध करती हैं। उदाहरणार्थ काव्यप्रकाश में ६१ अर्थालंकारों का समावेश किया गया है और काव्यानुशासन में मात्र ३५ का। किन्तु अलंकार महोदधि में ७० अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में कुल मिलाकर ६०३ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि अलंकार-महोदधि में १८२ इत्यादि। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कई विशेषताएँ रहने के बावजूद भी लेखक ने

१. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग २, अध्याय ५, पृ० १०५-१०६।
२. वही, विभाग ३, अध्याय १४, पृ० २२५।
३. द्रष्टव्य-अलंकार-महोदधि, प्रारम्भिक प्रशस्ति, ११७-१८।
४. तुलना कीजिए—अलंकार-महोदधि, ११० की टीका और काव्यानुशासन, ११० की स्वोपज्ञ अलंकार-चूड़ामणि टीका में।

इसकी मौलिकता का दावा नहीं किया है,^१ जो निरभिमानता की दृष्टि से उपयुक्त भी है। इसमें यत्र-तत्र भरत, भामह और आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगों में विभाजित किया गया है। प्रथम तरंग में सर्वप्रथम मंगलाचरण और गुह्यरम्परा का स्मरण करते हुए महामात्य वस्तु-पाल और तेजपाल का यशोगान किया गया है। तदनन्तर ग्रन्थ रचना के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। पुनः काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-शिक्षा, काव्य-लक्षण और उसके भेदों का निरूपण किया गया है।

द्वितीय तरंग में शब्द-स्वरूप, शब्द-वैचित्त्य (अभिधा), उपचारमूल शब्द-वैचित्र्य (लक्षणा) और व्यंग्यमूल शब्द-वैचित्र्य का समेद विवेचन करते हुए संयोगादिकों का निरूपण किया गया है।

तृतीय तरंग में सर्वप्रथम अर्थवैचित्र्य का समेद निरूपण किया गया है। पुनः रस-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, स्थायी-भाव, सात्त्विक-भाव, स्त्रियों के जीस अलङ्कार, व्यभिचारिभाव, रसप्रक्रिया, स्थिति-उदय आदि व्यभिचारि-भावों की अवस्थाएँ और भाव-स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। इसी क्रम में शब्द-शक्तिमूला और अर्थशक्तिमूला-ध्वनि के स्वरूप तथा भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ तरंग में गुणीभूत-व्यंग्य काव्य के भेदों का सोदाहरण निरूपण किया गया है तथा अन्त में ध्वनि का द्वितीय स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

पंचम तरंग में दोषों का सामान्य स्वरूप, पद-दोष, वाक्य-दोष, उभय-दोष, अर्थदोष, वक्ता आदि के विशेषता से दोषों का भी गुण होना तथा रस-दोष आदि का समेद निरूपण किया गया है। अन्त में रस-विरोध परिहार का निरूपण है।

षष्ठ तरंग में सर्वप्रथम वासनादि आचार्यों के अनुसार दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों का विवेचन कर खण्डन किया है। पुनः माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का मण्डन किया है। साथ ही तद्-तद् गुणों के व्यञ्जक वर्णों का विवेचन किया गया है।

१. नास्ति प्राच्यैरलंकारकारैराविष्कृतं न यत् ।

कृतिस्तु तद्वचः सारसंग्रहव्यसनादियम् ॥

—अलंकारमहोदधि—प्रारम्भिक प्रशस्ति, १।२१।

सप्तम तरंग में अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति नामक चार शब्दालंकारों का सभेद-प्रभेद विवेचन किया गया है ।

अष्टम तरंग में अतिशयोक्ति आदि ७० अर्थालंकारों का सलक्षणोदाहरण सभेद-प्रभेद निरूपण किया गया है । अन्त में अलंकार-दोषों का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार-प्रशस्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त हुआ है ।

अमरचन्द्रसूरि :

प्रबन्धकोश के उल्लेख से ज्ञात होता है कि अणहिल्ल नामक नगर के समीप वायट नाम का महास्थान है । उसमें परपुर प्रवेश विद्या में निपुण जीवदेवसूरि की शिष्य परम्परा में श्री जिनदत्तसूरि नामक आचार्य हुए हैं । उनके शिष्य प्रज्ञाल-चूडामणि अमरचन्द्रसूरि थे । उन्होंने जिनदत्तसूरि के भक्त कविराज अरिसिंह से सिद्ध-सारस्वत मन्त्र ग्रहण किया था, जिसका जप कोष्ठागारिक पद्म के विशाल भवन के निर्जन एकदेश में २१ दिन पर्यन्त किया था । तत्पश्चात् हवन किया था । इक्कीसवीं रात्रि के मध्य आकाश में उदित चन्द्रबिम्ब से निकलकर साक्षात् सरस्वती देवी ने इन्हें सिद्ध कवि होने एवं निःशेष नरपतियों से सम्मानित होने का वरदान दिया था ।^१ काव्यकल्पलता आदि ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य और वायडगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि के शिष्य थे ।^२ इनकी 'बाल-भारत' नामक कृति से ज्ञात होता है कि ये साधु होने से पूर्व कदाचित् (वायड) ब्राह्मण थे । इस सम्बन्ध में डा० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखा है कि 'यह भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह ब्राह्मण ही था । क्योंकि जैन साधु होने के बावजूद उसने अपने 'बालभारत' ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग

१. प्रबन्ध-कोश—अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६१ ।

२. श्रीमद्वायडगच्छवारिधिविधोः पादारविन्दद्वये
येन श्रीजिनदत्तसूरिसुगुरोः शृंगारभृंगायितम् ।

स श्वेताम्बरमीलिरत्नममरः श्रीवीरतीर्थङ्कर-

प्रह्लात्माकृत काव्यकल्पलतिकावृत्ति सतां संमताम् ॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० १५४ ॥

के प्रारम्भ में व्यास की और उसी ग्रन्थ की प्रशस्ति में वायडों के देव धायु (पवनदेव) की स्तुति की है ।^१

अमरचन्द्रसूरि अपनी काव्यकला के कारण अनेक उपाधियों से विभूषित थे । प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार कालिदास दीपिका-कालिदास और माघ घण्टा-माघ के नाम से जाने जाते हैं, उसी प्रकार अमरचन्द्रसूरि अपनी कृति 'वालभारत' के प्रमातकालीन वर्णन में वेणी को अनंग की कृपाण रूप में वर्णन करने के कारण वेणीकृपाणअमर के नाम से प्रसिद्ध थे ।^२ इसका उल्लेख नयचन्द्रसूरि के हम्मीर-काव्य में भी मिलता है ।^३ गुर्जराधिपति वीसलदेव की राज्यसभा में इन्होंने विद्वानों द्वारा दी गई १०८ समस्याओं की तत्काल पूर्ति कर राजा द्वारा बहुमान और 'कविसार्वभौम' की उपाधि अर्जित की थी । इनके कलागुरु का नाम अरिसिंह था, जिनका परिचय अमरचन्द्रसूरि ने महाराजा वीसलदेव से बाद में कराया था ।^४

उपयुक्त उल्लेखों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि अमरचन्द्रसूरि और राजा वीसलदेव समकालीन थे । इतिहासज्ञों ने राजा वीसलदेव का राज्यकाल वि० सं० १२६४ से वि० सं० १३२८ (ई० सन् १२३७ से १२७१) तक माना है ।^५ अमरचन्द्रसूरि की एक सुप्रसिद्ध कृति 'पद्मानन्द' महाकाव्य है, जिसमें आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव का चरित्र-चित्रण किया गया है । डॉ० भोगीलाल सांडेसरा और डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अमरचन्द्रसूरि कृत पद्मानन्द महाकाव्य की रचना वि० सं० १२६४ से वि० सं० १२६७ (ई० सन् १२३७-१३४०) के मध्य

१. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० ६० ।

२. प्रबन्धकोश-अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६२ ।

३. "ब्रह्मज्ञप्रवरो महाव्रतधरो वेणीकृपाणोऽमरः"

—हम्मीरमहाकाव्य, १४।३१ ।

४. प्रबन्धकोश-अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६२-६३ ।

५. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० २५६ ।

हुई है।^१ उनके प्रमुख स्रोतों का आधार यह है कि पद्मानन्द महाकाव्य की रचना वीसलदेव के राज्यकाल में हुई है। वीसलदेव के राज्यारोहण की तिथि ई० सन् १२३८ (वि० सं० १२९४) है तथा पद्मानन्द महाकाव्य की खंभात की प्रति की लेखन तिथि ई० १२३८ (वि० सं० १२९७) है। अतः उक्त दोनों तिथियों के मध्य ही पद्मानन्द महाकाव्य का लेखन काल होगा, जो उचित प्रतीत होता है तथा इससे भी पूर्व इनकी अमरकृति 'बालभारत' की रचना अवश्य हुई होगी, क्योंकि अमरचन्द्रसूरि और वीसलदेव के प्रथम मिलन, जिसका समय वि० सं० १२९४-९५ के आसपास है, के समय बालभारत की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी^२ और यह समय उनकी प्रौढ़ावस्था का रहा होगा। तत्पश्चात् अन्य ग्रन्थों का निर्माण किया होगा। अतः इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

इनकी रचनाओं पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि काव्य, व्याकरण, छन्द, अलंकार और कला आदि विविध विषयों के प्रौढ़ कवि थे। इनका आशुकवित्व इनकी कविता-चातुरी का द्योतक है। डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित और डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी आदि विद्वानों ने इनके ग्रन्थों की संख्या १३ स्वीकार की है^३। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—१. बालभारत, २. पद्मानन्दमहाकाव्य, ३. काव्यकल्पलता-वृत्ति, ४. काव्यकल्पलता या कविशिक्षा, ५. चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि, ६. सुकृत संकीर्तन के प्रत्येक सर्ग के चार श्लोक, ७. स्यादिशब्दसमुच्चय (व्याकरण), ८. काव्यकल्पलता-परिमल, ९. छन्दोरत्नावली, १०. अलंकार-प्रबोध, ११. कलाकलाप, १२. काव्यकल्पलता-मंजरी और १३. मूक्तावली।

१. सांडेसरा-महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० ६४।

दीक्षित-तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ०, ३०३-३०४।

२. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० २५६।

३. वही, पृ० २५५ एवं जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७७, ५१४।

काव्यकल्पलता-वृत्ति :

यद्यपि कवि-शिक्षा पर प्रकाश डालने वाले काव्यमीमांसा (राजशेखर) कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) और कविशिक्षा (जयमंगल) आदि अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं तथापि अमरचन्द्रसूरि कृत काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ कविशिक्षा के लिए सर्वोपरि है ।

आचार्य अमरचन्द्रसूरि ने अपने कलागुरु अरिसिंहकृत कविता-रहस्य को ध्यान में रखकर कुछ अरिसिंह रचित सूत्रों और कुछ स्वरचित सूत्रों को लेकर काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की है । अतः मूल सूत्रों का नाम काव्य-कल्पलता है, पुनः उन सूत्रों पर अमरचन्द्रसूरि ने कविशिक्षा नामक वृत्ति लिखी है, जो अब काव्यकल्पलता वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है ।

अमरचन्द्रसूरि के परवर्ती आचार्य देवेश्वर (१४ वीं शताब्दी का आरम्भ) ने अपने ग्रन्थ कवि-कल्पलता के लिए अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता को ही आदर्श माना है, जिसमें से बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरशः ग्रहण किया गया है । कालान्तर में कविकल्पलता के ऊपर अनेक टीकाएँ रची गई हैं^१ । इससे यह सिद्ध होता है कि विद्वत्समाज में भी काव्यकल्पलता को महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था ।

इस ग्रन्थ में अमरचन्द्रसूरि ने कवि-पद के अभिलाषियों को प्रारम्भ में होने वाली कठिनाइयों से बचने के लिए कविशिक्षा पर विस्तृत प्रकाश डाला है । ये छन्द को काव्य का मूल मानते हैं^२ । अतः छन्द-रचना की प्रक्रिया का विभिन्न प्रकार से विवेचन है तथा छन्दों में प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के सहस्रों शब्दों का संकलन किया गया है, जो छन्दःकोश के अभाव की पूर्ति करता है । अतः इस ग्रन्थ के अध्ययन से कवियों का मार्ग प्रशस्त है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ छन्दसिद्धि, शब्दसिद्धि, श्लेषसिद्धि और अर्थसिद्धि नामक चार प्रतानों में विभक्त है । पुनः प्रत्येक के उपविभाग किये गये हैं, जो स्तवक कहलाते हैं । प्रत्येक प्रतान में क्रमशः ५, ४, ५ और ७ स्तवक हैं जिनकी कुल संख्या २१ है ।

छन्दसिद्धि नामक प्रथम प्रतान के प्रथम स्तवक का नाम अनुष्टुप्-शासन है, इसमें कवियों के द्वारा सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग करने

१. द्रष्टव्य-संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० २४० ।

२. काव्यस्य छन्दोमूलत्वात्-काव्यकल्पलता-वृत्ति, पृ० २ ।

के नियमों का निर्देश दिया गया है तथा मात्रा और वर्णों की गणना-विधि बतलाई गई है। द्वितीय स्तवक का नाम छन्दोभ्यास है, इसमें एक पाद में १ से २१ वर्ण वाले प्रमुख छन्दों की नामावली प्रस्तुत की गयी है। पुनः छन्दोभ्यास के विविध प्रकार बतलाये गये हैं तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले सहस्रों शब्दों का संकलन किया गया है। इसी क्रम में एकछन्द को दूसरे छन्द में परिवर्तन करने के अनेक उपाय बतलाये गये हैं। अन्त में यति नियमों का उल्लेख किया गया है। तीसरा स्तवक छन्दपूर्ति के लिए सामान्य शब्दों का है, इसमें विभिन्न छन्दों के लिए उपयोगी एक से चार वर्ण वाले पदों का संकलन किया गया है, जिससे किसी भी छन्द में अपनी आवश्यकतानुसार पदों का ग्रहण कर छन्द-पूर्ति की जा सकती है। चतुर्थ स्तवक का नाम वाद-शिक्षा है, इसमें सर्वप्रथम वाद की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। पुनः अनुप्रास में उपयोगी शब्दों का संकलन किया गया है, अन्त में वाद (शास्त्रार्थ) के नियमों का उल्लेख है। पांचवे स्तवक का नाम वर्ण्यस्थिति है, इसमें महाकाव्य आदि प्रबन्धों में वर्णनीय राजा, मंत्री, पुरोहित, रानी, कुमार, सेनापति, देश, ग्राम, नगर, सरोवर, समुद्र, नदी, उद्यान, पर्वत, जंगल, आश्रम, मंत्र, राजदूत, युद्ध, प्रयाण, मृगया, घोड़ा, हाथी, ऋतु, सूर्य-चन्द्र का उदय और अस्त, विवाह, विरह, स्वयंवर, सुरापान, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा और कामक्रीड़ा का विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्त में कवि-समय पर प्रकाश डाला गया है।

शब्दसिद्धि नामक द्वितीय प्रतान के प्रथम स्तवक का नाम रूढयौगिक मिश्र है, इसमें रूढ़, यौगिक और मिश्र शब्दों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। द्वितीय स्तवक में वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों अथवा व्यक्तियों अथवा देवताओं के यौगिक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। तृतीय स्तवक में सर्वप्रथम अनुप्रास की सिद्धि हेतु साधारण शब्दों का संग्रह किया गया है, पुनः चित्र-अनुप्रास और यमक में सहायक तत्सदृश अन्य शब्दों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ स्तवक में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का विस्तृत विवेचन करके काव्य में प्रयुक्त लाक्षणिक शब्दों का गुम्फन किया गया है, अन्त में उन शब्दों का उपमान और उपमेय रूप में प्रयोग करने की विधि बतलाई गई है।

श्लेषसिद्धि नामक तृतीय प्रतान के प्रथम स्तवक में पदच्छेद द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों को निकालकर श्लेष का विस्तृत विवेचन किया गया है, पुनः तदुपयोगी शब्दों की विस्तृत सूची दी गई है। दूसरे स्तवक का नाम सर्ववर्णन है, इसमें ऐसे श्लेष पर विचार प्रस्तुत किया है, जहाँ एक वस्तु का वर्णन होने पर श्लेष

के माध्यम से अन्य वस्तु के गुण-धर्म का ज्ञान होता है। तृतीय स्तवक का नाम उद्दिष्ट वर्णन है, इसमें भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग करके अनेक अर्थों को प्रकाशित करने की विधि बतलाई गई है। चतुर्थ स्तवक का नाम अद्भुत-विधि है, इसमें वर्ण, भाषा, लिंग, पद, प्रकृति, प्रत्यय, वचन और विभक्ति के आधार पर होने वाले आठ प्रकार के श्लेषों का वर्णन किया गया है, पुनः यमक के उपाय बतलाये गये हैं। अन्त में वक्रोक्ति, विरोधाभास, प्रश्नोत्तर और पुनरुक्त-वदाभास भी श्लेष-साध्य हैं, ऐसा कहकर उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पंचम स्तवक का नाम चित्र-प्रपञ्च है। इसमें चित्र-काव्य का प्रपञ्च दर्शाया गया है, तदुपरान्त एकाक्षर और द्व्यक्षर शब्द तथा एकाक्षरी धातुओं की सूची प्रस्तुत की गयी है। साथ ही अनुलोम और प्रतिलोम शब्दों का भी संकलन किया गया है, अन्त में विभिन्न चित्र-काव्यों के उदाहरण दिये गये हैं।

अर्थसिद्धि नामक चतुर्थ प्रतान के प्रथम स्तवक में सर्वप्रथम 'उपमा पर विचार किया गया है, पुनः अभ्यासार्थ उपमा वाचक शब्दों और उपमानों की नामावली प्रस्तुत की गयी है। इसी क्रम में यह भी बतलाया गया है कि किस प्रकार उपमा अनेक अलंकारों के मूल में विद्यमान है। अन्त में रूपक का विस्तार से विवेचन किया गया है। द्वितीय स्तवक में वर्णों (रंगों) के अर्थोत्पत्ति हेतु प्रत्येक रंग के वाचक अनेक शब्दों का संकलन किया गया है। तृतीय स्तवक में भिन्न कार्य के वर्णन की विधि है। चतुर्थ स्तवक में भिन्न रूप के वर्णन की विधि है। पंचम स्तवक में यह बतलाया गया है कि कवि को किस प्रकार भिन्न-भिन्न नवीन कल्पनाओं का आश्रय लेकर रचना करनी चाहिए। अन्त में तीक्ष्ण महत्तम और सूक्ष्म आदि लगभग चालीस शब्दों के सादृश्य वाचक शब्दों का संकलन किया गया है। षष्ठ स्तवक में एक से बीस तथा सौ और सहस्र वाचक शब्दों का संकलन किया गया है। सप्तम और अन्तिम स्तवक में समस्या पूर्ति हेतु कवियों के लिए आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

विनयचन्द्रसूरि :

विभिन्न कालों में विनयचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं।^१ किन्तु प्रस्तुत स्थल में जिन आचार्यों का कथन किया जा रहा है, वे काव्य शिक्षा के रचयिता

१. धम्मक्खणाय कोस (धर्माख्यान कोश) के टीकाकार, वि० सं० ११६६।

—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २५३।

चूनडीरास, निर्भरपंचमीकहारास और कल्याणकरास के रचयिता अप-

आचार्य विनयचन्द्रसूरि हैं। इनका परिचय देते हुए डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने लिखा है कि विनयचन्द्र चन्द्रगच्छीय थे। चन्द्रगच्छ में शीलगुणसूरि नामक प्रसिद्ध विद्वान्हुए थे। उनके शिष्यमानतुंगसूरि और मानतुंगसूरि के शिष्य रविप्रभसूरि हुए, जो बड़े विद्वान् थे। उनके शिष्यों में नरसिंहसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि और विनयचन्द्रसूरि हुए।^१ इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विनयचन्द्रसूरि चन्द्रगच्छीय आचार्य और रविप्रभसूरि के शिष्य थे। वे संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् थे तथा काव्याशास्त्र उनका प्रिय विषय था। काव्यशिक्षा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विनयचन्द्रसूरि न केवल अलंकार शास्त्र के ही ज्ञाता थे, अपितु व्याकरण, कोश आदि पर भी उनका समान अधिकार था।

यद्यपि विनयचन्द्रसूरि का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है तथापि उनकी कृतियों के लेखन एवं अन्य स्रोतों से उनकी कालावधि निश्चित की जा सकती है। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने लिखा है कि सं० १२८५ में पार्श्वनाथचरित आदि २० प्रबन्धों के कर्ता आचार्य विनयचन्द्रसूरि विद्यमान थे।^२ इन्होंने सं० १२८६ में मल्लिनाथ-चरित नामक महाकाव्य की रचना की और उदयसिंह रचित धर्मविधिवृत्ति का संशोधन किया था।^३ उपर्युक्त के अतिरिक्त डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने लिखा है कि विनयचन्द्रसूरि ने कल्पनिस्तु की रचना सम्वत् १३२५ और दीपमालिका-कल्प की रचना सं० १३४५ में की

भ्रंश कवि (ई० १२वीं शती) —तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १९१।

कालिकाचार्य कथा (प्राकृत) के रचयिता एवं रविप्रभ के शिष्य (सं० १२८६) —जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २१०।

कालिकाचार्य कथा (संस्कृत) के रचयिता एवं रत्नसिंहसूरि के शिष्य (१४वीं शती)

—वही, पृ० २११।

आदिनाथ चरित्र के रचयिता (वि०सं० १४७४) जिनरत्नकोश, पृ० २८।

मेघदूत पर अवचूरि के रचयिता (वि०सं० १६६४)।

—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६०५।

१. वही, पृ० १२२।

२. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३९३।

३. वही, पृ० ३९५।

है ।^१ अतः डॉ० चौधरी ने उनका साहित्यिक काल सं० १२८६ से लेकर सं० १३४५ तक स्वीकार किया है ।^२ किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि प्रथम बात तो यह है कि विनयचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, अतः एक ही विनयचन्द्र का लगभग ६० साल साहित्यिक काल मानना सामान्य से कुछ अधिक प्रतीत होता है । द्वितीय बात यह है कि रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र ने भी दीपमालिका-कल्प की रचना की है ।^३ सम्भव है दीपमालिकाकल्प भिन्न-भिन्न आचार्यों की दो रचनायें न होकर केवल रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र की ही एक रचना हो । क्योंकि इनकी अन्य रचना पर्युषणाकल्प से उक्त रचना का नामसादृश्य मिलता है, जिसका सम्बन्ध कालान्तर में प्रमाद-वशात् काव्यशिक्षा के रचयिता विनयचन्द्रसूरि से भी जुड़ गया हो । इस प्रसंग में डॉ० हरीप्रसाद शास्त्री का निम्न कथन ध्यातव्य है कि—“मल्लिस्वामी चरित और काव्यशिक्षा के लेखक विनयचन्द्र की अभिन्नता कभी-कभी कल्प-निरुक्त, दीपमालिकाकल्प, मुनिसुव्रतचरित, नेमिनाथचतुष्पादिका और उवस्समालाकहाणय-छप्पय के रचयिता के साथ प्रदर्शित की जाती है, किन्तु रविप्रभसूरि के शिष्य आचार्य विनयचन्द्र स्पष्ट रूप से रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्र से भिन्न हैं । ये (रविप्रभसूरि के शिष्य विनयचन्द्र से) कनिष्ठ और समकालीन प्रतीत होते हैं । इसलिए उनकी अभिन्नता दिखाना त्रुटिपूर्ण है; उसे हम बहुत समय तक स्वीकार नहीं कर सकते ।^४ अतः काव्य-शिक्षाकार आचार्य विनयचन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्ध मानना समीचीन होगा और काव्यशिक्षा का प्रणयन काल विक्रम की तेरहवीं शती का चतुर्थ चरण ।

डॉ० हरीप्रसाद शास्त्री ने काव्यशिक्षा और मल्लिस्वामी (नाथ) चरित इन दो को ही आचार्य विनयचन्द्र सूरि की रचनायें स्वीकृत की हैं, जो विनय शब्दांकित हैं ।^५ किन्तु इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्य-कथा (प्राकृत) भी उनकी रचनायें प्रतीत होती हैं, क्योंकि पार्श्वनाथचरित

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२२ ।

२. वही, पृ० १२२-१२३ ।

३. वही, पृ० २११, टिप्पणी ३ ।

४. काव्यशिक्षा-भूमिका, पृ० ११ ।

५. वही, भूमिका, पृ० १० ।

विनय शब्दांकित महाकाव्य है।^१ अतः यह कृति भी उक्त लेखक की होनी चाहिये तथा कालिकाचार्य-कथा (प्राकृत) की रचना सं० १२८६ में हुई है।^२ यह काल काव्यशिक्षाकार विनयचन्द्रसूरि का है। अतः यह कृति भी उक्त कवि की होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार विनयचन्द्रसूरि की चार कृतियाँ तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं—काव्यशिक्षा, मल्लिस्वामीचरित, पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्यकथा (प्राकृत)। इनके अतिरिक्त जब तक कोई पुष्ट आधार नहीं मिल जाते हैं तब तक अन्य कृतियों अथवा अन्य काल से आचार्य विनयचन्द्रसूरि का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है।

काव्य शिक्षा :

प्रस्तुत रचना आचार्य विनयचन्द्रसूरि की संग्रहीत कृति है। इसमें कवि ने काव्यरचना हेतु कवि के लिए आवश्यक व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा दी है। ग्रन्थकार का दावा हो अथवा नहीं किन्तु निष्पक्ष समालोचक की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी प्रस्तुत ग्रन्थ की सहायता से पद्य रचना कर सकता है। इसके अध्ययन से कई ऐतिहासिक एवं भौगोलिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। इसीलिए डॉ० भोगी लाल सांडेसरा ने लिखा है कि विनयचन्द्र की कवि (काव्य) शिक्षा इसलिए विशेष उपयोगी है कि उसमें इतिहास, भूगोल और मध्यकालीन भारत की साहित्यिक स्थिति की अनेक सूचनायें मिलती हैं।^३ प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। उसमें कालिदास, वाण, भवभूति और हेमचन्द्र आदि के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ छः परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद का नाम शिक्षा-परिच्छेद है। इसमें काव्यस्वरूप, काव्यशिक्षा, कविसमयप्रसिद्धि, इन्द्रवज्रा आदि छन्दों में चारों पादों में आवश्यक अक्षरों का सन्निवेश, रक्तवर्ण आदि वस्तुओं की सूची, वर्णनीय वस्तुओं तथा महाकाव्य के लक्षण आदि पर विचार किया गया है।

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१।
२. वही, पृ० २१०।
३. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ० २२८-२२९।

द्वितीय परिच्छेद का नाम क्रियानिर्णयपरिच्छेद है। इसमें विभिन्न क्रियाओं के विषय में निर्णय किया गया है कि कौन सी क्रिया परस्मैपदी है, कौन सी आत्मनेपदी तथा कौन सी उभयपदी।

तृतीय परिच्छेद का नाम लोक कौशल्य परिच्छेद है। इसमें लोक व्यवहार में कुशलता के निमित्त एक से लेकर अठारह, बाईस, अट्ठाइस, वत्तीस, चौत्तीस, ब्यालीस, चाँसठ, अड़सठ, वहत्तर, चौरासी, सौ, एक सौ आठ, साठ हजार, अठासी हजार, चौरासी लाख संख्या वाली वस्तुओं की गणना की गई है। तदनन्तर समूहवाचक शब्द, आमानक (लोकोक्तियाँ), विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का परिचय, उनकी व्याख्या एवं मान्यव्या वर्णन, स्त्रेणालापवर्णन, सेनाप्रयाणवर्णन तथा उत्तम पुरुष आदि के वर्णन में कौशल प्राप्ति का विवेचन किया गया है। अन्त में खड्गादि शस्त्रों का नाम संग्रह है।

चतुर्थ परिच्छेद का नाम बीजव्यावर्णन परिच्छेद है। इसमें जिनेन्द्र भगवान् के माता-पिता, नगरी, चिह्न, वर्ण, कीर्ति, प्रातिहार्य, देशनां आदि का वर्णन, कारकशिक्षा, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, विनायक, सखीभट, बलभीनाथ, श्वेताम्बराचार्य, ब्राह्मण, योगी, चण्डी, जिनयक्ष आदि का वर्णन, आश्रमबीज, बालक्रीडनक, विभिन्न देवों के चैत्य, अर्थोत्पत्तिबीज, दोषबीज, परमार्थबीज, राजद्वारवर्णन-बीज तथा योगादि के लक्षणों का वर्णन है।

पंचम परिच्छेद का नाम अनेकार्थ शब्दसंग्रह है। इसमें एक से पंचाक्षर काण्ड, अव्ययार्थ काण्ड, मूलाक्षरार्थकाण्ड, अन्त्याक्षरवर्गकाण्ड भेद करके अनेकार्थक शब्दों का विवेचन किया गया है। मुद्रित प्रति में एकाक्षरकाण्ड मुद्रित नहीं है।

षष्ठ परिच्छेद का नाम रसभावनिरूपण परिच्छेद है। इसमें रस का लक्षण उसके भेद, स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव तथा रसाभाव और भावाभास पर विचार किया गया है। यह परिच्छेद हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से उद्धृत है।

विजयवर्णी :

विजयवर्णी दिगम्बर जैन मुनि विजयकीर्ति के शिष्य थे।^१ इन्होंने राजा

१. श्रीमद्विजयकीर्त्याख्य गुरुराजपदाम्बुजम्।

—शृङ्गारार्णव चन्द्रिका, १।५।

कामिराज की प्रार्थना पर शृङ्गारार्णव चन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी।^१ इसमें इन्होंने कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि गुणवर्मा का नामोल्लेख किया है।^२ गुणवर्मा का समय ई० सन् १२२५ (वि० सं० १२८२) के लगभग माना जाता है।^३ अतः विजयवर्णी का समय कर्नाटक-कवि गुणवर्मा के पश्चात् मानना होगा।

‘शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका’ के प्रारम्भिक भाग से स्पष्ट होता है कि श्री वीर-नरसिंह नामक राजा बंगभूमि का प्रशासक था। उनकी राजधानी बंगवाटी थी।^४ ई० सन् १२०८ (वि० सं० १२६५) में वीरनरसिंह के पुत्र चन्द्रशेखर बंगभूमि के शासक हुए थे, पुनः ई० सन् १२२४ में इनके छोटे भाई पाण्ड्यप्प सिंहासनारूढ़ हुए। तत्पश्चात् इनकी बहिन विट्ठलादेवी राज्य की संचालिका नियुक्त की गई। इसी क्रम में ई० सन् १२४४ (वि० सं० १३०१) में विट्ठला देवी के पुत्र कामिराज राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए थे।^५ इन्हीं कामिराज की प्रार्थना पर विजयवर्णी ने ‘शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका’ की रचना की थी, अतः विजयवर्णी कामिराज के समकालीन ठहरते हैं तथा उक्त ग्रन्थ की रचना भी इसी के आस-पास होने से ईसा की तेरहवीं शती के मध्य में हुई होगी। विजयवर्णी ने कामिराज को ‘गुणार्णव’ और ‘राजेन्द्रपूजित’ ये दो विशेषण दिए हैं, साथ ही पाण्ड्यवंश का भागिनेय और महादेवी विट्ठलाम्बा का पुत्र लिखा है।^६ इससे भी दोनों की समकालीनता सिद्ध होती है। अतः कामिराज

१. इत्थं नृपप्रार्थितेन मयालंकारसंग्रहः ।

क्रियते सूरिणा नाम्ना शृङ्गारार्णवचन्द्रिका ॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।२२ ।

२. गुणवर्मादिकर्नाटककवीनां सूक्तिसंचयः ।

वाणीविलासं देयात्ते रसिकानन्द दायिनम् ॥ वही, १।७ ।

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ३०६ ।

४. शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका, १।११-१२ ।

५. प्रशस्ति संग्रह—के० भुजबली शास्त्री, पृ० ७७-७८ ।

६. तस्य श्रीपाण्ड्यवंगस्य भागिनेयो गुणार्णवः ।

विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजितः ॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।१६ ।

और विजयवर्णी इन दोनों का समय ईसा की १३वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना समीचीन होगा ।

विजयवर्णी द्वारा रचित अलंकार विषयक शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु उक्त ग्रन्थ के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विजयवर्णी एक राजमान्य महाकवि थे । संभव है इन्होंने अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया हो, किन्तु इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न होने से निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

शृङ्गारार्णवचन्द्रिका :

‘शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका’ अलंकार विषयक ग्रन्थ है । इसमें विजयवर्णी ने कुछ ऐसे विषयों का भी समावेश किया है, जिनका उल्लेख अलंकारशास्त्रों में प्रायः कम ही मिलता है । जैसे—वर्ण-गणफल निर्णय आदि । जिस प्रकार एकावली, प्रतापहृदयशोभूषण और रसगंगाधर में कवियों ने स्वरचित पद्यों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार विजयवर्णी ने शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका में सभी उदाहरण स्वरचित प्रस्तुत किये हैं । ये सभी उदाहरण कवि ने अपने आश्रयदाता गंगवंशीय राजा कामिराज की स्तुति में लिखे हैं, अतः इस ग्रन्थ का अपर नाम कामिराज स्तुति ग्रन्थ कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी ।

प्रस्तुत ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है । इसके प्रथम परिच्छेद में कवि ने सर्वप्रथम अपने आश्रयदाता गंगनरेश कामिराज की वंशावली का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को रचने में कारणभूत कामिराज की प्रार्थना आदिका वर्णन किया है । पुनः काव्य-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि पर प्रकाश डाला है । तत्पश्चात् किस वर्ण और किस गण से काव्य प्रारम्भ होने पर सुख-दुःख अथवा अनिष्ट आदि की प्राप्ति होती है इसका विवेचन किया गया है ।

द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में कवि-स्वरूप, उसके भेद, वाक्यों का चतुर्विध अर्थ आदि का वर्णन किया गया है । पुनः लक्षणा-स्वरूप, उसके भेद और व्यंजना स्वरूप का निरूपण किया गया है । इसी क्रम में अभिधा-शक्ति के नियामक संयोगादि तत्त्वों को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

तृतीय परिच्छेद में सर्वप्रथम रस का महत्त्व स्थायीभाव-स्वरूप, उसके नौ भेद, रस-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, भाव-स्वरूप तथा उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव रूप चार भेदों का निरूपण किया गया है । पुनः शृङ्गाररस के सन्दर्भ में काम की दस अवस्थाओं का सलक्षणोदाहरण

उल्लेख किया गया है। इसी क्रम में कवि ने रसों के वर्ण, उनके अधिदेवता, कार्यकारण-भाव, रसों में पारस्परिक विरोध और अविरोध आदि का विवेचन किया है।

चतुर्थ परिच्छेद में नायक-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि का सोदाहरण लक्षण, विदूषक, पीठमर्द, विट और नागरिक इन चार उपनायकों तथा प्रति-नायक का स्वरूप और नायक के आठ सात्त्विक गुणों का विवेचन किया गया है। पुनः स्वकीया, परकीया, अनूढा और साधारण रूप नायिका के चार भेद, उनके प्रभेद, नायिका की आठ अवस्थाओं और सखि, दासी आदि उसकी सहायिकाओं का सलक्षणोदाहरण निरूपण है। इसी क्रम में नायिका के यौवन काल में संभव तीन शरीरज, सात अयत्नज और दस स्वाभाविक इस प्रकार बीस अलंकारों का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है।

पंचम परिच्छेद में गुण का महत्त्व और उसके दस भेदों का सलक्षणोदाहरण वर्णन किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद में रीति का महत्त्व, स्वरूप तथा उसके वैदर्भी, गौणी, लाटी और पांचाली इन चार भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

सप्तम परिच्छेद में वृत्ति का महत्त्व, स्वरूप तथा उसके कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती इन चार भेदों का विवेचन किया गया है। पुनः अति-प्रौढ-सन्दर्भ, अतिमृदु-सन्दर्भ, ईशन्मृदु-सन्दर्भ और ईषन्प्रौढ-सन्दर्भ इन चार सन्दर्भों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम परिच्छेद में शय्या और पाक का महत्त्व तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पुनः पाक के दो भेद-द्राक्षापाक और नारिकेरपाक का सोदाहरण लक्षण निरूपण किया गया है।

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ में अलंकार का महत्त्व और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पुनः ४ शब्दालंकारों और ४७ अर्थालंकारों का सभेद सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है।

दशम परिच्छेद में सर्वप्रथम निर्दोष काव्य का महत्त्व तथा पद-पदांश, वाक्य, रस और अर्थगत दोषों का सभेद सलक्षणोदाहरण निरूपण, पुनः पद-दोष, वाक्यदोष और अर्थदोष कहीं-कहीं गुण कैसे बन जाते हैं, इसका विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् कविसमय-प्रसिद्धि आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

अजितसेन :

जैन परम्परा में अजितसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आलंकारिक दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनाचार्य थे^१। अलंकारशास्त्र पर रचित उनकी अलंकार-चिन्तामणि नामक कृति इस बात का सबल प्रमाण है कि उन्हें अलंकार-शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान था।

यद्यपि आलंकारिक अजितसेन की गुरु परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है तथापि आधुनिक शोध-मर्मज्ञों का कथन ध्यान देने योग्य है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है कि अजितसेन यतीश्वर दक्षिणदेशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण-पोगरिगच्छ के मुनि, संभवतया पार्श्वसेन (ज्ञात तिथि ११५४ ई०) के प्रशिष्य और पद्मसेन (ज्ञात तिथि १२७१ ई०) के गुरु महासेन के सधर्मा या गुरु थे^२। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने भी अजितसेन के सेनसंघ के आचार्य होने की पुष्टि की है^३। उनकी इस मान्यता का हेतु शृंगारमंजरी का अन्तिम भाग है^४।

आचार्य अजितसेन ने अलंकार-चिन्तामणि में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उसमें महाकवि अर्हदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके मुनिसुव्रत-काव्य से अलंकार-चिन्तामणि में अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं^५। पं० आशाधर जी ने वि० सं० १२९६ में सागारधर्मामृत

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२२।
२. जैन-सन्देश (शोधार्क २) १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७९।
३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० ३१।
४. श्रीसेनगणाग्रगण्यतपोलक्ष्मीविराजितसेनदेवयतीश्वरविरचितः।
—वही, पृ० ३०।
५. द्रष्टव्य-चन्द्रप्रभं नौमि.....। मुनिसुव्रतकाव्य, १।२।
अलंकारचिन्तामणि, ४।२५, ४।१३४, ५।१५०।
मन्त्रार्तवत्त्वं फलिताटवीषु.....। —मुनि० १।३४। अलं०-चि०,
४।२८९।
मुक्तागुणच्छायमिषेण तन्व्याः...। मुनि०, २।३१। अलं० चि०, ५।१०।
अमर्षणायाः श्रवणावतंसं.....। मुनि०, २।३२। अलं० चि०, ५।११।
रहस्यु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः.....। मुनि०, २।३३। अलं० चि० ४।३३५,
५।१२, ५।१४२।

टीका और वि० सं० १३०० में अनंगारधर्ममृत टीका का लेखन कार्य समाप्त किया है^१। अतः पं० आशाधर जी का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का कुछ पूर्वार्द्ध और सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है। महाकवि अर्हदास ने पं० आशाधर जी का नाम अपने तीनों ग्रन्थों (मुनिसुव्रतकाव्य पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकण्ठाभरण) में श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। अतः अर्हदास का समय पं० आशाधर जी के पश्चात् विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण मानना होगा और चूंकि अलंकार-चिन्तामणि में मुनिसुव्रत-काव्य के अनेक पद्य उद्धृत हैं, इसलिए आचार्य अजितसेन का लेखनकाल उनके भी पश्चात् लगभग विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्य भाग (ई० १२६३ के लगभग) होगा। यही समय पं० अमृतलाल शास्त्री को भी अभीष्ट है^२।

नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने अलंकार-चिन्तामणि का रचना काल ई० सन् १२५०-६० (वि० सं० १३०७-१३१७) के मध्य माना है,^३ जो उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि ज्योतिषाचार्य जी ने महाकवि अर्हदास को पं० आशाधर जी का समकालीन सिद्ध करने के लिए जिन प्रशस्ति-पद्यों^४ को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है, वे उनके न तो समकालीन होने की पुष्टि करते हैं और न परवर्ती होने की तथापि उनके परवर्ती होने की ही सम्भावना अधिक है। इस सम्बन्ध में मुनिसुव्रत-काव्य में भूमिका लेखक हरनाथ द्विवेदी का यह कथन व्याप्ताव्य है कि—“प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता है कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हदास-जी को थी कि नहीं। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर-सूरि से अर्हदास जी ने

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४६।

२. महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल, १९६३, पृ० ६५।

३. अलंकार-चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० ३४।

४. मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।

आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि॥

—मुनिसुव्रतकाव्य, १०।६५।

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः।

त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः॥

—भव्यजनकण्ठाभरण, २३६।

उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता है । क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचनाबद्ध ग्रन्थ सन्दर्भ का भी हो सकता है^१। इससे स्पष्ट है कि अर्हदास जी आशाधर जी से कुछ काल पश्चात् हुए होंगे । अतः उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अलंकार-चिन्तामणि का लेखन काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्यभाग (ई० सन् १२६३ के आसपास) होगा, यही अजितसेन का लेखन काल भी मानना चाहिए ।

अम्बालाल प्र० शाह ने अलंकार चिन्तामणि का लेखन काल ईसा की १८ वीं शताब्दी माना है^२ । जो प्रमाणाभाव के कारण अप्रामाणिक प्रतीत होता है ।

अजितसेन की सामान्यतः दो रचनाएँ मानी जाती हैं—(१) अलंकार-चिन्तामणि और (२) शृङ्गारमंजरी । ये दोनों अलंकार विषयक हैं, इनके अतिरिक्त डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने वृत्तवाद, छन्दः प्रकाश और श्रुतबोध इन तीन ग्रन्थों के कर्ता के रूप में भी प्रस्तुत अजितसेन की सम्भावना व्यक्त की है^३ । लेकिन किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में कुछ भी कहना उचित प्रतीत नहीं होता है । शृङ्गारमंजरी अद्यावधि अप्रकाशित है ।

अलंकार-चिन्तामणि :

अलंकार चिन्तामणि अजितसेन का अलंकार विषयक ग्रन्थ है । अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत जिन विषयों का कथन किया जाता है, उन सभी विषयों का समावेश प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है । कहीं-कहीं इस ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इसके मर्म को समझ सकता है । किसी भी व्यक्ति को कवि बनने के लिए प्रारम्भ में किसी सामान्य विषय को लेकर पद्य-रचना करने का निर्देश किया गया है, उसका निम्न उदाहरण देखिये कितना सरल है—

शय्योत्थितः कृतस्नानो वराक्षतसमन्वितः ।

गत्वा देवार्चनं कृत्वा श्रुत्वा शास्त्रं गृहं गतः^४ ॥

१. मुनिसुव्रतकाव्य, भूमिका, पृ० ३ ।

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२२ ।

३. जैन सन्देश (शोधक २) १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७६ ।

४. अलंकार-चिन्तामणि, १।१५ ।

प्रस्तुत पद्य में एक श्रावक के दैनिक जीवन का स्वाभाविक एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

अलंकारों के लिए तो यह ग्रन्थ अलंकार चिन्तामणि ही सिद्ध होता है । इसके अधिकांश भाग अर्थात् सम्पूर्ण पाँच परिच्छेदों में से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में अलंकारों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, शेष प्रथम और पंचम में अन्य विषयों का समावेश है ।

जिन अलंकार-शास्त्रों में स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी संख्या अल्प है । अतः अधिकांश अलंकार विषयक ग्रन्थों में उदाहरणों का चयन अन्य कवियों के ग्रन्थों से किया गया है । इसमें आलंकारिकों ने प्रायः एक ही सरणी का अनुसरण किया है अर्थात् अपने ग्रन्थों में उन्हीं चुने-चुनाये उदाहरणों को स्थान दिया है, जो परम्परा से प्राप्त हैं । किन्तु अलंकार-चिन्तामणि में प्रायः नवीन उदाहरणों का चयन किया गया है, जो लेखक के अथक परिश्रम के द्योतक हैं । सभी उदाहरण पुराणों और स्तोत्रों से गृहीत होने के कारण लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ को स्तोत्रग्रन्थ की संज्ञा से विभूषित किया है^१ । इसमें अन्य आचार्यों के मतों को भी यत्र-तत्र स्थान दिया गया है ।

यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है । प्रथम परिच्छेद में सर्वप्रथम मंगलाचरण किया गया है, पुनः काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, महाकाव्य के वर्णनीय विषय कवि-शिक्षा, वर्णों का शुभाशुभ फल, गणों के देवता, गणों का फल, काव्य के तीन भेद, समस्यापूर्ति का औचित्य और कवि-स्वरूप तथा उसके भेदों पर प्रकाश डाला गया है ।

द्वितीय परिच्छेद में शब्दालंकार के अन्तर्गत् चित्रालंकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

तृतीय परिच्छेद में शब्दालंकार के अन्तर्गत् गृहीत शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक का सभेद वर्णन किया गया है ।

चतुर्थ परिच्छेद में अलंकार-स्वरूप, गुण और अलंकार में भेद, प्रतीयमान और सादृश्यमूलकता के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण, अलंकारों में परस्पर भेद तथा ७० अर्थालंकारों का सभेद-सलक्षणोदाहरण विस्तृत विवेचन किया गया है । इसका उपमालंकार विवेचन महत्त्वपूर्ण है ।

१. अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम् ।

पुण्यपुरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥

—अलंकार चिन्तामणि, १।५ ७

पंचम परिच्छेद में विविध विषयों का समावेश है। इसमें सर्वप्रथम स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव और व्यभिचारिभावों का सभेद-सलक्षणो-दाहरण विवेचन किया गया है। पुनः काम की दस अवस्थाएँ, रस-स्वरूप, रस-भेद, प्रत्येक रस के विभावादि भावों का पृथक्-पृथक् निर्देश, प्रसंगवशात् नायिका-स्वरूप और उसके भेद, रसों का परस्पर विरोध, रसों के वर्ण और देवता, रीति-स्वरूप और उसके भेद, शय्या और पाक का स्वरूप, काव्य-सामग्री, शब्द और अर्थ के प्रकार, वृत्तियों का स्वरूप, उसके सोदाहरण भेद, काव्य-भेद और अनेकार्थवाची शब्दों के अर्थ-नियामक संयोगादि का सोदाहरण निरूपण तथा दोष स्वरूप और उसके भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् काव्य के २४ गुण, नायक के गुण-भेद, नायक के पीठमर्द आदि अन्य भेद, पुरुषों के युवावस्था में सत्त्वोत्पन्न आठ गुण आदि पर प्रकाश डाला गया है। परिच्छेद के अन्त में नायिका-भेद, उसकी दूतियाँ तथा स्त्रियों के युवावस्था में सत्त्वोत्पन्न २० अलंकारों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

वाग्भट-द्वितीय :

वाग्भट नामधारी अनेक जैनाजैन विद्वानों ने भारतभूमि को अलंकृत किया है। प्रस्तुत आलंकारिक काव्यानुशासन आदि अनेक ग्रन्थों के यशस्वी प्रणेता जैनाचार्य वाग्भट द्वितीय हैं। वाग्भट-द्वितीय अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। ये अभिनव-वाग्भट के नाम से भी जाने जाते हैं। पं० अमृतलाल शास्त्री^१ एवं डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य^२ ने इनका उल्लेख अभिनव-वाग्भट के नाम से ही किया है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा मान्य अनेक वाग्भटों की सूची प्रस्तुत की है, जिसमें काव्यानुशासन और छन्दो-नुशासन आदि के कर्ता जैन कुलोत्पन्न नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट का भी उल्लेख किया है।^३ इसी प्रकार पं० नाथूराम प्रेमी ने चार वाग्भटों में से एक को काव्यानुशासन और छन्दोनुशासन का कर्ता स्वीकार किया है।^४

वाग्भट-द्वितीय का समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी है, क्योंकि उन्होंने

१. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० २०८।
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थखण्ड, पृ० ३७।
३. वाग्भट-विवेचन, पृ० २८१।
४. जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ३३०।

उदात्तालंकार के प्रसंग में स्वोपज्ञ आलंकारिक नामक टीका में अलंकार-महोदधि से एक पद्य उद्धृत किया है, जो अलंकार-महोदधि के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता है^१। अलंकार-महोदधि का लेखन समाप्ति काल वि० सं० १२८२ है^२। इसी प्रकार पं० आशाधर जी की रचना “राजीमती विप्रलम्भ” अथवा ‘राजीमती परित्याग’ के कुछ पद्यों का उल्लेख भी इसमें किया गया है^३। पं० आशाधर जी के अनंगारधर्ममृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका का लेखन काल वि० सं० १३०० है^४। अतः वाग्भट-द्वितीय का समय उपर्युक्त विद्वानों के पश्चात् विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वाग्भट का यही समय पं० नाथूराम प्रेमी को भी अभीष्ट है^५।

वाग्भट-द्वितीय मेदपाट (मेवाड़) निवासी नेमिकुमार के पुत्र और मवकलप तथा महादेवी के पौत्र थे^६। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्रीराहड था, जिनके प्रति वाग्भट को अगाध श्रद्धा थी^७। इनके पिता नेमिकुमार ने अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य से राहडपुर में उत्तुङ्ग शिखर वाला भगवान् नेमिनाथ एवं नलोटकपुर में २२ देवकुलिकाओं से युक्त आदिनाथ का मंदिर बनवाया था^८।

आचार्य वाग्भट-द्वितीय ने अनेक नवीन और सुन्दर नाटकों एवं महाकाव्यों के अतिरिक्त छन्द तथा अलंकार विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है^९। काव्यानु-

१. आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० २०८।

२. नयनवसुसूर १२८२ वर्षे निष्पन्नायाः प्रमाणमेतस्याः।

—अलंकारमहोदधि, ग्रन्थकार प्रशस्ति, पद्य ११।

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खण्ड, पृ० ३६।

४. वही, पृ० ४३।

५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३३१।

६. काव्यानुशासन-वाग्भट, अलंकारतिलक-वृत्ति, पृ० १।

७. वही, पृ० १।

८. वही, पृ० १।

९. (क) श्रीमन्नेमिकुमारस्य नंदनो विनिर्मितानेकनव्यमव्यनाटकच्छन्दोऽलंकार महाकाव्यप्रमुखमहाप्रबन्धबन्धुरो पारतरशास्त्रसागरसमुत्तरणतीर्थयिमानशेषमुखीसमभ्यस्तसमस्तानवधविद्या विनोदकन्दलितसकलकलाकलापसंपदुद्भटो महाकविः श्रीवाग्भटोऽभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वमुपक्रमते।

—वही, पृ० १-२।

शासन के अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं—(१) ऋषभदेव-चरित महाकाव्य और (२) छन्दोऽनुशासन । जिनका उल्लेख काव्यानुशासन (पृ० १५, २० क्रमशः) में मिलता है । इनका विषय-विवेचन नाम से ही स्पष्ट है ।

काव्यानुशासन :

काव्यानुशासन महाकवि वाग्भट-द्वितीय का अलंकार विषयक ग्रन्थ है । इसकी रचना सूत्र शैली में की गई है । इस पर उन्होंने अलंकार-तिलक नामक स्वोपज्ञवृत्ति की भी रचना की है जिससे विषय को समझने में सहायता मिलती है । इस पर हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-शिक्षा, काव्य-स्वरूप, महाकाव्य, मुक्तक, रूपक, आख्यायिका और कथा आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम निरर्थक आदि १६ शब्द-दोषों का विवेचन किया गया है । ये दोष पद और वाक्य दोनों में होते हैं । बीच-बीच में दोष-परिहार का भी उल्लेख किया गया है । पुनः विसंधि आदि वाक्य दोषों और कष्ट-अपुष्ट आदि अर्थ दोषों का निरूपण किया गया है । अन्त में कान्ति-सौकुमार्य आदि दस गुणों का विवेचन कर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नामक तीन रीतियों का सलक्षण विवेचन है ।

तृतीय अध्याय में जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ६३ अर्थालंकारों का भेद निरूपण किया गया है । इसमें कितने ही अन्य, अपर, विहित आदि नवीन अलंकारों का समावेश किया है ।

चतुर्थ अध्याय में चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनस्त-वदाभास नामक शब्दालंकारों का भेद-प्रभेद सहित विवेचन किया है ।

पंचम अध्याय में सर्वप्रथम नव रसों का सांगोपांग निरूपण किया है । पुनः स्वशब्दोक्ति आदि दस रस-दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है । तत्पश्चात् नायक के धीरोदात्तादि चार भेद, धीरललित के अनुकूल शठ, धृष्ट और दक्षिण

(ख) नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जितस्फारोदारयश,

प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रयः ।

श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रज्ञालुचूडामणिः,

काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविवाग्भटः ॥—वही, पृ० ६८ ।

नामक चार प्रभेद, नायक के गुण, नायक के अनुचर, नायिका-भेद, स्त्री की आठ अवस्थाएँ, दस कामावस्थाएँ, और कैलादि-औचित्यों का विवेचन किया गया है ।

मण्डन-मन्त्री :

मण्डन का नाम प्रायः मण्डन मंत्री के रूप में जाना जाता है । ये श्रीमाल^१ वंश में पैदा हुए थे । इनके पिता का नाम बाहड़ और पितामह का नाम भांभड़ था । ये बड़े प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् और राजनीतिज्ञ थे । श्रीमन्त कुल में उत्पन्न होने के कारण उनमें लक्ष्मी एवं सरस्वती का अभूतपूर्व मेल था । ये उदार और दयालु प्रकृति के थे । अल्पवय में ही मण्डन मालवा में माँडवगढ़ के बाद-शाह होशंग के कृपापात्र बन गये थे और कालान्तर में उनके प्रमुख मन्त्री बने । सम्राट होशंग इनकी विद्वता पर मुग्ध थे । राजकार्य के अतिरिक्त बचे समय को मण्डन विद्वत्-सभाओं में ही व्यतीत करते थे । ये प्रत्येक विद्वान् और कवि का बहुत सम्मान करते थे तथा उनको भोजन-वस्त्र एवं योग्य पारितोषिक आदि देकर उनका उत्साहवर्धन करते थे । मण्डन संगीत के विशेष प्रेमी थे । इसके अतिरिक्त वे ज्योतिष, छन्द, अलंकार, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओं में भी निपुण थे । मण्डन की विद्वत्सभा में कई विद्वान् एवं कुशल कवि स्थायी रूप से रहते थे, जिनका समस्त व्यय वह स्वयं वहन करते थे । मण्डन के द्वारा लिखे एवं लिखवाये गये ग्रन्थों की प्रतियों में प्रदत्त प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि मण्डन विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक जीवित थे ।^२

मण्डन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से निम्न ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं—(१) कादम्बरी दर्पण, (२) चम्पूमण्डन, (३) चन्द्रविजयप्रबन्ध,

१. श्रीमद्वन्यजिनेन्द्रनिर्भरतते: श्रीमालवंशोन्नते:

श्रीमद्बाहड़नन्दनस्य दधतः श्रीमण्डनाख्यां कवे: ।

काव्येकौरवपाण्डवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणे

माधुर्यं पृथु काव्यमण्डन इते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥

—काव्यमण्डन, प्रथम सर्ग—अन्तिम प्रशस्ति ।

२. श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मंत्रीमंडन और उनका गौरवशाली वंश'

—पृ० १२८, १३४ ।

(४) अलंकारमण्डन, (५) काव्यमण्डन, (६) शृङ्गारमण्डन, (७) संगीतमण्डन, (८) उपसर्ग-मण्डन, (९) सारस्वतमण्डन, (१०) कविकल्पद्रुम^१ ।

अलंकारमण्डन :

प्रस्तुत कृति मण्डन मन्त्री की अलंकार विषयक रचना है। इसमें उन्होंने अलंकार-शास्त्रीय विषयों का समावेश किया है, जो नाम से ही स्पष्ट है।

अलंकार-मण्डन पाँच परिच्छेदों में विभाजित है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, उसके प्रकार और रीतियों का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में दोषों का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में गुणों का स्वरूप-दर्शन है। चतुर्थ परिच्छेद में रसों का निदर्शन है। पंचम परिच्छेद में अलंकारों का विवरण है।^२

भावदेवसूरि :

आचार्य भावदेवसूरि प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। उनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ-चरित की रचना वि०सं० १४१२ में श्रीपत्तन नामक नगर में की थी, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथ-चरित की प्रशस्ति में किया गया है।^३ भावदेवसूरि के गुरु का नाम जिनदेवसूरि था।^४ ये कालिकाचार्य सन्तानीय खण्डिलगच्छ की परम्परा के आचार्य थे।^५

आचार्य भावदेवसूरि ने अलंकार विषयक 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के अति-रिक्त और कितने तथा कौन-कौन से ग्रन्थों की रचना की है, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इन ग्रन्थों में परस्पर एक दूसरे का कहीं भी

१. श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मन्त्रीमण्डन और उनका गौरवशाली वंश', पृ० १३३ ।

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११८ ।

३. तेषां विनेयविनयी बहु भावदेव सूरिः प्रसन्न जिनदेवगुरुप्रसादात् ।

श्रीपत्तनाख्यनगरे रवि विश्ववर्षे पार्श्वप्रभोश्चरितरत्नमिदं ततान ॥

—पार्श्वनाथ-चरित, प्रशस्ति, १४ ॥

४. वही ।

५. आसीत् स्वामिसुधर्मसन्ततिभवो देवेन्द्रवन्धक्रमः,

श्रीमान् कालिकसूरिरद्भुतगुण ग्रामाभिरामः पुरा ।

जीयादेष तदन्वये जिनपति-प्रासाद तुंगाचल,

भ्राजिष्णुमुनिरत्नगौरवनिधिः खण्डिलगच्छाम्बुधिः ॥ वही, प्रशस्ति, ४ ॥

उल्लेख नहीं है, किन्तु 'पार्श्वनाथ-चरित'^१ 'जइदिणचरिया (यति-दिन-चर्या)^२ और 'कालिकाचार्यकथा'^३ नामक ग्रन्थों में कालिकाचार्य-सन्तानीय भावदेवसूरि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता प्रस्तुत भावदेवसूरि ही होंगे। उपर्युक्त समय निर्धारण उनके 'पार्श्वनाथ-चरित' के आधार पर किया गया है।

अगरचन्द नाहटा के एक लेख^४ से ज्ञात होता है कि भावदेवसूरि पर एक रास की रचना की गई है, जिसमें उनके शीलदेव आदि १८ स्थविर शिष्यों का उल्लेख है। रास में यह भी कहा गया है कि सं० १६०४ में भावदेवसूरि को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त उक्त लेख से यह भी ज्ञात हुआ है कि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी से सूरि जी के शिष्य मालदेव रचित 'कल्पान्तर्वाच्य' नामक ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है जिसकी रचना सं० १६१२ या १४ में की गई है, उसकी प्रशस्ति के एक पद्य^५ में कालिकाचरित का उल्लेख है इत्यादि। उक्त रास के नायक भावदेवसूरि को सं० १६०४ में प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' के रचयिता भावदेवसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' की रचना सं० १४१२ में की है। इन दोनों तिथियों में पर्याप्त अन्तराल है। अतः उक्त दोनों आचार्यों को एक ही मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। सम्भव है प्रशस्ति बाद में जोड़ी गई हो और लिपिकार ने भावदेवसूरि की प्रसिद्धि के कारण प्रमाद-वशात् कालिकाचरित का उल्लेख करने वाले उक्त पद्य का समावेश कर दिया हो।

१. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ५, १४।

२. सिरीकालिकसूरीणं वसुव्यव भावदेवसूरीहिं ।
संकलिया दिणचरिया एसा योवमइजण(ई) जोग्गा ॥

—यति दिनचर्या-प्रान्ते, गा० १५४ (अलंकार-महोदधि, प्रस्तावना;
पृ० १७)।

३. तत्पादपद्मधुपाः विज्ञाः श्रीभावदेवसूरीणाः ।

श्री कालिकाचरितं पुनः कृतं यैः स्वर्गीः पुत्र्यैः ॥

—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० ३८।

४. 'भावदेवसूरि एवं लाहौर के सुलतान सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य'—यह लेख जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग १४, किरण २ के ३७ पृष्ठ पर प्रकाशित है।

५. तत्पादपद्मधुपाः—स्वर्गीः पुत्र्यैः । —जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४;
किरण २, पृ० ३८।

काव्यालंकारसार-संग्रह :

आचार्य भावदेवसूरि विरचित 'काव्यालंकारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसमें आचार्य भावदेवसूरि ने प्राचीन ग्रन्थों से सारभूत तत्त्वों को ग्रहण कर संग्रहीत किया है।^१ यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिसकी विषयवस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप का निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में मुख्य, लाक्षणिक और व्यंजक नामक तीन शब्द-भेद, उनके अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीन अर्थभेद तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य नामक तीन व्यापारों का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति आदि ३२ पद-दोषों का निरूपण किया गया है। ये ३२ दोष वाक्य के भी होते हैं। तत्पश्चात् अपुष्टार्थ-कष्ट आदि आठ अर्थदोषों का नामोल्लेख कर किञ्चित् विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम वामन सम्मत दस गुणों का विवेचन कर भामह और आनन्दवर्धन सम्मत तीन-गुणों का विवेचन किया गया है। पुनः शोभा, अभिधा, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्ति, युक्ति, कार्य और सिद्धि नामक आठ काव्य-चिन्हों का विवेचन किया है।

पंचम अध्याय में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्त-वदाभास नामक छः शब्दालंकारों का सोदाहरण निरूपण किया है।

षष्ठ अध्याय में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ५० अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में पांचाली, लाटी, गौड़ी और वैदर्भी नामक चार रीतियों का निरूपण किया है।

अष्टम अध्याय में भाव, विभाव, अनुभाव आदि का मात्र नामोल्लेख है।
पद्मसुन्दरगणि :

श्वेताम्बर जैन विद्वान् पं० पद्मसुन्दरगणि नागौरी तपागच्छ के प्रसिद्ध

३. आचार्य भावदेवेन प्राच्यशास्त्र महोदधेः ।

आदाय साररत्नानि कृतो अलंकार-संग्रहः ॥

—काव्यालंकारसार-संग्रह, ८/८ ।

भट्टारक यति थे। इनके गुरु का नाम पद्ममेरु और प्रगुरु का नाम आनन्दमेरु था। पद्मसुन्दरगणि को मुगल बादशाह अकबर की सभा में बहु-सम्मान प्राप्त था। उनकी परम्परा के परवर्ती भट्टारक यति 'हर्षकीर्तिसूरि' की 'धातुतरंगिणी' के पाठ से ज्ञात होता है कि उन्होंने बादशाह अकबर की सभा में किसी महा-पण्डित को पराजित किया था, जिसके सम्मान स्वरूप उन्हें बादशाह अकबर की ओर से रेशमी वस्त्र, पालकी और ग्राम आदि भेंट में प्राप्त हुए थे, वे जोध-पुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा सम्मानित थे।^१ इतना ही नहीं इनके गुरु पद्ममेरु और प्रगुरु आनन्दमेरु को क्रमशः अकबर के पिता हुमायूँ और पितामह बाबर की राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।^२

पद्मसुन्दरगणि ने (अकबरसाहि)-शृङ्गार दर्पण की रचना वि० सं० १६२६ के आसपास की है तथा श्वेताम्बराचार्य हीरविजय की बादशाह अकबर से भेंट वि० सं० १६३६ में हुई थी, उस समय पद्मसुन्दरगणि का स्वर्गवास हो चुका था।^३ अतः पद्मसुन्दरगणि का समय विक्रम की १७वीं (ईसा की १६वीं का उत्तरार्ध) शताब्दी मानना उपयुक्त होगा।

पद्मसुन्दरगणि ने साहित्य, नाटक, कोष, अलंकार, ज्योतिष और स्तोत्र विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् राय-मल्ल से उनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। इसलिए उन्होंने कुछ ग्रन्थों की रचना राय-मल्ल के अनुरोध पर भी की है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—राय-मल्लाम्युदयकाव्य, यदुसुन्दर महाकाव्य, पार्श्वनाथचरित, जम्बूचरित, राज-

१. साहे: संसदि पद्मसुन्दरगणिजित्वा महापण्डितं,
 क्षौमग्राम-सुखासनाकबर श्रीसाहितो लब्धवान् ।
 हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मन्यो वदाम्योधिकं,
 श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचः पद्माह्वयं पाठकम् ॥

—जैन साहित्य और इतिहास —नाथूराम प्रेमी, पृ० ३६५ का सन्दर्भ।

२. मान्यो बाप (ब) र मृभुजोऽत्र जयराट् तद्वत् हमाऊं नृपो-
 त्यर्थे प्रीतिमनाः सुमान्यमकरोदानंदराया भिवं ।
 तद्वत्सा हि शिरोमणेरकबरक्षमापाल चूडामणे-
 र्मान्यः पंडितपद्मसुन्दर इहाभूत पंडितव्रातजित् ॥

—अकबरसाहि-शृङ्गारदर्पण-भूमिका, पृ० २०।

३. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ३६६।

प्रबन्धीय नाट्यपदमंजिका, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादद्वात्रिशिका, प्रमाणसुन्दर, सारस्वतरूपमाला, सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव, हायन-सुन्दर, पद्मभाषागर्भितनेमिस्तव, वरमंगलिकास्तोत्र, भारतीस्तोत्र, भविष्यदत्तचरित और ज्ञान-चन्द्रोदय नाटक आदि । डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इनकी केवल दो ही रचनाओं का उल्लेख किया है । भविष्यदत्त-चरित और रायमल्लाम्युदय महाकाव्य ।^१ जबकि पं० नाथूराम प्रेमी^२ और डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी^३ ने इनकी अन्य कृतियों का भी सप्रमाण उल्लेख किया है ।

अकबरसाहि शृंगार दर्पण :

प्रस्तुत अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थ मुगल बादशाह अकबर की प्रशंसा में रचा गया है । इसके प्रत्येक उल्लास के अन्त में अकबर प्रशस्ति-पद्यों की रचना की गई है । अकबरसाहिशृङ्गार-दर्पण की तुलना दशरूपक और नाट्य-दर्पण से की जा सकती है, क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है । चार उल्लासों में विभाजित इस ग्रन्थ में कुल ३४५ पद्य हैं ।

प्रथम उल्लास में कवि ने सर्वप्रथम आठ पद्यों में अकबर के पूर्वजों तथा अकबर का विरुद्धान किया है । पुनः नवरस, स्थायीभाव गणना, रस-लक्षण तथा व्यभिचारी भावों और सात्त्विक भावों की संख्या का निर्देश किया है । शृंगाररस स्वरूप, उसके भेद-प्रभेदों का सोदाहरण निरूपण, नायक-स्वरूप, सलक्षणोदाहरण नायक-भेद, नर्मसचिव-स्वरूप, उसके पीठमर्द, विट और विदूषक इन तीन भेदों का निरूपण, नायिका-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है ।

द्वितीय उल्लास में परकीया के दो भेद बतलाये गये हैं—कन्या और उढा । पुनः परवधू द्वारा नायक के अनेक प्रकार से दर्शनों का अनुभव करने का उल्लेख है । तत्पश्चात् अन्यदीयकन्या-स्वरूप, मुग्धा (नायिका) चेष्टा, उद्धतमन्मथा, दुःखसंस्था, पणांगना तथा स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जिका अभिसन्धिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, अभिसारिका एवं प्रोषितपतिका इन आठ नायिका भेदों के सोदाहरण लक्षण दिए हैं । इसी क्रम में उत्तम, मध्यम और अधम नायिकाओं का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया गया है ।

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ८३ ।

२. द्रष्टव्य—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६६-३६७ ।

३. द्रष्टव्य—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६७ ।

तृतीय उल्लास में विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद—पूर्वानुराग, मानात्मा, प्रवास और करुण, काम की दस अवस्था—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडत्व और मरण, शृंगाराभास, परस्त्रीसंगमोपाय मान के तीन भेद—गुरु, मध्य और लघु, मानिनी नायिका को मनाने के छः उपाय—साम, दान, भेद, उपेक्षा, प्रणति और प्रसंग विभ्रम आदि का विवेचन किया गया है। पुनः पति के लिए अनुराग पूर्वक तथा अश्रीतिपूर्वक प्रयुक्त नामों का उल्लेख किया गया है। अन्त में प्रवास विषयक वर्णन है।

चतुर्थ उल्लास में सर्वप्रथम विप्रलम्भ के चतुर्थ भेद करुण का सलक्षणो-दाहरण विवेचन किया गया है। पुनः प्रतिवेशमा, नटी, चेटो, कारु, घात्री, शिल्पिनी, वाला और तपस्विनी आदि नायिका की सखियों (सहायिकाओं) के नाम, उनके गुण तथा कौतुक, मण्डन, रक्षा, उपालम्भ, प्रसादन, सहयोग और विरह में आश्वासन आदि सखियों के कार्यों का उल्लेख, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्तरस का सभेद स्वरूप, उदाहरण तथा उनके अनुभाव आदि का वर्णन विरोधी रस समावेश और शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत रस में पाये जाने वाले भावों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती इन चार रीतियों का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में काव्य दूषण, प्रत्यनीक-रस, विरस, दुःसन्धानरस, नीरसकाव्य, दुष्टपात्र आदि का वर्णन किया गया है।

सिद्धिचन्द्रगणि :

सिद्धिचन्द्रगणि अपने समय के महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। ये तापगच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्रगणि के शिष्य थे। भानुचन्द्रगणि और सिद्धिचन्द्रगणि को मुगल बादशाह अकबर के दरबार में समान रूप से सम्मान प्राप्त था। सिद्धिचन्द्रगणि शतावधानी थे। उनके प्रयोग देखकर बादशाह अकबर ने 'खुशफहम' (तीक्ष्ण बुद्धि) की मानप्रद उपाधि प्रदान की थी,^१ जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचित प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से होती

१. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४।

है^१। इन प्रशस्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने प्रभाव के द्वारा शत्रुजय तीर्थ पर लगे हुए कर को माफ कराया था तथा सिद्धाचल पर्वत पर मंदिर निर्माण कार्य में बाधक राजकीय निशेधाज्ञा को भी हटवाया था^२।

सिद्धिचन्द्रगणि अपने गुरु भानुचन्द्रगणि के अनेक साहित्यिक अनुष्ठानों के सहयोगी थे^३। बाणभट्ट रचित कादम्बरी पर अपने गुरु के साथ लिखी गई इनकी टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस टीका के अध्ययन से इनके कोश विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, ये छः शास्त्रों के ज्ञाता तथा फारसी के अध्येता थे^४।

सिद्धचन्द्रगणि ने धातुमंजरी नामक ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६५० (ई० सन् १५९३)^५ और काव्यप्रकाश-खण्डन की रचना वि० सं० १७०३ (ई० सन् १६४६)^६ में की थी तथा वासवदत्ता की टीका संवत् १७२१ (ई० सन् १६६५)^७ में की थी। अतः इनका साहित्यिक-काल उक्त तिथियों के मध्य मानना होगा। इतना लम्बा साहित्यिक काल इनके दीर्घजीवी होने का पुष्ट प्रमाण है।

१. कादम्बरी-टीका उत्तरार्द्ध की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है—इति श्रीपादशाहश्रीअकबरजलालदीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रुजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकमुक्त विधायकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिस्तन्निष्ठायाष्टोत्तरशतावधानसाधकप्रमुदितपादशाहश्रीअकबरप्रदत्तखुष्फह मापराभिधानमहोपाध्यायश्रीसिद्धचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीटीकामुत्तरखण्डटीका समाप्ता।

—भानुचन्द्रगणिचरित—सिद्धिचन्द्रकृतग्रन्थ प्रशस्त्यादि, पृ० ५८।

२. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २१९।

४. कर्त्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्तत्रादिनाम्।

वेत्ता षडपि शास्त्राणामव्येता फारसीमपि॥

—(भक्तामरस्तोत्रवृत्ति,) भानुचन्द्रगणिचरित, पृ० ५९।

५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ४५।

६. संवत् १७०३ वर्षे आश्विन शुदि ५ गुरो लिखितम्—काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० १०१। भानुचन्द्रगणि चरित संग्रहीत काव्यप्रकाश खण्डन की प्रशस्ति में लेखन काल संवत् १७२२ लिखा है।—भानुचन्द्रगणि चरित, पृ० ६२।

७. वही, पृ० ६१।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि सिद्धिचन्द्रगणि एक महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। इन्होंने व्याकरण-न्याय और साहित्य-शास्त्र का ठोस ज्ञान था। जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचे गये साहित्य से होती है। सूक्ति-रत्नाकर इनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का द्योतक है। उनके द्वारा विरचित अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थों की संख्या १६ है, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—कादम्बरी उत्तरार्द्ध टीका, शोभनस्तुति टीका, वृद्धप्रस्तावोक्ति-रत्नाकर, भानुचन्द्र-चरित, भक्तामरस्तोत्र-वृत्ति, तर्कभाषा-टीका, जिनशतक-टीका, वासवदत्ता-टीका, काव्य-प्रकाश-खण्डन, अनेकार्थोपसर्ग-वृत्ति, धातुमंजरी, आख्यातवाद-टीका, प्राकृत-सुभाषित संग्रह, सूक्तिरत्नाकर, मंगलवाद, सप्तस्मरणवृत्ति, लेखलिखनपद्धति और संक्षिप्त कादम्बरी कथानक^१। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश-खण्डन में काव्य-प्रकाश पर लिखी गई गुरु नामक वृहद् टीका का भी उल्लेख मिलता है^२।

काव्यप्रकाशखण्डन :

आचार्य मम्मट विरचित काव्यप्रकाश का सीधा-सीधा अर्थ लगाना ही दुष्कर है, पुनः उसका खण्डन करना तो और भी अतिदुष्कर है। किन्तु आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ने काव्यप्रकाश का खण्डन कर अपनी प्रखर बुद्धि का मेरुदण्ड स्थापित किया है। इन्होंने काव्यप्रकाश के उन्हीं स्थलों का खण्डन किया है, जिनमें उनकी असहमति थी। प्रस्तुत रचना के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मुनि जिनविजय ने लिखा है कि—‘महाकवि मम्मट ने काव्य-रचना विषयक जो विस्तृत विवेचन अपने विशद् ग्रन्थ में किया है, उसमें से किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन एवं किसी निरसन सम्बन्धी उल्लेख को सिद्धिचन्द्रगणि ने ठीक नहीं माना है और इसलिये उन्होंने अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत रचना का निर्माण किया^३। अतः इस ग्रन्थ के अध्ययन से उनकी नवीन मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, जिनमें वैराग्य की झलक दृष्टिगोचर होती है।

काव्यप्रकाश-खण्डन काव्यप्रकाश की तरह दस उल्लासों में विभक्त है। इसमें प्रत्येक उल्लास के विषय का उसी क्रम से खण्डन किया गया है, जिस

१. भानुचन्द्रगणिचरित—इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७१-७४।

२. अस्मत्कृतवृहद्वीकातोऽवसेयः (पृ० ३) गुरुनाम्ना वृहद्वीकातः, पृ० ६४।

३. काव्यप्रकाश-खण्डन—किञ्चित् प्रास्ताविक, पृ० ३।

क्रम से आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में विषय-वस्तु का गुम्फन किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धिचन्द्रगणि ने उन्हीं विषयों का खण्डन किया है, जिनमें उनकी असहमति है।

प्रथम उल्लास में सर्वप्रथम 'नियतिकृत नियमरहितां—'। इत्यादि मंगला-चरण का खण्डन किया है, जिसमें यह कहा गया है कि कवि की सृष्टि में भी छन्द, रस, रीति, भाषा और उपमान का बन्धन होता है तथा काव्य सुख-दुःख और मोहात्मक स्वरूप वाला ही सम्भव है। इसी प्रकार काव्य को चतुर्वर्ग का साधन स्वीकार करते हुए यश-प्राप्ति आदि काव्य प्रयोजनों का खण्डन किया है। पुनः काव्य-स्वरूप का खण्डन कर विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-स्वरूप का समर्थन किया है। अन्त में रसवादियों द्वारा मान्य काव्य के चित्र-भेद नामक तृतीय भेद का खण्डन किया है।

द्वितीय उल्लास में व्यंजना का खण्डन करके महिमभट्ट आदि की तरह द्वितीयार्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा स्वीकार की है।

तृतीय उल्लास में आर्थी-व्यंजना के कुछ भेदों का उल्लेख कर खण्डन किया है।

चतुर्थ उल्लास में शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत इन चार रसों को स्वीकार करते हुए, शेष करुणादि रसों का खण्डन किया गया है। जिसमें बतलाया है कि करुण के मूल में शोक होने से रस नहीं है। वीररस में मांस-पूय आदि की उपस्थिति से वमन आदि नहीं होता है यही आश्चर्य है, पुनः परमानन्द रूप रस कहाँ सम्भव है। इसी प्रकार भय में रसास्वादन कहाँ? शान्त के मूल में सर्व विषयों का अभाव होने से रस नहीं है तथा वीर और रौद्र में विभावादि साम्य के कारण अभेद होने से रौद्र को पृथक् रस नहीं माना है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य-काव्य के भेदों का उल्लेख प्रस्तुत कर समीक्षा की है।

षष्ठ उल्लास में चित्रकाव्य के शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र इन दो भेदों का समर्थन किया है।

सप्तम उल्लास में दोष-स्वरूप का खण्डन करते हुए दो दोषों को स्वीकार किया है—(१) कथनीय का अकथन, और (२) अकथनीय का कथन। पुनः विषय के स्पष्टीकरण हेतु दोषों का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख कर कुछ दोषों का

पूर्व दोषों में अन्तर्भाव किया है तथा कुछ का नवीनों के मत को प्रस्तुत करते हुए खण्डन किया है। अर्थदोषों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त पदादि दोषों में किया गया है। अन्त में रसदोषों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में भी खण्डन-शैली पूर्वोक्त प्रकार है।

अष्टम उल्लास में सर्वप्रथम गुण और अलंकारों का भेद प्रदर्शन किया गया है। गुण-स्वरूप प्रसंग में नवीनों के अनुसार रस के उत्कर्षाधायक हेतु रसधर्म को स्वीकार किया है। पुनः माधुर्यादि तीन गुणों का विवेचन कर वामन सम्मत दस गुणों का उल्लेख किया है तथा रसोत्कर्षक होने से दस शब्द-गुणों को स्वीकार किया है। इसी प्रकार दस अर्थगुणों का भी समर्थन किया है और नवीनों के मत को उद्धृत करते हुए आस्वाद के हेतु भूत गुणों का अपलाप करने वाले काव्यप्रकाशकार का खण्डन किया है।

नवम उल्लास में शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है।

दशम उल्लास में अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। जिसमें कतिपय अलंकारों का विभिन्न अलंकारों के अन्तर्गत समावेश किया गया है। यथा-व्याघात का विरोध में अन्तर्भाव आदि।

अप्रकाशित (असुद्रित), अनुपलब्ध एवं टीका ग्रन्थ

कविशिक्षा—यह आचार्य वप्पभट्टसूरि (वि० सं० ८००-८१५) की कृति है। जो अद्यावधि अनुपलब्ध है^१।

कल्पलता—यह वि० सं० १२०५ से पूर्व रचित अम्बाप्रसाद की कृति है^२।

कल्पलता-पल्लव—(संकेत) : यह अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर रचित कल्पपल्लव नामक टीका है^३।

कल्पपल्लवशेष-विवेक—यह भी अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर पर स्वोपज्ञ टीका है^४।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १००।

२. वही, पृ० १०३।

३. वही, पृ० १०५।

४. वही, पृ० १०५।

वाग्भटालंकार-वृत्ति—वाग्भट प्रथम के वाग्भटालंकार पर रचित जैन एवं जैनेतर आचार्यों की लगभग १७ टीकाएँ प्राप्त होती हैं। टीकाकारों के नाम निम्न प्रकार हैं—(१) सिंहदेवगणि,^१ (२) सोमदेवगणि,^२ (३) उपाध्याय राजहंस,^३ (४) ज्ञानप्रमोदगणिवाचक,^४ (५) जिनवर्धन सूरि,^५ (६) उपाध्याय समयमुन्दरगणि,^६ (७) मुनिक्षेमहंसगणि,^७ (८) आचार्य वर्द्धमानसूरि,^८ (९) मुनिकुमुदचन्द्र,^९ (१०) मुनिसाधुकीर्ति,^{१०} (११) अज्ञातनामा^{११} मुनि, (१२) वादिराज,^{१२} (१३) प्रमोदमाणिक्यगणि,^{१३} (१४) उपाध्याय

१. यह टीका निर्णयसागर प्रेस, बम्बई एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है।

२. इस टीका की हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में है।

—द्रष्टव्य : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०६।

३. इस टीका की हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में है।

—द्रष्टव्य : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०७।

४. इस टीका की हस्तलिखित प्रति अहमदाबाद के डेला भंडार में है।

—वही, पृ० १०७।

५. इस टीका की हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई जैन संस्कृति विद्या-मंदिर, अहमदाबाद में है।

—वही, पृ० १०७।

६. द्रष्टव्य : जिनरत्नकोश, पृ० ३४७।

७. यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

—द्रष्टव्य : अलंकार शास्त्र की परम्परा, पृ० १२०।

८. द्रष्टव्य : जैन ग्रन्थावली, पृ० ३१२।

९. वही, पृ० ३१२।

१०. इस टीका की रचना वि० सं० १६२०-२१ में हुई है।

—द्रष्टव्य : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

११. द्रष्टव्य : जिनरत्नकोश, पृ० ३४७।

१२. इस टीका की रचना वि० सं० १७२९ में हुई है।

—द्रष्टव्य : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८।

१३. वही, पृ० १०८।

मेरुसुन्दर^१, (१५) उदयसागर,^२ (१६) जैनेतर विद्वान् गणेश^३ और (१७) कृष्णवर्मा^४ ।

अलंकार चूड़ामणि वृत्ति—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित उपाध्याय यशोविजयगणिकृत वृत्ति है, जो अभी तक अनुपलब्ध है^५ ।

काव्यानुशासन वृत्ति—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित विजयलावण्यसूरिकृत वृत्ति है, जिसका प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है^६ ।

काव्यानुशासन अवचूरि—यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन पर रचित विजयसुशीलसूरिकृत अवचूरि है ।^७

कविशिक्षा—यह विक्रम की १३वीं शताब्दी में रचित आचार्य जयमंगलसूरि की कृति है । इसकी तालपत्रीय प्रति शान्तिनाथ भंडार, खंभात में है ।^८

कविता रहस्य—यह अरिसिंह की रचना है, जिसका उल्लेख अमरचन्द्रसूरि ने काव्यकल्पलता-वृत्ति में किया है,^९ जो अभी तक अनुपलब्ध है ।

काव्यकल्पलता परिमल वृत्ति—यह अमरचन्द्रसूरि द्वारा रचित काव्य-कल्पलता पर स्वोपज्ञ वृत्ति है, जिसकी दो हस्तलिखित अपूर्ण प्रतियाँ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में हैं^{१०} ।

१. इस टीका की वि० सं० १५३५ की हस्तलिखित प्रति स्टेट लाइब्रेरी, जोधपुर में है ।

—मणिधारी श्रीजिन चन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ; द्वितीयखंड, पृ० ३६ ।

२. इस टीका की १७ वीं शताब्दी की हस्तलिखित प्रति सरस्वती भंडार, उदयपुर में है ।

—वही, पृ० ३६ ।

३. यह टीका प्रकाशित हो चुकी है ।

—द्रष्टव्य : अलंकारशास्त्र की परम्परा, पृ० १२० ।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०८ ।

५. वही, पृ० १०३ ।

६. वही, पृ० १०३ ।

७. वही, पृ० १०३ ।

८. वही, पृ० १०८-१०९ ।

९. काव्यकल्पलता वृत्ति, पृ० १ ।

१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११४ ।

काव्यकल्पलतामंजरी वृत्ति—यह भी अमरचन्द्रसूरि द्वारा रचित काव्य-कल्पलता पर स्त्रोपज्ञ वृत्ति है, जो अभी तक अनुपलब्ध है^१ ।

काव्यकल्पलता वृत्ति मकरन्द टीका—यह अमरचन्द्रसूरि की काव्य-कल्पलता पर वि० सं० १६६५ में शुभविजय जी द्वारा रचित मकरन्द नामक टीका है, जिसकी प्रतियाँ जैसलमेर के भंडार और अहमदाबाद स्थित हाजा पटेल की पोल के उपाश्रय में हैं^२ ।

काव्यकल्पलता वृत्ति टीका—यह उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा अमरचन्द्रसूरि की काव्य कल्पलता पर रचित टीका है^३। इसकी प्रति अहमदाबाद में विमलगच्छ के उपाश्रय में है^४ ।

काव्यकल्पलता वृत्ति बालावबोध—नेमिचन्द्र भंडारी नामक विद्वान् ने अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता पर प्राचीन गुजराती में बालावबोध नामक वृत्ति लिखी है^५ ।

अलंकार-प्रबोध—यह आचार्य अमरचन्द्रसूरि की कृति है,^६ जो अद्यावधि अनुपलब्ध है ।

शृंगारमंजरी—यह आचार्य अजितसेन की कृति है । डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने इसका लेखन काल १२४५ ई०^७ तथा पं० अम्बालाल प्रे० शाह ने विक्रम की दसवीं शताब्दी माना है^८ । डॉ० जैन अलंकार-चिन्तामणि और शृंगारमंजरी इन दोनों के रचयिता एक ही अजितसेन को मानते हैं, किन्तु पं० शाह भिन्न-भिन्न रचयिता मानते हैं । पं० शाह के अनुसार अलंकार-चिन्तामणि के रचयिता अजितसेन ईसा की अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं^९ ।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११४ ।

२. वही, पृ० ११४ ।

३. जिनरत्नकोश, पृ० ८६ ।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११५ ।

५. वही, पृ० ११५ ।

६. द्रष्टव्य : काव्यकल्पलता वृत्ति, पृ० ११६ ।

७. जैन सन्देश (शोधार्क २), १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७६ ।

८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०० ।

९. वही, पृ० १२२ ।

काव्यकल्पलता वृत्ति बालावबोध—यह मुनि मेरुसुन्दर द्वारा अमर-चन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता वृत्ति पर वि० सं० १५३५ में प्राचीन गुजराती में रचित बालावबोध नामक टीका है ।

अलंकार-संग्रह—यह अमृतानन्द योगिन् की रचना है । इसे भ्रमवशात् कन्नड़ जैन कवि अमृतनन्दी की रचना मान लिया है^२ । यथार्थ में यह कृति जैनेतर आचार्य की है । इसका प्रकाशन 'दी अद्यार लाइब्रेरी, मद्रास' से सन् १९४९ में व्ही० कृष्णमाचार्य और के० रामचन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में हो चुका है । इसके उपोद्घात के अध्ययन से जैनाचार्य की कृति होने का सन्देह समाप्त हो जाता है ।

कविमुखमण्डन—यह पं० ज्ञानमेरु द्वारा रचित कृति है, इसकी रचना विक्रम की १७ वीं शताब्दी में हुई है, जिसकी प्रति उपलब्ध है^३ ।

कविमद परिहार—यह शान्तिचन्द्र की कृति है, इसकी रचना वि० सं० १७०० के आसपास हुई है^४ ।

कविमद परिहार वृत्ति—यह शान्तिचन्द्र की कविमदपरिहार पर रचित स्वोपज्ञ वृत्ति है^५ ।

मुग्धमेधालंकार—इसके रचयिता रत्नमण्डनगणि हैं । इसका लेखन काल १७ वीं शताब्दी है तथा इसकी प्रति भांडारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, पूना में है^६ ।

मुग्धमेधालंकार वृत्ति—यह किसी विद्वान् द्वारा मुग्धमेधालंकार पर रचित वृत्ति है, जिसकी प्रति भांडारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट पूना, में है^७ ।

काव्यलक्षण—यह अज्ञातकर्तृक रचना है^८ ।

कर्णालिकार मंजरी—यह त्रिमल्ल नामक किसी विद्वान् की रचना है^९ ।

प्रक्रान्तालंकार वृत्ति—यह जिनहर्ष के शिष्य की रचना है । इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भंडार में है^{१०} ।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११५ ।

२. वही, पृ० ११७-११८ ।

३. वही, पृ० १२१ ।

४. वही, पृ० १२१ ।

५. जिनरत्नकोश, पृ० ८२ ।

६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२१ ।

७. वही, पृ० १२२ ।

८. जैन ग्रन्थावली, पृ० ३१६ ।

९. वही, पृ० ३१५ ।

१०. जिनरत्नकोश, पृ० २५७ ।

अलंकार चूर्णि—यह किसी अज्ञात विद्वान् की रचना है, जिसकी प्रति सूरत में उपलब्ध है^१ ।

अलंकार-चिन्तामणि वृत्ति—यह अजितसेन की कृति अलंकार-चिन्तामणि पर रचित किसी अज्ञात विद्वान् की टीका है, जो मैसूर में उपलब्ध है^२ ।

वक्रोक्ति पंचाशिका—यह रचना रत्नाकार नामक विद्वान् की है^३ ।

रूपक मंजरी—यह विक्रम संवत् १६४४ में रचित रूपचन्द्र की कृति है^४ ।

रूपक माला—इस नाम की तीन कृतियाँ पाई जाती हैं । उनमें से प्रथम की रचना उपाध्याय पुण्यनन्दन ने की है, जिस पर समयसुन्दरगणि ने वि० सं० १६६३ में वृत्ति की रचना की है, द्वितीय कृति की रचना पार्श्वनाथसूरि ने वि० सं० १५८६ में की है । तृतीय कृति की रचना किसी अज्ञातनामा मुनि ने की है^५ ।

काव्यादर्श वृत्ति—महाकवि दण्डी रचित काव्यादर्श पर त्रिभुवनचन्द्र अपर नाम वादीसिंहसूरि ने टीका की रचना की है । इसकी वि० सं० १७५८ की हस्तलिखित प्रति बंगला लिपि में है ।^६

काव्यालंकार वृत्ति—महाकवि रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु नामक श्वेताम्बर जैन विद्वान् ने वि० सं० ११२५ में वृत्ति लिखी है^७, जो हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है ।

काव्यालंकार निबन्धन वृत्ति—दिगम्बर जैन विद्वान् पंडितप्रवर आशाधर

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १७ ।

२. वही, पृ० १७ ।

३. जैन ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१२ ।

४. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृष्ठ १२३ ।

५. वही, पृ० १२३ ।

६. वही, पृ० १२३-१२४ ।

७. पंचविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः ।

विक्रमात्समतिक्रांतेः प्रावृषीदं समर्थितं ॥

—काव्यालंकारवृत्ति-अन्तिमप्रशस्ति, पृ० ४२८ ।

ने वि० सं० १२६६ के आसपास रुद्रट के काव्यालंकार पर निबन्धन नामक वृत्ति लिखी थी, जिसका उल्लेख सागारधर्माभूत की प्रशस्ति में मिलता है।^१

काव्यप्रकाश संकेत वृत्ति—आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश पर माणिक्य-चन्द्रसूरि ने वि सं० १२६६ में संकेत नामक वृत्ति लिखी है।^२ यह काव्यप्रकाश पर लिखी गई समस्त टीकाओं से प्राचीन है। इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना से हुआ है।

काव्यप्रकाश टीका—यह विक्रम की १६वीं शताब्दी में मुनि हर्षकुल द्वारा मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित टीका है।^३

सारदीपिका वृत्ति—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित गुणरत्नगणि की सारदीपिका नामक टीका है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भांडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना^४ एवं बीकानेर^५ में उपलब्ध हैं।

काव्यप्रकाश वृत्ति—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर जयानन्दसूरि द्वारा रचित वृत्ति है।^६

काव्यप्रकाश वृत्ति—यह उपाध्याय यशोविजयगणि द्वारा काव्यप्रकाश पर रचित वृत्ति है, जिसका लेखन काल १७वीं शताब्दी है। इसका थोड़ा अंश अभी मिला है।^७

काव्यप्रकाश गुरु टीका—यह मम्मट के काव्यप्रकाश पर रचित गुरु नामक बृहत् टीका सिद्धिचन्द्रगणि की रचना है, जिसका उल्लेख काव्यप्रकाश खण्डन में किया गया है।^८ अतः इसका रचना काल वि० सं० १७१४ के पूर्व होना चाहिए।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२४।

२. वही, पृ० १२५।

३. वही, पृ० १२५।

४. वही, पृ० १२५।

५. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

६. जिनरत्नकोश, पृ० ६०।

७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२६।

८. काव्यप्रकाश खण्डन, पृ० ३ और ६४।

काव्यप्रकाश टीका (नवमोल्लासस्य)—यह काव्यप्रकाश के मात्र नौवें उल्लास पर लिखी गई क्षमामाणिक्य की रचना है। इसका लेखन काल वि० सं० १८८४ है, जिसकी हस्तलिखित प्रति बड़ा भण्डार, वीकानेर में उपलब्ध है।^१

सरस्वतीकण्ठाभरण वृत्ति (पदप्रकाश)—मालवाधीश भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण पर भाण्डागारिक पार्श्वनाथ के पुत्र आजड ने पदप्रकाश नामक टीका की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भण्डार में खण्डित अवस्था में है।^२

विदग्धमुखमण्डन-अवचूरि—बौद्ध विद्वान् धर्मदास के विदग्ध मुखमण्डल पर अनेक जैनाचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं, जिसमें जिनप्रभसूरि ने १४वीं शताब्दी में उक्त ग्रन्थ पर एक अवचूरि लिखी है।^३

विदग्धमुखमण्डन टीका—यह विदग्धमुखमण्डन पर रचित शिवचन्द्र की सुबोधिका नामक टीका है। इसकी रचना वि० सं० १६६६ में हुई है।^४

विदग्धमुखमण्डन वृत्ति—मुनि विनयसागर ने वि० सं० १६६६ में विदग्धमुखमण्डन पर एक वृत्ति लिखी है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।^५

विदग्धमुखमण्डन वृत्ति—विनयरत्न ने १७वीं शताब्दी में विदग्धमुखमण्डन पर वृत्ति की रचना की है।^६

विदग्धमुखमण्डन टीका—मुनि भीमविजय ने विदग्धमुखमण्डन पर एक टीका लिखी है, जो सूरत में उपलब्ध है।^७

विदग्धमुखमण्डन अवचूरि—अज्ञातनामा किसी जैन मुनि ने विदग्ध-

१. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२७।

३. मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।

५. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।

६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।

७. जिनरत्नकोश, पृ० ३५५।

मुखमण्डन पर अवचूरि लिखी है। अवचूरि के प्रारम्भ में 'स्मृत्वा जिनेन्द्रमपि' लिखा है। अतः जैन मुनि की रचना होने का अनुमान है।^१

विदग्धमुखमण्डन टीका—ककुदाचार्य सन्तानीय किसी मुनि ने विदग्ध-मुखमण्डन पर एक टीका लिखी है। जिसका उल्लेख अगरचन्द नाहटा ने भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक ३ में 'जैनैतर ग्रन्थों पर जैन विद्वानों की टीकाएँ' शीर्षक लेख में प्रकाशित किया है।^२

विदग्धमुखमण्डन बालावबोध—उपाध्याय मेरुसुन्दर ने विदग्धमुख-मण्डन पर प्राचीन गुजराती पर बालावबोध नामक टीका लिखी है। यह वि० की १६वीं शताब्दी की रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति कोटडी भण्डार, जोधपुर में उपलब्ध है।^३

विदग्धमुखमण्डन दर्पण—रत्नमूर्ति के शिष्य उपाध्याय श्रीवल्लभ ने विक्रम की १७वीं शताब्दी में विदग्धमुखमण्डन पर 'दर्पण' नामक टीका की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति अभय भण्डार, बीकानेर में उपलब्ध है।^४

अलंकारावचूर्णि—यह किसी अज्ञातनामा जैन मुनि की अज्ञात ग्रन्थ पर लिखी गई अवचूर्णि है।^५

अनूपशृंगार—यह उदयचन्द्र द्वारा रचित वि० सं० १७२८ की रचना है, जिसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।^६

भाव शतक—यह उपाध्याय समयसुन्दर की कृति है, जिसका लेखन काल वि० सं० १६४१ है। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में उपलब्ध है।^७

रसमञ्जरी—यह विक्रम की १७वीं शताब्दी में रचित शिवनिधान के

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२८।
२. वही, पृ० १२८।
३. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।
४. वही पृ० ३६।
५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२९।
६. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० ३६।
७. वही, पृ० ३६।

शिष्य महिमसिंह (मानकवि) की रचना है, जिसकी हस्तलिखित प्रति अमय भण्डार, बीकानेर में उपलब्ध है ।^१

चतुरप्रिया—यह वि० सं० १७०४ में लिखित दयारत्नआद्यपक्षीय के शिष्य कीर्तिवर्द्धन (केशव) की रचना है । इसकी हस्तलिखित प्रति राजस्थान शोध संस्थान, चौपासनी में उपलब्ध है ।^२

पाण्डित्यदर्पण—यह वि० सं० १७३४ में लिखित उदयचन्द्र की रचना है । इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है ।^३

रसिकप्रिया टीका—यह समयमाणिक्य (समरथ) की रचना है, जिसका लेखनकाल वि० सं० १७५५ है । इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में उपलब्ध है ।^४



१. वही, पृ० ३६ ।

२. वही, पृ० ३६ ।

३. वही, पृ० ३६ ।

४. वही, पृ० ३६ ।

कवि :

जिस काव्य के रसास्वादन से सहृदय को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उस काव्य के रचयिता अर्थात् कवि का स्वरूप क्या है ? इसकी जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है । इस विषय में अलंकार-शास्त्रियों ने दो प्रकार से विचार व्यक्त किए हैं । प्रथम कोटि में वे लोग आते हैं जिन्होंने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से लिख दिया है—जैसे आचार्य राजशेखर, विनयचन्द्रसूरि, विजयवर्णी एवं अजितसेन आदि । द्वितीय कोटि में वे लोग आते हैं जिन्होंने काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण किया है—जैसे आचार्य भामह, दण्डी, सम्भट, वाग्भट-प्रथम, हेमवन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट-द्वितीय एवं भावदेवसूरि आदि ।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य भामह ने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से न कहकर काव्य-कारण के व्याज से कहा है । उन्होंने लिखा है कि—व्याकरण, छन्द, अभिधान (कोश) अर्थ, इतिहास के आश्रित कथाएँ, लोक व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्य-रचना के लिये कवि को मनन करना चाहिए^१ । यह सम्पूर्ण विवेचन व्युत्पत्ति के अन्तर्गत आता है, अतः जिस व्यक्ति को उपयुक्त विषयों का ज्ञान हो वह अभ्यास के माध्यम से कविता कर सकता है अर्थात् वह कवि है । राजशेखर ने 'कवृ वर्णने' धातु से कवि की उत्पत्ति मानी है, जिसका अर्थ होता है वर्णन-कर्त्ता अर्थात् जो वर्णन करे वह कवि कहलाता है^२ । इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र लिखा है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि, कवि कहलाता है^३ । आचार्य दण्डी ने काव्य-सम्पदा के कारणों के व्याज से कवि की योग्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि—

१. काव्यालंकार, भामह, १।६ ।

२. काव्यमीमांसा, पृ० १७ ।

३. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते । —काव्यमीमांसा, पृ० ४३ ।

स्वभावोत्पन्न प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल श्रुताध्ययन और उसकी बहु-योजना ही काव्य-सम्पदा है^१ अर्थात् दण्डी के अनुसार प्रतिभा और श्रुताभ्यास ये दोनों कवि में होना अनिवार्य है। आचार्य मम्मट ने यद्यपि कवि के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है तथापि काव्य-कारण के व्याज से उन्होंने कवि की योग्यता अवश्य कह दी है। तदनुसार हम कह सकते हैं कि स्वाभाविक प्रतिभा (शक्ति), लौकिकशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता एवं काव्य-रचना को जानने वाले गुरु की देख-रेख में काव्य निर्माण का अभ्यास इन तीन गुणों से युक्त व्यक्ति कविता करने की योग्यता रखता है^२ अर्थात् वह कवि कहलाने का अधिकारी है।

इस प्रसंग में जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने यद्यपि कवि का स्वरूप स्पष्ट नहीं कहा है तथापि वे काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता मानते हैं^३। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता स्वीकार किया है^४ अर्थात् कवि वह है जो प्रतिभावान् हो। इसके समर्थन में उन्होंने भट्टतौत के काव्यकौतुक से उद्धरण देते हुए लिखा है कि—नवीन-नवीन अर्थों के उन्मेषक प्रज्ञाविशेष का नाम प्रतिभा है तथा उससे अनुप्राणित वर्णन करने में निपुण कवि कहलाता है^५। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए कवि में प्रतिभा का होना आवश्यक माना है^६। इसके समर्थन में उन्होंने भी भट्टतौत के काव्य-कौतुक से उक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है^७। विनयचन्द्रसूरि ने कवि की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—शब्द और अर्थ को मानने वाला तत्त्वों का ज्ञाता, माधुर्य, ओज आदि गुणों का साधक, दक्ष,

१. काव्यादर्श, १।१०३।

२. शक्तिनिपुणतालोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ —काव्यप्रकाश, १।३।

३. वाग्भटालंकार, १।३।

४. काव्यानुशासन, १।४।

५. वही, १।३। वृत्ति।

६. अलंकार-महोदधि, १।७।

७. प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता।

तदनुप्राणनाजीवद्वर्णना निपुणः कविः ॥

—वही, १।७ वृत्ति।

वाग्मी, नवीन अर्थों का उद्योतक, शब्द, अर्थ और वाक्य के दोषों का ज्ञाता, चित्रकार, कवि-मार्ग का अनुसरण करने वाला, अलंकार और रस का ज्ञाता, बन्धसौष्ठव एवं षड्भाषाओं के नियमों में निष्णात, षड्दर्शनों का ज्ञाता, नित्याभ्यासी, लौकिक वस्तुओं का ज्ञाता और छन्दःशास्त्रज्ञ कवि कहलाता है^१। कवि की उपर्युक्त परिभाषा में विनयचन्द्रसूरि की मान्यता है कि कवि को सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता होना आवश्यक है, चाहे वे लौकिक हों या अलौकिक, गुण हों या दोष, रस हों या अलंकार, व्याकरण हो या दर्शन। नाना विषयों का समावेश ही उसकी पूर्णता है। कवि का इतना स्पष्ट और बृहत् स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है।

आचार्य विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि— प्रतिभा-शक्ति सम्पन्न तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त अठारह स्थलों का वर्णन करने में निपुण व्यक्ति कवि है अथवा शक्ति, निपुणता और कवि-शिक्षा इन तीनों से युक्त तथा रस-भाव के परिज्ञान रूप गुणों से युक्त कवि है^२। इस तरह विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण दो प्रकार से किया है। लेकिन इनमें पहला प्रकार महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और अठारह स्थलों का वर्णन करने की बात कही गई है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो अठारह स्थलों का वर्णन करने की निपुणता रूप कथन का प्रतिभा में ही अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु विजयवर्णी द्वारा निरूपित कवि-स्वरूप में अठारह स्थलों के वर्णन की चर्चा का अपना महत्त्व है। वे अठारह स्थल कौन से हैं? इसका विवेचन करते हुए आचार्य अजितमेन ने लिखा है कि—चन्द्रोदय, सूर्योदय, मंत्र, दूत-सम्प्रेषण, जलक्रीडा, कुमारोदय, उद्यान, समुद्र, नगर, ऋतु, पर्वत, सुरत, युद्ध, प्रयाण, मधुपान, नायक-

१. शब्दार्थवादी तत्त्वज्ञो माधुर्यौजः प्रसाधकः ।

दक्षो वाग्मी नवार्थानामुत्पत्तिप्रियकारकः ॥

शब्दार्थवाक्यदोषज्ञश्चित्रकृत् कविमार्गवित् ।

ज्ञातालंकारसर्वस्वो रसविद् बन्धसौष्ठवी ॥

षड्भाषात्रिनिष्णातः षड्दर्शनविचारवित् ।

नित्याभ्यासी च लोकज्ञश्छन्दःशास्त्रपटिष्ठधीः ॥

—काव्यशिक्षा, ४।१५३-१५५ ।

२. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, २।१-२ ।

नायिका की पदवी, वियोग और विवाह ये अठारह वर्णनीय विषय कुछ लोग मानते हैं ।^१

आचार्य अजितसेन ने कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि—
प्रतिभाशाली, नाना प्रकार के वर्णनों में कुशल, व्यवहार में निपुण, नाना विषयों के अध्ययन से कुशाग्रबुद्धि और व्युत्पत्तिमान् कवि कहलाता है ।^२ अजितसेन के इस कवि-स्वरूप में मात्र काव्य-कारणों का ही समावेश है । इसी प्रकार आचार्य वाग्भट द्वितीय^३ और भावदेवसूरि^४ ने भी काव्य-कारण के माध्यम से ही कवि का स्वरूप अथवा उसकी योग्यता का निरूपण किया है ।

उपर्युल्लिखित विभिन्न अलंकारिकों द्वारा निरूपित कवि-स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कवि का जैसा स्पष्ट स्वरूप आचार्य विनय-चन्द्रसूरि ने 'काव्यशिक्षा' में निरूपित किया है, वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आया है । यद्यपि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कवि-स्वरूप निरूपण का उत्तम प्रयास किया है तथापि वह उतना स्पष्ट नहीं है, जितना अपेक्षित था । विजयवर्णी का कवि-स्वरूप निरूपण संक्षिप्त और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इनके द्वारा इस प्रकार कवि-स्वरूप में १८ स्थलों का गिनाना क्या सूचित करता है ? क्या इस प्रकार कवि के स्वरूप को हम बाँध सकते हैं ? यदि नहीं, तो केवल शक्ति या प्रतिभा आदि सामान्य कथन ही उचित प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त तथ्यों से इतना तो स्पष्ट है कि कवि को प्रत्येक विषय का सांगो-पांग ज्ञान होना चाहिए, तभी वह प्रत्येक विषय पर साधिकार कलम चलाने में समर्थ हो सकता है । जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कुछ आचार्यों ने काव्य-कारण के माध्यम से कवि का स्वरूप अथवा उसकी योग्यता का वर्णन किया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह काव्य-कारण और कुछ नहीं, केवल कवि के

१. चन्द्राकौदयमन्त्रदूतसलिलक्रीडाकुमारोदयो—

द्यानाम्भोधिपुरतुर्लौलसुरताजीनां प्रयाणस्य च ।

वर्ण्यत्वं मधुपाननायकपदव्योर्विप्रलम्भस्य च

काव्येऽष्टादशसंख्यकं युतविवाहस्यापि केचिद्विदुः ॥

—अलंकार-चिन्तामणि, १।६८ ।

२. अलंकारचिन्तामणि, १।८ ।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २-३, ७ ।

४. काव्यालंकारसार-संग्रह, १।३-४ ।

गुणों अथवा उसकी योग्यता का लेखा-जोखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की योग्यता, बुद्धिमत्ता और प्रतिभा पर ही समस्त काव्य-सर्जना सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि काव्य-निर्माण में कवि की योग्यता महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

कवि-भेद :

विभिन्न आचार्यों ने अपनी विचारसरणी के आधार पर कवि-भेद भी प्रस्तुत किए हैं, उनमें राजशेखर अग्रणी हैं। उन्होंने अन्य कई आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए कवि-भेदों पर विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। राजशेखर ने कवि-भेद प्रस्तुत करने में प्रमुख रूप से निम्न छः आधारों को स्वीकार किया है—(१) विषय-विवेचन, (२) अवस्था, (३) काव्य-कला की उपासना, (४) प्रतिभा, (५) रचना का मौलिकता और (६) अर्थापहरण।

विषय-विवेचन—इसके आधार पर सर्वप्रथम तीन भेद किए हैं—शास्त्र-कवि, काव्यकवि और उभयकवि।^१ शास्त्रकवि तीन प्रकार का होता है—शास्त्रों की रचना करने वाला, शास्त्र में काव्य का समावेश करने वाला और काव्य में शास्त्र का समावेश करने वाला। काव्यकवि आठ प्रकार का होता है—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि।^२

अवस्था—इसके आधार पर दस भेद किए हैं—काव्य-विद्या-स्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता।^३

काव्यकला की उपासना—इसके आधार पर चार भेद किए हैं—असूर्य-पश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक।^४

प्रतिभा—इसके आधार पर तीन भेद किए हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक।^५

रचना की मौलिकता—इसके आधार पर चार भेद किए हैं—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक और संवर्गक।^६

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४३।

३. वही, पृ० ४६-५०।

५. वही, पृ० ३२।

२. वही, पृ० ४४।

४. वही, पृ० १३७।

६. वही, पृ० १५८।

अर्थापहरण—इसके आधार पर पाँच भेद किये हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और चिन्तामणि ।^१

जैनाचार्य विजयवर्णी ने केवल काव्य-कवि के भेदों पर विचार किया है । उनके अनुसार काव्य-कवि के सात भेद हैं—(१) रोचिक, (२) वाचिक, (३) आर्थ, (४) शिल्पिक, (५) मार्दवानुग, (६) विवेकी और (७) भूषणार्थी । इनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

रोचिक—जो कवि अपनी रचि के अनुसार बार-बार शब्द अथवा अर्थ का त्याग अथवा ग्रहण करता है ।

वाचिक—शब्दों के आडम्बर मात्र को चाहने वाला ।^२

आर्थ—अर्थवैचित्र्य मात्र को चाहने वाला ।^४

शिल्पिक—शब्द और अर्थ इन दोनों के वर्णन को चाहने वाला ।^५

मार्दवानुग—मृदु शब्दों और अर्थों की रचना करने वाला ।^६

विवेकी—शब्द और अर्थ सम्बन्धी गुण और दोषों को जानने वाला, महाकवियों के मार्ग का ज्ञाता तथा अनेक शास्त्रों में निपुण ।^७

भूषणार्थी—दिव्यालंकार संयोजन में तत्पर ।^८

जैनाचार्य अजितसेन ने कवि के तीन भेद माने हैं—महाकवि, मध्यमकवि और अन्य (अधम) कवि । उनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

महाकवि—काव्यशिक्षा का अनुगामी, सम्पूर्ण रसों और भावों का ज्ञाता तथा शब्दादि सम्पूर्ण काव्यांगों के ज्ञान से प्रसन्नचित्त रहने वाला ।^९

मध्यमकवि—कोई कवि शब्द-सौन्दर्य, कोई अर्थ-सौन्दर्य, कोई समास-युक्त और कोई समास-रहित पद-समूह की इच्छा करते हैं । कोई कोमल रचना चाहते हैं, कोई स्फुट प्रसाद-गुण-विशिष्ट रचना चाहते हैं और कोई मध्यम ढंग की रचना चाहते हैं, ये सभी मध्यम कवि हैं ।^{१०}

अन्य कवि—जो (उपर्युक्त से भिन्न) किसी दूसरी प्रकार की रचना की इच्छा करते हैं ।^{११}

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार राजशेखर ने विभिन्न आधारों को ध्यान में रखते हुए कवि-भेदों का निरूपण किया है, वैसा अन्य

१. काव्यमीमांसा, पृ० १६४ ।

२. शृङ्गारार्णव चन्द्रिका, २।३ ।

३-८ वही, २।४-७ ।

९. अलंकारचिन्तामणि, १।१०३ ।

१०. वही, १।१०४-१०५ ।

११. वही ।

जैनाचार्यों ने नहीं किया है तथापि जैनाचार्य विजयवर्णी द्वारा काव्य-कवियों के भेदों के निरूपण में किया गया प्रयास उत्तम है। जैनाचार्य अजितसेन ने कवि के सामान्य तीन भेद माने हैं। उन्होंने मध्यम कवि के अन्तर्गत अनेक कवि-भेदों का समावेश किया है, जो सामान्यतः ठीक है।

काव्य-प्रयोजन :

‘प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते’ यह समीचीन उक्ति अतीत से लेकर अद्यावधि प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से ग्राह्य है। इसीलिए प्रत्येक कवि ने अपने ग्रन्थ में अनुबन्ध-चतुष्टय के अन्तर्गत काव्य-प्रणयन के प्रयोजन का उल्लेख किया है अर्थात् काव्य की रचना के मूल में कवि का क्या प्रयोजन है ? इसका उल्लेख किया है।

काव्य-शास्त्र में इस परिपाटी का सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है, उसमें उन्होंने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि-वर्धन और लोकोपकारी उपदेश को नाट्य (काव्य) के प्रयोजन स्वीकार किये हैं।^१ भामह ने पुरुषार्थ-चतुष्टय, कलाओं में विलक्षणता, कीर्ति और प्रीति रूप प्रयोजनों को सत्काव्य के निबन्धन का उद्देश्य माना है।^२ दण्डी ने यद्यपि काव्य-प्रयोजनों का स्पष्टो-ल्लेख नहीं किया है, किन्तु महाकाव्य के लक्षण में उन्होंने महाकाव्य को चतुर्वर्ग-फल-प्रदाता माना है।^३ इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि दण्डी को महाकाव्य के निबन्धन के मूल में चतुर्वर्गरूप प्रयोजन स्वीकार्य था। वामन ने केवल दो ही प्रयोजन स्वीकार किए हैं—(१) दृष्ट रूप प्रीति (आनन्द) और (२) अदृष्ट रूप कीर्ति (यश)।^४ प्रथम आन्तरिक, दूसरा बाह्य। इस दिशा में मम्मट ने छः प्रयोजन स्वीकार किये हैं—(१) यश की प्राप्ति, (२) धन-लाम, (३) व्यवहार का बोध, (४) अकल्याण का विनाश, (५) काव्य

१. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ —नाट्यशास्त्र, १।११५।

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥ —काव्यालंकार, १।२।

३. द्रष्टव्यः काव्यादर्श, १।१५।

४. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।

—काव्यालंकार-सूत्र, १।१५।

पाठ के साथ-साथ शीघ्र ही उच्च-कोटि की आनन्द प्राप्ति और (६) कान्ता-सम्मित उपदेश ।^१

ये विभिन्न आचार्यों द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजन कुछ कवि के लिए हैं तथा कुछ पाठक के लिए । इसके अतिरिक्त कुछ प्रयोजन ऐसे भी हैं जो कवि और पाठक दोनों को समान रूप से हितकारी हैं । यथा—मम्मट-निर्दिष्ट अकल्याण का विनाश रूप प्रयोजन । इस प्रसंग में जैनाचार्यों द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजन निम्न प्रकार हैं—

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है,^२ जो केवल कविनिष्ठ ही है । इससे प्रायः यह शंका होती है कि क्या वाग्भट-प्रथम श्रोता अथवा पाठक के लिए काव्य का कोई प्रयोजन नहीं मानते हैं ? इसके उत्तर में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि पाठक के प्रयोजन काव्य पढ़ने के साथ ही स्वयंसिद्ध हैं । इसीलिए उन्होंने पाठकों के प्रयोजन अपने ग्रन्थ में निवद्ध नहीं किए हैं । चूँकि कवि की रचना उसकी कीर्ति में प्रायः कारण होती है, अतः वाग्भट-प्रथम द्वारा यश को ही काव्य का प्रयोजन मानने का औचित्य ठहरता है । आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य के तीन प्रयोजन स्वीकार किए हैं—आनन्द, यश और कान्ता-सम्मित उपदेश ।^३ इनमें भी आनन्द को सर्वश्रेष्ठ माना है, यह कवि और सहृदय-उभयनिष्ठ है, यश मात्र कविनिष्ठ है और उपदेश सहृदयनिष्ठ ।^४ ये तीनों प्रयोजन मम्मट के काव्य-प्रकाश से गृहीत हैं, शेष मम्मट-सम्मत तीन काव्य-प्रयोजनों का खण्डन करते हुए लिखा है कि धन-प्राप्ति अनैकान्तिक^५ है अर्थात् काव्य से धनप्राप्ति हो

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ —काव्यप्रकाश, १।२ ।

२. काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।

—वाग्भटालंकार, १।२ ।

३. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च ।

—काव्यानुशासन, १।३ ।

४. वही, पृ० ३-४ ।

५. डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि—अनैकान्तिकता का आधार लेकर हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत यश का भी खण्डन किया जा सकता है, क्योंकि यश का एकमात्र हेतु काव्य नहीं है ।

—काव्यालंकार (भामह), भूमिका, पृ० ११ ।

भी सकती है और नहीं भी । व्यवहार-ज्ञान शास्त्रों से भी सम्भव है और अनर्थ-निवारण प्रकारान्तर से भी हो सकता है, अतः इनका हमने उल्लेख नहीं किया है—

घनमनैकान्तिकं व्यवहारकौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थनिवारणं प्रकारान्तरेणा-
पीती न काव्यप्रयोजनतयास्माभिस्तुम् ॥

आचार्य अमरचन्द्रसूरि ने एक उत्कृष्ट आनन्द रूप प्रयोजन ही स्वीकार किया है^२ । इसे ही उन्होंने प्रधान तथा कवि और सहृदय उभयनिष्ठ माना है^३ । यह हेमचन्द्र के एकदेश मत का पोषक है । नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्राचार्य-सम्मत उक्त तीन प्रयोजनों के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और काम रूप सातिशय (निरर्गल) त्रिवर्ग को काव्य-प्रयोजन माना है^४ । विनयचन्द्रसूरि ने दृष्ट रूप आनन्द और अदृष्ट रूप यश ये दो प्रयोजन माने हैं^५, जिन्हें इनके पूर्ववर्ती आचार्य वामन ने भी स्वीकार किया है । विजयवर्णी ने पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य-प्रयोजन माना है^६, जिसे परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है^७ । वाग्भट-द्वितीय ने प्रमोद (हर्ष), अनर्थ-निवारण, व्यवहारज्ञान, त्रिवर्ग फल-प्राप्ति, कान्तासम्मित उपदेश और कीर्ति रूप छः काव्य-प्रयोजनों को स्वीकार किया है^८ । भावदेवसूरि इष्ट और अनिष्ट का ज्ञान करके उसमें प्रवर्तन और निवर्तन, गुरु और मित्र के सहस्र कार्य-साधक, कल्याणकारी, यश और घन-प्राप्ति रूप प्रयोजन मानते हैं^९ । सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट-सम्मत काव्य-

१. काव्यानुशासन, पृ० ३ ।

२. काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १ ।

३. वही, पृ० १ ।

४. अमन्दोद्गतितरानन्दस्त्रिवर्गश्च निरर्गलः ।

कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम् ॥—अलंकार-महोदधि, ११५ ।

५. तन्मुदे यशसेऽथवा ।

—काव्यशिक्षा, ११८ ।

६. धर्मार्थकाममोक्षाख्यसत्फलानां प्रकाशकः । —शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका, ११२७ ।

७. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि—साहित्यदर्पण, ११२ ।

८. काव्यम् । प्रमोदामानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्ता-
तुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च । —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २ ।

९. इष्टानिष्टेषु तज्ज्ञानां प्रवर्तन-निवर्तनात् ।

काव्यं गुरु-सुहृत्-तुल्यं कार्यं श्रेयो यशः श्रिये ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह, ११२ ।

प्रयोजनों को अस्वीकृत करते हुए परमेश्वर-स्तवनादि रूप चतुर्वर्ग को स्वीकार किया है^१ ।

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भरत मुनि ने आनन्दरूप प्रयोजन को स्वीकार नहीं किया है । इसी प्रकार वाग्भट-प्रथम ने मात्र यश रूप प्रयोजन का ही उल्लेख किया है, जब कि अन्य समस्त आचार्यों ने प्रायः आनन्द रूप प्रयोजन को न केवल स्वीकार ही किया है, अपितु सर्वश्रेष्ठ और उभय—(कवि और पाठक) निष्ठ भी घोषित किया है । भरत के सम्बन्ध में हम डॉ० नगेन्द्र के इस मत से सहमत हैं कि—‘रस को काव्य का मूल मानने वाले भरत के लिए (भी) प्रीति-आनन्द उपेक्षणीय नहीं हो सकता है^२ ।’ जहाँ तक वाग्भट-प्रथम द्वारा आनन्द-रूप प्रयोजन के उल्लेख न करने की बात है तो उसके सम्बन्ध में पहले ही संभावना व्यक्त की जा चुकी है कि उनके अनुसार पाठक का प्रयोजन पढ़ने के साथ ही स्वयंसिद्ध है, अतः उसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया है । अथवा जो बात ऊपर भरत के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात वाग्भट-प्रथम के सम्बन्ध में भी लागू की जा सकती है, क्योंकि उन्हें भी काव्य में रस समान रूप से ग्राह्य है ।

काव्य-प्रयोजनों में पुरुषार्थ-चतुष्टय का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है, जिसे जैनाचार्यों में नरेन्द्रप्रभसूरि (त्रिवर्ग), विजयवर्णी, वाग्भट-द्वितीय (त्रिवर्ग) और सिद्धिचन्द्रगणि ने भी मान्यता प्रदान की है । आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि मम्मट-सम्मत अर्थप्राप्ति आदि तीन प्रयोजनों का खण्डन किया है तथापि मम्मट की भाँति आनन्द रूप प्रयोजन को सर्वश्रेष्ठ माना है । अमरचन्द्रसूरि एक आनन्द रूप प्रयोजन को ही स्वीकार करते हैं । विनयचन्द्र-सूरि स्पष्ट रूप से आचार्य वामन के समर्थक प्रतीत होते हैं । वाग्भट-द्वितीय ने मम्मट के अर्थप्राप्ति के स्थान पर त्रिवर्ग फल-प्राप्ति रूप प्रयोजन माना है, शेष पाँच प्रयोजन मम्मट सम्मत ही हैं । भावदेवसूरि प्रायः मम्मट के समर्थक हैं । यद्यपि सिद्धिचन्द्रगणि ने अपने ‘काव्यप्रकाश-खण्डन’ नामक ग्रन्थ में मम्मट-सम्मत काव्य-प्रयोजनों को ‘इदमप्युपलक्षणम्’ कहकर अस्वीकार करते हुए परमेश्वर स्तवनादि रूप से चतुर्वर्ग को स्वीकार किया है तथापि ग्रन्थ के नामा-

१. काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० २ ।

२. काव्यालंकार सूत्र-भूमिका, पृ० १३ ।

नुरूप खण्डनात्मक शैली में ऐसा तर्क प्रस्तुत नहीं किया है, जो अलंकार-शास्त्रियों को ग्राह्य हो और न ही अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रबल तर्क प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार समस्त काव्य-प्रयोजनों का सम्यक् प्रकार से आलोडन-विलोडन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जैनाचार्यों ने पूर्व स्वीकृत काव्य-प्रयोजनों को आधार मानकर अपना मत प्रस्तुत किया है तथापि वाग्भट-प्रथम द्वारा मान्य एक मात्र यश रूप प्रयोजन अपनी मौलिकता की छाप छोड़ता है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने जो मम्मट-सम्मत छः काव्य-प्रयोजनों में से तीन का सयुक्ति खण्डन कर नवीन विचार प्रस्तुत किया है, वह श्लाघ्य और तथ्य-परक भी है। अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

काव्य-हेतु :

काव्य-रचना में जो हेतु अर्थात् कारण हो वह काव्य-हेतु है। सामान्यतया कारण दो प्रकार के होते हैं—निमित्तकारण और उपादानकारण। प्रस्तुत में निमित्तकारण को ही काव्य-हेतु की संज्ञा दी गई है। इसके अभाव में काव्य की सर्जना सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने काव्य-हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुरु के उपदेश से मूर्ख लोग भी शास्त्रों का अध्ययन करने में समर्थ हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभावान् व्यक्ति के ही द्वारा कभी-कभी निर्मित होता है। व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकज्ञान, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्य-सर्जना हेतु मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का विशेष रूप से ज्ञान करके काव्य-प्रणेतार्यों की उपासना और अन्य कवियों की रचनाओं को देखकर काव्य-सर्जना में प्रवृत्त होना चाहिए। यहाँ क्रमशः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का विवेचन किया गया है। भामह ने व्युत्पत्ति

१. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।

लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।

विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥

—काव्यालंकार, १५, ६-१० ।

और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा पर अधिक बल दिया है। तात्पर्य यह कि वे प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य एवं प्रमुख हेतु मानते हैं। दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल विद्याध्ययन एवं उसकी बहु-योजना को ही काव्य का हेतु मानते हैं^१। उन्होंने भामह की तरह प्रतिभा पर अधिक बल न देकर तीनों का समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया है। किन्तु इसके ठीक आगे उन्होंने लिखा है कि यदि वह अद्भुत प्रतिभा न भी हो तो भी शास्त्राध्ययन (व्युत्पत्ति) और अभ्यास से वाणी अपना दुर्लभ अनुग्रह प्रदान करती है। कवित्व-शक्ति के कृश होने पर भी परिश्रमी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में विजय प्राप्त करता है। इससे ज्ञात होता है कि दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि—उस आस्वाद पूर्ण अर्थतत्त्व को प्रकाशित करने वाली महाकवियों की वाणी अलौकिक स्फुरण-शील प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।^२ इतना ही नहीं उन्होंने अव्युत्पत्तिजन्य दोष को प्रतिभा के द्वारा आच्छादित होना भी स्वीकार किया है^३ अर्थात् आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। लोचनकार ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं^४। मम्मट ने काव्य-कारण प्रसंग में लिखा है कि शक्ति, लोक (व्यवहार) शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और काव्य (की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति) को

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ —काव्यादर्श, १।१०३ ।

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥

—वही, १।१०४-१०५ ।

३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

—ध्वन्यालोक, १।६ ।

४. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।

यस्वशक्तिकृतस्तस्य स ऋट्यवभासते ॥ —ध्वन्यालोक, ३।६ वृत्ति ।

५. अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा (प्रतिभा) । —वही, लोचन, पृ० १७१ ।

जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार (काव्य-निर्माण) अभ्यास (ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से) उस (काव्य) के विकास (उद्भव) के हेतु हैं^१ । मम्मट ने अपने इन काव्य-हेतुओं में 'हेतुः' इस एकवचन का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों मिलकर काव्य के उद्भव में हेतु हैं, पृथक्-पृथक् नहीं—

‘इति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः^२ ।’

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है तथा शेष व्युत्पत्ति और अभ्यास को क्रमशः विशेष शोभाजनक और शीघ्र काव्य निर्माण में सहायक कहा है^३ । पुनः तीनों का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रसादादि गुणों वाले रमणीय पदों से नवीन अर्थ की उद्भावना करने में समर्थ सत्कवि की सर्वतोमुखी बुद्धि का नाम प्रतिभा है । गुरु-परम्परा से प्राप्त व्याकरणादि शास्त्रों के असाधारण ज्ञान का नाम व्युत्पत्ति है तथा गुरु के समीप में बैठकर निरन्तर अबाध गति से काव्य-रचना करने का नाम अभ्यास है ।^४ इसमें अभ्यास के प्रकारों में बतलाया गया है कि काव्य-रचना हेतु सर्व-प्रथम रमणीय सुन्दर का निर्माण करते हुए अर्थशून्य पदावली के द्वारा समस्त छन्दों को वश में कर लेना चाहिये ।^५ आचार्य हेमचन्द्र ने केवल प्रतिभा को ही काव्य

१. शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

—काव्यप्रकाश, १।३ ।

२. वही, १।३ । वृत्ति ।

३. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।

भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥

—वाग्भटालंकार, १।३ ।

४. प्रसन्नपदनव्यर्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥

शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाभ्यासायपूर्विका ।

प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥

अनारतं गुरुष्वान्ते यः काव्ये रचनादरः ।

तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥

—वही, १।४-६ ।

५. बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया ।

वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ॥

—वही, १।७ ।

का हेतु स्वीकार किया है^१ तथा प्रतिभा को ही काव्य का प्रधान कारण माना है, शेष व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के ही संस्कारक कहा है।^२ प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और औपाधिकी। सावरण क्षयोपशम मात्र से होने वाली सहजा और मन्त्रादि से उत्पन्न होने वाली औपाधिकी कहलाती है।^३ राजशेखर ने सर्वप्रथम प्रतिभा के दो भेद किए हैं—कारयित्री और भावयित्री। पुनः कारयित्री के तीन भेद माने हैं—सहजा, आहार्या और औपाधिकी।^४ चूँकि हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है, अतः व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात् हेतु नहीं हैं, क्योंकि प्रतिभारहित व्युत्पत्ति और अभ्यास विफल देखे गए हैं।^५ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने यद्यपि दण्डी का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है तथापि उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दण्डी के 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना...' इत्यादि कथन का खण्डन अवश्य किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि,^६ अजितसेन^७ और वाग्भट-द्वितीय^८ हेमचन्द्र की तरह व्युत्पत्ति और अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं। भावदेवसूरि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य का हेतु मानते हैं।^९ सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट-सम्मत-काव्य-हेतुओं का खण्डन करते हुए लिखा है कि—'डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्, शक्तेरेव हेतुत्वात्'^{१०} अर्थात् डिम्भ (बालक) आदि में भी

१. प्रतिभाष्य हेतुः ।

—काव्यानुशासन, १।४ ।

२. व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या ।

—वहो, १।७ ।

३. सावरणक्षयोपशमात्रात् सहजा । मन्त्रादेरौपाधिकी ।

—वही, १।५-६ ।

४. काव्यमीमांसा, पृ० ३२ ।

५. अत एव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः ।

दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलो व्युत्पत्त्यभ्यासौ ॥

—काव्यानुशासन, १।७ । वृत्ति ।

६. कारणं प्रतिभैवास्य व्युत्पत्त्यभ्यासवासिता ।

बीजं नवांकुरस्येव काश्यपी-जलसंगतम् ॥ —अलंकारमहोदधि, १।६ ।

७. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनाघटा ।

प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभास्य धीः ॥—अलंकारचिन्तामणि, १।६ ।

८. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः । —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २ ।

९. शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासस्तस्य हेतुरिति त्रयम् ।—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।२ ।

१०. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० २ ।

काव्य-सर्जना शक्ति दिखलाई देने से शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य का हेतु है । इस खण्डन के मूल में सिद्धिचन्द्रगणि पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित प्रतीत होते हैं ।^१ पण्डितराज जगन्नाथ केवल प्रतिभा को ही काव्य में हेतु मानते हैं, वह कहीं देवता अथवा महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट रूप होती है और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास से जन्य ।^२

उपर्युक्त काव्य-हेतु विवेचन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य भामह ने काव्य-हेतु प्रसंग में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों का समान रूप से उल्लेख किया है, किन्तु प्रतिभा पर अधिक बल दिया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य-हेतुओं में प्रतिभा को विशिष्ट मानते थे । दण्डी ने यद्यपि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को समान रूप से स्वीकार किया है, किन्तु वे कहीं-कहीं प्रतिभा के अभाव में भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते हैं । अतः इनका मत अन्य समस्त आचार्यों से पृथक् है । आनन्दवर्धन प्रतिभा को ही प्रमुख हेतु मानते हैं । मम्मट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य-हेतु स्वीकार करते हैं, जिसका समर्थन जैनाचार्य भावदेवसूरि ने भी किया है । भावदेवसूरि को छोड़कर शेष समस्त जैनाचार्यों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य-हेतु स्वीकार किया है, जिसका समर्थन परवर्ती प्रमुख विद्वान् पण्डित-राज जगन्नाथ ने किया है, जो इन मतों की विलक्षणता का परिचायक है ।

काव्य-स्वरूप :

किसी भी वस्तु का स्वरूप निरूपण करना असम्भव नहीं तो श्रमसाध्य अवश्य है । सामान्यतः वस्तु का स्वरूप तब तक पूर्णतः शुद्ध नहीं माना जाता है, जब तक कि वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित न हो । अतः जिस स्वरूप में उपर्युक्त दोषों का अभाव होगा, वही शुद्ध स्वरूप माना जायेगा ।

प्राचीनकाल से अद्यावधि काव्य के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों ने विचार किया है । उपलब्ध काव्य-स्वरूपों में भामह-कृत काव्य-स्वरूप सबसे प्राचीन है ।

१. द्रष्टव्य : न तु त्रयमेव, बालादेस्तो विनाऽपि केवलान् महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः ।

—रसगंगाधर, पृ० २६ ।

२. तस्य (काव्यस्य) कारणं कविगता केवला प्रतिभा । तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिर्काव्य-करणाभ्यासी ।

—वही, पृ० २७-२६ ।

उनके समय में काव्य-स्वरूप को लेकर विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कोई आचार्य केवल शब्द और कोई केवल अर्थ को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते थे। जिसका संकेत कुन्तक आदि परवर्ती अचार्यों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।^१ भामह ने इसी द्वन्द्व को समाप्त करने की दृष्टि से एक ऐसे काव्य-स्वरूप का विधान किया, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से उचित स्थान मिल सके। भामह के इसी सुदीर्घ चिन्तन का परिणाम था—‘शब्दाद्यौ सहितौ काव्यम्’^२। लेकिन यह काव्य-स्वरूप बुद्धिजीवियों को अधिक ग्राह्य न हो सका। क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त था तथा इसमें सामान्य गद्य-पद्य रचना का भी समावेश सम्भव था। अतः दण्डी ने इसी का परिष्कार करते हुए काव्य-स्वरूप निरूपण किया और लिखा कि—अभिलषित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली का नाम काव्य है।^३ किन्तु भामह और दण्डी के उक्त काव्य-स्वरूपों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अभिलषित अर्थ और पदावली (शब्दावली) भामह के शब्द और अर्थ हैं। अतः दण्डीकृत काव्य-स्वरूप भी उक्त अतिव्याप्ति दोष से मुक्त न हो सका। संभवतः शब्द और अर्थ को काव्य मानने वाले इन्हीं आचार्यों की ओर आनन्दवर्धन ने ‘शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्’^४ इस पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत पंक्ति द्वारा संकेत किया है।

इस समय तक विद्वानों का ध्यान केवल काव्य के शरीर तक ही सीमित था। चूँकि शरीर है, इसलिए उसकी आत्मा भी होनी चाहिए। यही सोचकर उत्तरवर्ती विद्वानों ने काव्य की आत्मा पर भी विचार करना प्रारम्भ किया। वामन का ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’^५ और आनन्दवर्धन का ‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति’^६ इसी दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। आनन्दवर्धन का ध्वनि-स्वरूप^७

१. केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति ।

केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति ।

—वक्रोक्तिजीवित, १।७। वृत्ति ।

२. काव्यालंकार, १।१६ ।

३. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

—काव्यादर्श, १।१० ।

४. ध्वन्यालोक, १।१ । वृत्ति ।

५. काव्यालंकारसूत्र, १।२।६ ।

६. ध्वन्यालोक, १।१ ।

७. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वाथौ ।

व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ —वही, १।१३ ।

निश्चय ही एक उच्चस्तरीय काव्य की ओर संकेत करता है। तत्पश्चात् काव्य-स्वरूप पर व्यापक दृष्टि से विचार करने वाले संभवतः आचार्य मम्मट हैं। उन्होंने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित और कहीं-कहीं (स्पष्ट) अलंकार रहित (साधारणतः अलंकार सहित) शब्द और अर्थ के समूह का नाम काव्य है^१। इस स्वरूप में मम्मट ने शब्द और अर्थ के 'अदोषौ' आदि विशेषण प्रस्तुत कर निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य किया है। यद्यपि परवर्ती आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने उनके काव्य-स्वरूप की कड़ी आलोचना की है तथापि यह उतना त्रुटि-पूर्ण नहीं है, जितना उसे बतलाया गया है। विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि स्वतंत्र चिंतक आचार्यों को छोड़कर शेष आचार्यों के काव्य-स्वरूपों पर प्रायः मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है। समस्तजैनाचार्य प्रायः मम्मट के अनुगामी हैं।

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि—सुन्दर शब्द और अर्थों से युक्त, गुण और अलंकारों से भूषित, स्पष्ट रीति और रसों से युक्त काव्य कहलाता है^२। इस स्वरूप में मम्मट की अपेक्षा सामान्यतः निम्न तीन विशेष बातें दिखलाई देती हैं—

१. वाग्भट-प्रथम द्वारा स्पष्ट रीति और रस का समावेश।

२. काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानना।

३. अदोषी विशेषण का अभाव।

हेमचन्द्राचार्य ने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण और अलंकार सहित (कहीं-कहीं अलंकार रहित भी) शब्द और अर्थ काव्य हैं^३। मम्मटोल्लिखित और हेमचन्द्रसम्मत काव्य-स्वरूप में पूर्णतः साम्य है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट-सम्मत काव्य-स्वरूप में कुछ अपनी बात का समावेश करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण, अलंकार और व्यंजना-सहित काव्य कहलाता है^४। इस स्वरूप में 'सव्यंजनस्तथा' यह विशेषण दिया

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । —काव्यप्रकाश, १।४।

२. साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम् ।

स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं..... ॥ —वाग्भटालंकार, १।२।

३. अदोषौ सगुणौ सालंकारी च शब्दार्थौ काव्यम् । —काव्यानुशासन, १।११।

४. निर्दोषः सगुणः सालंकृतः सव्यंजनस्तथा ।

शब्दश्चार्थश्च वैचित्र्यपात्रतां हि विगाहते ॥ —अलंकारमहोदधि, १।१३।

है, जो सर्वथा मौलिक है। लेकिन क्या काव्य के सभी प्रकारों में व्यंजना का समावेश होता है? यह विचारणीय है। क्योंकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वयं काव्य के अवर-काव्य नामक तृतीय भेद के स्वरूप में व्यंजना की अनिवार्यता का उल्लेख नहीं किया है, जिससे उनका यह काव्य-स्वरूप अव्याप्ति दोष से ग्रसित है। अतः उक्त विशेषण सदोष है। विनयचन्द्रसूरि ने गुण सहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार किया है^१। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य में गुणों को अत्यधिक महत्त्व देते थे अर्थात् विनयचन्द्रसूरि के अनुसार काव्य में गुणों की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती है, जो वास्तविकता के सन्निकट है। विजयवर्णी ने काव्य-स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित, रीति, वृत्ति, शय्या और रस से युक्त तथा अलंकार और पाक सहित शब्दार्थ-रचना जिसमें उत्तम हो वह काव्य है।^२ प्रस्तुत स्वरूप में विजयवर्णी ने वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है। इसके पश्चात् आचार्य अजितसेन का समय आता है, उनके समक्ष अनेक आचार्यों के काव्य-स्वरूप विद्यमान थे। अतः उनके मस्तिष्क में एक ऐसा स्वरूप बनाने का संकल्प था, जिसमें सभी प्रमुख आचार्यों के प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो, कोई भी तत्त्व उससे अछूता न रह जाए। इसी आकांक्षा को साकार रूप देते हुए उन्होंने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—सुख चाहने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और प्रतिभाशाली कवि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से युक्त शृङ्गारादि नौ रसों के सहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियों के सम्यक् प्रयोग से सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थों से समन्वित, श्रुतिकटु इत्यादि दोषों से शून्य, प्रसाद और माधुर्यादि गुणों से युक्त, नायक के चरित वर्णन से सम्पृक्त, उभय-लोक हितकारी एवं सुस्पष्ट काव्य ही उत्तम काव्य होता है।^३ यदि प्रस्तुत काव्य-

१. शब्दार्थौ सगुणौ काव्यम् ।—काव्यशिक्षा, १।८ ।

२. अदोषः सगुणो रीतिवृत्तिशय्यारसान्वितः ।

शालंकारः सपाकश्च शब्दार्थरचनोत्तमः ॥ —शृंगारार्णवचन्द्रिका, १।२३ ।

३. शब्दार्थालंकृतीद्वं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम् ।

व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ॥

लोको द्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्न्यं सुखार्थी,

नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मो ह्यहेतुम् ॥

—अलंकारचिन्तामणि, १।७ ।

स्वरूप का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होता है कि इनसे पूर्व आलंकारिकों में प्रचलित जो रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और छ्वनि रूप पाँच सम्प्रदाय थे, उनका सम्यक् रूपेण समावेश किया गया है। इतना स्पष्ट और विस्तृत काव्य-स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है, लेकिन इसका कलेवर इतना बृहत् हो गया है कि सामान्य काव्य-रचना इसके अन्तर्गत न आ सकेगी। वाग्भट-द्वितीय ने दोष-रहित, गुण-सहित तथा प्रायः अलंकार जिसमें हों ऐसे शब्दार्थ-समूह को काव्य कहा है^१। यह मम्मट के काव्य-स्वरूप की पुनरावृत्ति मात्र है। इसी प्रकार भावदेवसूरि सहृदयों के लिए इष्ट, दोष-रहित सद्गुणों और अलंकारों से युक्त शब्दार्थ-समूह को काव्य मानते हैं। इस स्वरूप लेखन के मूल में भी मम्मट के काव्य-स्वरूप की ही भावना प्रधान है। सिद्धिचन्द्राणि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप का खण्डन करके साहित्यदर्पणकार के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस स्वरूप का समर्थन किया है^२। मम्मट सम्मत काव्य-स्वरूप के खण्डन में उन्होंने साहित्य-दर्पणकार के तर्कों का ही सहारा लिया है, उसके सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही है।

उपर्युक्त काव्य-स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मम्मट के समय तक काव्य के समस्त अंगों पर समान रूप से विचार किया जाने लगा था। चूँकि वाग्भटादि जैनाचार्य उनके परवर्ती हैं, अतः उन्होंने भामह्यादि प्रारम्भिक आचार्यों की तरह मात्र काव्य के शरीर पर ही विचार न कर उसके सम्पूर्ण अंगों पर विचार किया है और यही कारण है कि जैनाचार्य-सम्मत काव्य-स्वरूपों पर प्रायः मम्मट का प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने मम्मट के काव्य-स्वरूप में एक-दो नवीन तत्त्वों का समावेश किया है, जिसमें रीति प्रमुख है। किन्तु सामान्यतया वाग्भट रीति को काव्य में आवश्यक नहीं मानते हैं। हेमचन्द्राचार्य पूर्णतः मम्मट के अनुयायी हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप में 'सर्व्यजनस्तथा' यह

१. शब्दार्थो निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारी काव्यम् ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १४ ।

२. शब्दार्थो च भवेत्काव्यं तौ च निर्दोष सद्गुणौ ।

सालंकारी सतामिष्टावत एतन्निरूप्यते ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।५ ।

३. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० ३ ।

एक नवीन विशेषण जोड़ा है, जो अवर-काव्य में न घटने से दोष-पूर्ण है। विनयचन्द्रसूरि ने शब्द और अर्थ का एक 'सगुणो' मात्र विशेषण दिया है और उसी से वे काव्य में आवश्यक सभी तत्त्वों का समावेश और अनावश्यक तत्त्वों का परिहार स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। विजयवर्णी ने अपने काव्य-स्वरूप में वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है। अजितसेन ने पूर्व प्रचलित रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि रूप पाँच सम्प्रदायों को अपने काव्य-स्वरूप में समान रूप से स्थान दिया है। वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि मम्मट के ही अनुयायी हैं। सिद्धिचन्द्रगणि मम्मट के काव्य-स्वरूप से असहमत हैं, इस प्रसंग में उन्होंने साहित्यदर्पणकार को ही आदर्श माना है।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने अपनी नवीन सूक्ष्म-वृक्ष के साथ काव्य-स्वरूप में कुछ नवीन तथ्यों का समावेश अथवा अनावश्यक का त्याग करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने प्रारम्भ से चली आई परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने का सफल प्रयास किया है तथा काव्य-स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर एक नवीन चेतना का संचार किया है।

काव्य-भेद :

अलंकार शास्त्र में काव्य-भेदों का विभाजन विभिन्न आधारों को लेकर किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने चार आधार प्रस्तुत किये हैं^१—

१—छन्द के आधार पर—गद्य और पद्य।

२—भाषा के आधार पर—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

३—विषयवस्तु के आधार पर—देवता आदि का चरितवर्णन, कविकल्पना-प्रसूत, कलाश्रित और शास्त्राश्रित।

४—स्वरूप विधान के आधार पर—सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेय (रूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक)।

दण्डी ने छन्द के आधार पर भामह-सम्मत गद्य और पद्य के अतिरिक्त एक मिश्र नामक तृतीय भेद भी स्वीकार किया है,^२ जिसके निदर्शन नाटक आदि हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने चम्पू को भी मिश्र के अन्तर्गत एक नवीन

१. काव्यालंकार, १।१६-१८।

२. काव्यादर्श, १।११।

और स्वतंत्र विधा के रूप में माना है,^१ जिसे परवर्ती हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त दण्डी ने पद्य के अन्तर्गत केवल महाकाव्य माना है, शेष मुक्तक, कुलक, कोश, और संघात को इसी का अंश माना है^२। उन्होंने गद्य के दो भेद किए हैं—आख्यायिका और कथा।^३ भाषा के आधार पर भामह-सम्मत उक्त तीन के अतिरिक्त मिश्र नामक एक चतुर्थ भेद भी दण्डी को अभीष्ट है^४, जिसके उदाहरण नाटक हैं। वामन ने सर्वप्रथम छन्द के आधार पर काव्य के दो भेद माने हैं—गद्य और पद्य^५। पुनः गद्य के तीन भेद किए हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय^६। जिसमें पद्य भाग की तरह छन्द की गन्ध हो वह वृत्तगन्धि कहलाता है। यथा—‘पातालतालुतलवासिषु दानवेषु’ इसमें वसन्ततिलका नामक छन्द की गन्ध मात्र है^७। दीर्घ समास रहित ललित पदों का सन्निवेश जहाँ हो वह चूर्ण है और इससे ठीक विपरीत अर्थात् दीर्घ समास युक्त उद्धत पदों वाली रचना उत्कलिकाप्राय है^८। पद्य के सम, अर्धसम और विषम आदि अनेक भेद किए हैं^९। पुनः वामन ने गद्य-पद्य रूप काव्य के दो भेद माने हैं—अनिबद्ध और निबद्ध। निबद्ध के अन्तर्गत उन्होंने नाटकादि को उत्तम माना है^{१०}। इस बीच रुद्रट ने एक लघु काव्य का भी उल्लेख किया है,^{११} सम्भवतः उसी को साहित्यदर्पणकार ने खण्डकाव्य नाम दिया है^{१२}। यह महाकाव्य का ही एक भेद है।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर भी काव्य-भेदों की गणना होने लगी, जिसका पृथक् विवेचन आगे किया जायेगा। आनन्दवर्धन ने काव्य की शारीरिक रचना को ध्यान में रखकर निम्न भेद किए हैं—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेय, आख्यायिका और कथा^{१३}। उन्होंने इन काव्य भेदों की रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

१. काव्यादर्श १।३१।

२. वही, १।१३।

३. वही, १।२३।

४. वही, १।३२।

५. काव्यालंकारसूत्र, १।३।२१।

६. वही, १।३।२२।

७. वही, १।३।२३।

८. वही, १।३।२४-२५।

९. वही, १।३।२६।

१०. वही, १।३।२७, ३०।

११. काव्यालंकार—रुद्रट, १६।२।

१२. साहित्यदर्पण, ६।३।२६।

१३. ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।

में स्वीकार की है,^१ जिससे उनके द्वारा भाषा को आधार मानकर काव्य-भेदों की ओर संकेत मिलता है ।

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने भाषा को ध्यान में रखकर कुछ उदार दृष्टि अपनाई और उन्होंने काव्य रचना हेतु पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के अतिरिक्त भूतभाषा (पैशाची) को भी समान रूप से स्थान दिया है^२ । इसका कुछ-कुछ संकेत दण्डी के इस कथन में भी मिलता है कि विचित्र अर्थों वाली वृहत्कथा भूतभाषा में है^३ । वाग्भट-प्रथम ने छन्द के आधार पर तीन भेद किए हैं—गद्य, पद्य और मिश्र^४ । हेमचन्द्र ने इन्द्रियों की ग्राहकता को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—प्रेक्ष्य और श्रव्य । प्रेक्ष्य के दो भेद हैं—पाठ्य और गेय । पुनः पाठ्य के १२ भेद हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक । गेय के १३ भेद हैं—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य आदि^५ । आदि पद से शम्पा, छलित और द्विपदा आदि का ग्रहण किया गया है^६ । द्विपदी और शम्पा का उल्लेख इससे पूर्व भामह ने भी किया है^७ । हेमचन्द्र ने श्रव्य के पाँच भेद किए हैं—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध^८ । इनका विस्तृत विवेचन तत्-तत् शीर्षकों में किया जायेगा । विजयवर्णी ने केवल तीन भेदों का उल्लेख किया है—गद्य, पद्य और मिश्र^९ । इसी प्रकार अजितसेन^{१०} और वाग्भट-द्वितीय^{११} ने भी उक्त तीन भेदों का उल्लेख किया है । पुनः वाग्भट-द्वितीय ने पद्य के

१. वन्यालोक, ३।७ वृत्ति ।

२. वाग्भटालंकार, २।१ ।

३. काव्यादर्श, १।३८ ।

४. वाग्भटालंकार, २।४ ।

५. काव्यानुशासन, ८।१-४ ।

६. आदिग्रहणात् शम्पाच्छलितद्विपद्यादिपरिग्रहः । —वही, ८।४ वृत्ति ।

७. काव्यालंकार, १।२४ ।

८. श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च ।—काव्यानुशासन, ८।१ ।

९. तत् काव्यं त्रिविधं प्रोक्तं पद्यं गद्यं च मिश्रितम् ।

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।२६ ।

१०. अलंकारचिन्तामणि, १।१७ ।

११. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १५ ।

—महाकाव्य, मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक और कुलक ये छः भेद गद्य का आख्यायिका मात्र एक भेद तथा मिश्र के रूपक, कथा और चम्पू ये तीन भेद किए हैं । पुनः रूपक के अभिनेय और गेय ये दो भेद किए हैं । इनके अनुसार अभिनेय की संख्या दस है, जो हेमचन्द्र-सम्मत पाठ्य के १२ भेदों में से नाटिका और सट्टक को छोड़कर शेष दस हैं । गेय हेमचन्द्र-सम्मत ही है ।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटकादि दृश्य-काव्यों का बृहद् रूप में उल्लेख किया है, अतः प्रस्तुत में केवल श्रव्य-काव्य के भेद—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध इन पाँच भेदों पर ही विचार किया जा रहा है ।

महाकाव्य :

सामान्यतः जीवन की समस्त घटनाओं का जहाँ एक साथ विस्तृत द्विवेचन किया जाता है, ऐसी पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है । सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—जो सर्गबन्ध हो, जिसमें महापुरुषों का चरित निबद्ध हो, बड़ा हो, ऐसा ग्राम्य-शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव-सम्पन्न, अलंकार-युक्त, सज्जनाश्रित, मंत्रणा, दूतसम्प्रेषण, प्रयाण, युद्ध-नायक के अभ्युदय और पंचसंधियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय (अक्लिष्ट), वैभव-सम्पन्न, चतुर्वर्ग का निरूपण करने पर भी अधिकता अर्थोपदेश की हो तथा जो लोकाचार और समस्त रसों से युक्त हो, वह महाकाव्य कहलाता है^१ । दण्डीकृत महाकाव्य के स्वरूप^२ में कुछ अन्य नवीन बातों का भी समावेश है । यथा—इसका आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा कथावस्तु के निर्देश से होता है, इसमें सभी सर्गों के अन्त में छन्दों की भिन्नता और लोकानुरंजन आदि प्रमुख हैं । इस लक्षण की एक और अन्य सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ भामह ने महाकाव्य में वर्ण्य कुछ ही विषयों का उल्लेख किया है, वहाँ दण्डी ने निम्न अठारह विषयों का उल्लेख किया है—नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, प्रेम, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मंत्रणा, दूत-प्रेषण, प्रयाण,

१. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १५-१६ ।

२. काव्यालंकार, १।१६-२१ ।

३. काव्यादर्श, १।१४-१६ ।

युद्ध और नायकाम्युदय । इनमें से अन्तिम पाँच का उल्लेख भामह ने इसके पूर्व किया है ।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा में निबद्ध, सर्ग के अन्त में भिन्न छन्दों से युक्त सर्ग, आश्वास, संधि और अवस्कन्धकबन्ध में विभक्त, उत्तम संधियों से युक्त तथा शब्दार्थ-वैचित्र्य सम्पन्न पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है^१ । शब्दार्थ-वैचित्र्य की व्याख्या हेमचन्द्र ने निम्न प्रकार की है—

शब्दवैचित्र्य यथा—(महाकाव्य) छोटा न हो, विषम बन्ध न हों, अति विस्तृत न हो, सर्ग परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हों, आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण से प्रारम्भ हो, कथनीय वस्तु की प्रतिज्ञा तथा उसके प्रयोजनों का सन्निवेश, कवि-प्रशंसा, दुर्जन-सज्जन के स्वरूप की तरह अन्य वाक्यों का समावेश, दुष्कर चित्रादि सर्ग का निबन्धन, स्वाभिप्राय विशिष्ट अपना नाम, इष्टवस्तु का नाम अथवा मंगलकारी नाम का सर्ग के अन्त में अंकन करना शब्दवैचित्र्य है^२ ।

अर्थवैचित्र्य यथा—चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के उपाय, चतुरोदात्त नायक, रस और भावों की निरन्तरता, विधि और निषेध का ज्ञान कराने वाला, घटनाओं के क्रम का संक्षेप में निबन्धन, नगर, आश्रम, पर्वत, सेना का निवास-स्थान और समुद्र आदि का वर्णन, ऋतु, रात्रि, दिवस, सूर्यास्त और चन्द्रोदय आदि का वर्णन, नायक, नायिका, कुमार और वाहन आदि का वर्णन, मंत्र, दूत, अभियान, संग्राम और अम्युदय आदि का वर्णन, वन-गमन, जलक्रीडा, मधुपान, मानविमोचन और रत्योत्सव आदि का वर्णन करना चाहिए^३ ।

उभयवैचित्र्य यथा—रस के अनुरूप पदों की संरचना, अर्थानुरूप छंदों का नियोजन, समस्त लोकरंजकता, सुन्दर अलंकारपूर्ण वाक्य, देश, काल,

१. पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गशिवाससं-ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन, ८।६ ।

२. काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।
३. वही, ८।६ वृत्ति ।

पात्र, चेष्टा और अवान्तर कथाओं से युक्त वर्णन तथा मार्गद्वय का अनुसरण करना चाहिए^१ ।

इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र की मान्यता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य में सर्ग के स्थान पर यदि आश्वासक का भी प्रयोग किया जाये तो कोई हानि नहीं है तथा सम्पूर्ण महाकाव्य में प्रारम्भ से लेकर समाप्तिपर्यन्त एक ही छन्द का प्रयोग भी किया जा सकता है^२ । वाग्भट-द्वितीय का महाकाव्य स्वरूप आचार्य हेमचन्द्र के सूत्र रूप में निबद्ध महाकाव्य के स्वरूप और वृत्ति में किये गये व्याख्यान के सम्मिश्रण का पुनः सूत्र रूप में निबद्ध परिष्कृत रूप है^३ । जैनाचार्य अजितसेन ने यद्यपि महाकाव्य का कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया है तथापि उन्होंने महाकाव्य में वर्णनीय विषयों का वृहत् रूप में उल्लेख किया है,^४ जो अन्यत्र अप्राप्य हैं । अतः यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अजितसेन के अनुसार महाकाव्य में राजा, रानी, पुरोहित, कूल, श्रेष्ठिपुत्र, अमात्य, सेनापति, देश-ग्राम-शोभा, नगर, कमलाकर, धनुष, नद, उद्यान,

१. काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।

२. प्रायोग्रहणात् संस्कृतभाषयाऽप्याश्वासकबन्धो हरिप्रबोधादौ न दुष्यति । प्रायोग्रहणादेव रावणविजयहरिविजयसेतुबन्धेष्वदितः समाप्तिपर्यन्तमेकमेव छन्दो भवतीति ।

—काव्यानुशासन, ८।६ वृत्ति ।

३. तत्र प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गश्वासक-संध्यवस्कन्धकबन्धम्, मुखप्रतिमुखगर्भविमर्षनिर्वहणरूपसंधिपंचकोपेतम्, असंक्षिप्तग्रन्थम्, अविषमबन्धम्, अनतिविस्तीर्णपरस्परसंबद्धसर्गम्, आशीर्न-मस्त्रियावस्तुनिर्देशोपक्रमयुतम्, वक्तव्यवस्तुप्रतिज्ञातः प्रयोजनोपन्यासकविप्रशं-सासज्जनदुर्जनचिन्तादिवाक्योपेतम्, दुष्करचित्राद्येकसर्गाकितम्, स्वाभिप्रेत-वस्त्वंकितसर्गान्तिम्, चतुर्वर्गफलोपेतम्, चतुरोदात्तनायकम्, प्रसिद्धनायक-चरितम्, नगनागरसागरतुल्यचन्द्रार्कोदयास्तसमग्रीद्यानजलकेलिमधुपानसुरत-मन्त्रदूतसैन्यावासप्रयाणाजिनायकाम्युदयविवाहविप्रलम्भाश्रमनद्यादिवर्णनोपेतं महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १५ ।

४. अलंकारचिन्तामणि, १।२५-६६ ।

पर्वत, वनोद्दीप्त, मन्त्रणा, दूत-गमन, प्रयाण (चढ़ाई), मृगया, घोड़ा, हाथी, ऋतु, सूर्य, चन्द्र, आश्रम, युद्ध, कल्याणक, विवाह, वियोग, सुरत, स्वयंवर, सुरापान और विविध सुखद विषयों का वर्णन करना चाहिए। पुनः प्रत्येक विषय के वर्णनीय उपांगों का निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है।

राजा के वर्णनीय गुण—यश, प्रताप, आज्ञापालन, दुष्टों का विनाश, सज्जनों का रक्षण, संधि, विग्रह, अभियान, शस्त्राभ्यास, नीति, क्षमा, अरि-षड्वर्ग का विजेता, धर्मानुराग, दयालुता, प्रजानुराग, शत्रुओं को जीतने का उत्साह, धीरता, उदारता, गम्भीरता, त्रिवर्ग की अनुकूलता, साम-दाम-दण्ड भेद का प्रयोग, त्याग, सत्य, सदा-शुचिता, शूरवीरता, ऐश्वर्य और पुरुषार्थ का वर्णन राजा के विषय में करना चाहिए।

रानी के वर्णनीय गुण—लज्जा, विनम्रता, व्रताचरण, सुशीलता, प्रेम, चातुर्य, व्यवहार-कुशलता, लावण्य, मधुरालाप, दयालुता, शृंगार, सौभाग्य, मान, काम-चेष्टाएँ, पैर, तलवा, गुल्फ, नख, जंघा, सुन्दर घुटना, ऊरु, नितम्ब, सुन्दर रोमावली, त्रिवलि, नाभि, मध्यभाग, वक्षःस्थल, स्तन, ग्रीवा, बाहु, अंगुली, हाथ, दांत, अघर, कपोल, नेत्र, भ्रू, ललाट, कान, शिर, वेणी, कबरी, गमन और जाति आदि का वर्णन रानी के विषय में करना चाहिए।

राजपुरोहित के वर्णनीय गुण—निमित्त आदि शास्त्रों का ज्ञाता, ऋजुता, विपत्तियों के प्रतिकार की क्षमता, सत्यवाणी और पवित्रता आदि का वर्णन राजपुरोहित के विषय में करना चाहिए।

राजपुत्र के वर्णनीय गुण—राजभक्ति, सुन्दरता, कलाओं का ज्ञान, विनम्रता, शस्त्र और शास्त्र का ज्ञान, विवेकशीलता, बाह्यांग तथा क्रीडाविनोद का वर्णन राजपुत्र के विषय में करना चाहिए।

राजमन्त्री के वर्णनीय गुण—पवित्र विचारों वाला, क्षमा-शील, शूर-वीर, विनम्र, बुद्धिमान, राजभक्त, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं का ज्ञाता, व्यवहार-कुशल, स्वदेश में उत्पन्न और हितकारी पुरुषार्थ वाला ये राजमन्त्री के वर्णनीय गुण हैं।

सेनापति के वर्णनीय विषय—निर्भय, अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास, सवारों करने में चतुर, राजभक्त, घोर-परिश्रमी, विद्वान् और युद्ध में विजय करने वाला ये सेनापति के वर्णनीय विषय हैं।

देश के वर्णनीय विषय—देश में मणि, नदी, स्वर्ण, अन्न-भंडार,

विशाल भूमि, ग्राम, दुर्ग, लोगों की अधिकता और नहर आदि का वर्णन करना चाहिए।

ग्राम के वर्णनीय विषय—ग्राम में अन्न, सरोवर, लता, वृक्ष, गाय-बैलों की पुष्टता और उनकी विविध चेष्टाएँ, ग्रामीणों की सरलता, घटीयन्त्र और क्यारियों की शोभा का वर्णन करना चाहिए।

नगर के वर्णनीय विषय—नगर में चहार-दीवारी, उसका ऊपरी भाग, दुर्गप्राचीर, अट्टालिका, खाई, तौरण, ध्वजा, चूने से पुते हुए महल, राजमार्ग, बापी, उद्यान, और जिन-मन्दिर का वर्णन करना चाहिए।

सरोवर के वर्णनीय विषय—सरोवर में कमल तोड़ना, जलतरंग, गजक्रीडा, हंस, चक्रवाक, भ्रमर आदि तथा उसके किनारे उद्यान और लता आदि का वर्णन करना चाहिए।

समुद्र के वर्णनीय विषय—समुद्र में मूंगा, मोती, तरंग, जलपोत, जलगज, मगर आदि तथा नदियों का प्रवेश, संक्षोभ (चन्द्रोदयजन्य हर्ष), नीलकमल और गर्जन आदि का वर्णन करना चाहिए।

नदी के वर्णनीय विषय—नदी में (नदी का) समुद्र-गमन, हंस, मछली, कमल, पक्षियों का कलरव, तट पर उत्पन्न लताएँ, कमलिनी और कुमुदिनी की स्थिति का वर्णन करना चाहिए।

उद्यान के वर्णनीय विषय—उद्यान में कलिका, पुष्प, फल, लताओं से युक्त कृत्रिम पर्वतादि, कोयल, भ्रमर, मयूर, चक्रवाक तथा पथिक-क्रीडा आदि का वर्णन करना चाहिए।

पर्वत के वर्णनीय विषय—पर्वत में शिखर, गुफा, रत्न, वनवासी किन्नर (अथवा वनदेवता), झरना, सानु (शिखर), धातु, सुन्दर शिखरों पर निवास करने वाले मुनिजन और पुष्पों की अधिकता का वर्णन करना चाहिए।

अरण्य के वर्णनीय विषय—अरण्य में सर्प, सिंह, व्याघ्र, बराह, हरिण, वृक्ष, भालू, उल्लू, लता-कुंज, वल्मीक एवं पर्वत का वर्णन करना चाहिए।

मंत्रणा के वर्णनीय विषय—मन्त्रणा में पाँच अंग, उपाय, शक्ति निपुणता और नीति आदि का वर्णन करना चाहिए।

दूत के वर्णनीय विषय—दूत में अपने और दूसरे दोनों पक्षों के वैभव एवं दोष के ज्ञाता तथा वाक्-पटुता आदि का वर्णन करना चाहिए।

प्रयाण के वर्णनीय विषय—प्रयाण में घोड़े के खुरों से उठी हुई धूलि,

रणभेरी, कोलाहल, ध्वजा-कम्पन, भू-कम्पन, रथ, हाथी आदि की मुठ-भेड़ एवं सेना के गमन का वर्णन करना चाहिए ।

मृगया के वर्णनीय विषय—मृगया में हरिणों का भयभीत होना, कुदृष्टि (कातरपूर्ण दृष्टि) से भागना, कहीं संसार में भय उत्पन्न करने के लिए वर्णन करना चाहिए ।

अश्व के वर्णनीय विषय—अश्व में वेगशीलता, शुभलक्षण, गति, जाति और उच्चता आदि का वर्णन करना चाहिए ।

हाथी के वर्णनीय विषय—हाथी में शत्रु-समूह का भेदन, गण्डस्थल, गजमुक्ता, मद और भ्रमर का वर्णन करना चाहिए ।

वसन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय—वसन्त-ऋतु में दोला, मलयानिल, भ्रमर-शोभा, झंकार, कलियों का उद्गम, आम्रवृक्ष, बटवृक्ष, पुष्प, मंजरी और लता का वर्णन करना चाहिए ।

ग्रीष्म-ऋतु के वर्णनीय विषय—ग्रीष्म-ऋतु में मल्लिका, गर्मी, सरोवर, पथिक, शुष्कता, मरीचिका, प्याऊ और उसमें रहने वाली स्त्रियों का वर्णन करना चाहिए ।

वर्षा-ऋतु के वर्णनीय विषय—वर्षा-ऋतु में बादल, मयूर, तत्कालीन सौन्दर्य, झंझावात, वृष्टि के जल-कण, हंस-निर्गमन, केतकी और कदम्ब की कलियों का वर्णन करना चाहिए ।

शरद-ऋतु के वर्णनीय विषय—चन्द्रमा, सूर्य की स्वच्छ किरणें, हंसों का आगमन, वृषभादि पशुओं की प्रसन्नता, शुभ्र-मेघ, स्वच्छ जल, कमल, सत-पर्ण और ललाशय का वर्णन करना चाहिए ।

हेमन्त-ऋतु के वर्णनीय विषय—हेमन्त-ऋतु में हिमयुक्त लताओं, मुनियों की तपस्या तथा कान्ति का वर्णन करना चाहिए ।

शिशिर-ऋतु के वर्णनीय विषय—शिशिर-ऋतु में शिरीष और कमल का विनाश तथा अत्यधिक शैत्य का वर्णन करना चाहिए ।

सूर्य के वर्णनीय विषय—सूर्य के वर्णन में अरुणिमा, कमलविकास, चक्रवाक पक्षियों के नेत्रों की प्रसन्नता, अन्धकार का विनाश, कुमुदिनी का संकोचन, तारागण, चन्द्रमा और दीपक की प्रभाव-हीनता तथा कुलटाओं की पीड़ा का वर्णन करना चाहिए ।

चन्द्रमा के वर्णनीय विषय—चन्द्रमा के वर्णन में मेघ, कुलटा, चक्रवाक

पक्षी, घोर-अन्धकार और वियोगियों की पीड़ा, उज्ज्वलता, समुद्र, कैरव, चन्द्र-कान्तमणि की प्रसन्नता आदि का वर्णन करना चाहिए ।

आश्रम के वर्णनीय विषय—आश्रम का वर्णन करते समय मुनिचरणों के समीप में सिंह, हाथी और हरिण आदि का शान्त होना, समस्त ऋतुओं के फल-फूल आदि की शोभा और इष्टदेव की पूजा आदि का वर्णन करना चाहिए ।

युद्ध के वर्णनीय विषय—युद्ध के प्रसंग में तूर्य की ध्वनि, तलवार की चमक, बाण का संधान, छत्र-भंग, कवच-भेदन, हाथी, रथ, ध्वजा और सैनिकों आदि का वर्णन करना चाहिए ।

जन्म-कल्याणक के वर्णनीय विषय—जन्म-कल्याणक के प्रसंग में गर्भावतरण आदि का वर्णन, जन्माभिषेक में इन्द्र, ऐरावत हाथी, सुमेरु पर्वत, समुद्र, श्रेणी एवं देवताओं की जय-जय ध्वनि आदि का वर्णन करना चाहिए ।

विवाह के वर्णनीय विषय—विवाह के प्रसंग में स्नान, शरीर की स्वच्छता, अलंकार, शोभन-गीत, विवाह-मण्डप, वेदी, नाटक एवं वाद्यों की ध्वनि का वर्णन करना चाहिए ।

विरह के वर्णनीय विषय—विरह के प्रसंग में उष्ण-निःश्वास, मानसिक चिन्ता, अंगों की कृशता, शिशिर में उष्णता की अधिकता, रात्रि का बड़ा होना, जागरण और हास्य के अभाव का वर्णन करना चाहिए ।

सुरत के वर्णनीय विषय—सुरत के प्रसंग में सीत्कार, कंठालिंगन, नख और दन्तक्षत आदि, करघनी, कंकण और मंजीर की ध्वनि तथा स्त्री का पुरुष-वत् आचरण (विपरीत-रति) का वर्णन करना चाहिए ।

स्वयंवर के वर्णनीय विषय—स्वयंवर में सुन्दर नगाड़ा, मंच, मण्डप, कन्या, उसमें उपस्थित राजाओं के वंश, प्रसिद्धि, सम्पत्ति, रूप-लावण्य और आकृति का वर्णन करना चाहिए ।

मधुपान के वर्णनीय विषय—मधुपान के प्रसंग में भ्रमर को लक्ष्य कर भ्रान्ति और प्रेम आदि का वर्णन करना चाहिए । महापुरुष मदिरा के दोषपूर्ण होने से उसका सेवन नहीं करते हैं ।

पुष्पावचय के वर्णनीय विषय—पुष्पावचय के प्रसंग में पुष्प-चयन, वक्रोक्ति, गोत्र-स्खलन, आलिंगन और परस्पर अवलोकन का वर्णन करना चाहिए ।

जलक्रीड़ा के वर्णनीय विषय—जलक्रीड़ा के प्रसंग में जलमंथन, हंस और चक्रवाक पक्षियों का हटना, भूषणों का गिरना, जलविन्दुयुक्त मुख और जल में तैरने से उत्पन्न थकावट का वर्णन करना चाहिए।

इस प्रकार अजितसेन के द्वारा महाकाव्य में वर्णनीय विविध विषयों की सांगोपांग तालिका प्रस्तुत की गई है, जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

आख्यायिका :

आख्यायिका का तात्पर्य है, ऐतिहासिक वृत्त। आचार्य भामह के अनुसार संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्यमयी रचना आख्यायिका कहलाती है। उसमें शब्द, अर्थ और समास अक्लिष्ट एवं श्रव्य हों, विषय उदात्त हो और उच्छ्वासों में विभक्त हो, इसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता है। समय-समय पर भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छन्द रहते हैं। वह कवि के किन्हीं अभिप्रायपूर्ण कथनों से अंकित, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अन्युदय के वर्णन से युक्त होती है।^१ आख्यायिका में आत्मवृत्त नायक ही कहे इसे दण्डी आवश्यक नहीं मानते हैं। इसी प्रकार भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्द एवं उच्छ्वासों में विभाजन भी उन्हें अभीष्ट नहीं हैं, अपितु कथा और आख्यायिका को वे एक ही जाति के दो नाम मानते हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी के मत में कन्याहरण आदि भी कथा अथवा आख्यायिका के विशिष्ट गुण न होकर सर्गबन्ध की तरह सामान्य गुण ही हैं तथा कविस्वभावकृत चिन्ह विशेष कहीं भी दूषित नहीं होते हैं।^२

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने आख्यायिका के लिए भामह-सम्मत पाँच बातों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार—जिसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता हो तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्रादि छन्दों से युक्त, उच्छ्वासों में विभक्त, संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्य-पद्यमयी रचना आख्यायिका कहलाती है।^३ वाग्भट-द्वितीय आख्यायिका में मित्रादि के मुख से वृत्तान्त कहलाने की छूट देते हैं तथा बीच-बीच में पद्य-रचना को भी आवश्यक मानते

१. काव्यालंकार, १।२५-२७।

२. काव्यादर्श, १।२५-३०।

३. नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ता-
ख्यायिका।
—काव्यानुशासन, ८।७।

हैं,^१ शेष बातें भामह-सम्मत ही उन्हें मान्य हैं। इस प्रकार जैनाचार्य प्रायः भामह के समर्थक हैं।

कथा :

कथा में सामान्यतः कविकल्पना प्रसूत वर्णन किया जाता है। भामह के अनुसार इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में होती है, इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्दों तथा उच्छ्वासों का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त उसमें नायक अपना चरित स्वयं नहीं कहता है, अपितु किसी अन्य व्यक्ति से कहलाता है, क्योंकि कुलीन व्यक्ति अपने गुण स्वयं कैसे कहेगा।^२ दण्डी कथा और आख्यायिका में कोई मौलिक भेद न मानकर एक ही जाति के दो नाम मानते हैं।^३ उनके अनुसार कथा की रचना सभी भाषाओं तथा संस्कृत में भी होती है। अद्भुत अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा में है।^४ आनन्दवर्धन ने काव्य के भेदों में परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा का उल्लेख किया है।^५ अग्निपुराणकार ने कथा के स्वरूप में कुछ नवीन बातों का समावेश किया है। यथा—कवि संक्षेप में कुछ पद्यों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है, मुख्य कथा के अवतरण हेतु अवान्तर कथा का संयोजन करता है तथा विभाजन परिच्छेदों में न होकर लम्बकों में होता है।^६

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने कथा का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि जिसमें धीर प्रशान्त नायक हो तथा जो सर्व-भाषाओं में निबद्ध हो ऐसी गद्य अथवा पद्यमयी रचना कथा कहलाती है।^७ इस स्वरूप में हेमचन्द्र ने दण्डी की

१. तत्र नायिकाख्यातस्त्ववृत्तान्तामाव्यर्थशंसिनी सोच्छ्वासा कन्यकापहारसमागमाभ्युदयभुषिता मित्रादिमुखाख्यातवृत्तान्ता अन्तरान्तराप्रविरलपद्यवन्धा आख्यायिका।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६।

२. काव्यालंकार, १।२८-२९।

३. तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता। —काव्यादर्श, १।२८।

४. वही, १।३८।

५. ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।

६. अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १।१५-१६।

७. धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।

—काव्यानुशासन, ८।८।

तरह किसी भाषा विशेष का बन्धन नहीं रखा है। उनके अनुसार संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पेशाची और अपभ्रंश में भी कथा का निबन्धन किया जा सकता है।^१ हेमचन्द्र ने कथा के दस भेद किए हैं—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और वृहत्कथा। प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आख्यान—प्रबन्ध के मध्य में दूसरे को समझाने के लिए नलादि उपाख्यान की तरह उपाख्यान का अभिनय, पाठ अथवा गान करते हुए जो एक ग्रन्थिक (ज्योतिषी) कहता है, वह गोविन्द की तरह आख्यान कहलाता है।^२

निदर्शन—पशु-पक्षियों अथवा तद्भिन्न प्राणियों की चेष्टाओं के द्वारा जहाँ कार्य अथवा अकार्य का निश्चय किया जाता है, वहाँ पंचतन्त्र आदि की तरह तथा घूर्त, विट, कुट्टनीमत, मयूर, मार्जारिका आदि की तरह निदर्शन कहलाता है।^३

प्रवह्लिका—प्रधान नायक को लक्ष्य करके जहाँ दो व्यक्तियों में विवाद हो, वह आधी प्राकृत में निबद्ध चेटकादि की तरह प्रवह्लिका है।^४

मतल्लिका—प्रेत (भूत)—भाषा अथवा महाराष्ट्री भाषा में रचित लघुकथा, गोरोजना अथवा अनंगवती आदि की तरह मतल्लिका कहलाती है, जिसमें पुरोहित, अमात्य अथवा तापस आदि का प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त न कर पाने के कारण उपहास होता है, वह भी मतल्लिका कहलाती है।^५

१. काव्यानुशासन, ८।८ वृत्ति।

२. प्रबन्धमध्ये परप्रबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन् यदैको ग्रन्थिकः कथयति तद् गोविन्दवदाख्यानम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

३. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत्पंचतन्त्रादिवत्, घूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

४. प्रधानमधिकृत्य यत्रद्वयोर्विवादः सोऽर्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवह्लिका।

—वही।

५. प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोजना अनंगवत्यादिवन्मतल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धानिवहि उपहासः सापि मतल्लिका।

—वही।

मणिकुल्या—जिसमें पहले तो वस्तु दिखाई नहीं देती है, किन्तु बाद में प्रकाशित होने लगती है, वह मत्स्यहसित आदि की तरह मणिकुल्या कहलाती है ।^१

परिकथा—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से किसी एक को लक्ष्य करके विभिन्न प्रकार से अनन्त वृत्तान्त-वर्णन-प्रधान शूद्रकादि की तरह परिकथा कहलाती है ।^२

खण्डकथा—अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध इतिवृत्त को मध्य से अथवा अन्त से ग्रहण कर जिसमें वर्णन किया जाता है, वह इन्दुमती आदि की तरह खण्डकथा कहलाती है ।^३

सकलकथा—चतुर्पुरुषार्थों को लेकर जहाँ इतिवृत्त का वर्णन हो, वह समरादित्य की तरह सकलकथा कहलाती है ।^४

उपकथा—प्रसिद्ध कथान्तर का किसी एक पात्र में उपनिबन्ध उपकथा कहलाती है ।^५ यथा—चित्रलेखा आदि ।

बृहत्कथा—लम्बों में अंकित अद्भुत अर्थों वाली नरवाहनदत्त आदि के चरित की तरह बृहत्कथा कहलाती है ।^६

कथा के इतने अधिक उपभेदों का उल्लेख किसी भी अन्य आचार्य ने नहीं किया है ।

१. यस्यां पूर्वं वस्तु न लक्ष्यते पश्चात् प्रकाश्यते सा मत्स्यहसितादिवन्मणिकुल्या ।
—काव्यानुशासन, ८।८ वृत्ति ।

२. एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत्परिकथा ।
—वही, ८।८ वृत्ति ।

३. मध्यादुपान्ततो वा ग्रन्थान्तरप्रसिद्धमिति वृत्तं यस्यां वर्ण्यते सा इन्दुमत्यादिवत् खण्डकथा ।
—वही, ८।८ वृत्ति ।

४. समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा ।
—वही, ८।८ वृत्ति ।

५. एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा । —वही, ८।८ वृत्ति ।
(इसके उदाहरण का उल्लेख विवेक टीका में किया गया है ।)

६. लम्भांकिताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरितवद् बृहत्कथा ।
—वही, ८।८ वृत्ति ।

चम्पू :

चम्पू-काव्यों की एक लम्बी परम्परा है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य दण्डी ने किया है। उनके अनुसार गद्य-पद्यमय मिश्र शैली में निबद्ध रचना चम्पू कहलाती है।^१ जैनाचार्य हेमचन्द्र ने चम्पू का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—सांक और सोच्छ्वासों में विभक्त गद्य-पद्यमयी रचना चम्पू है।^२ इसके उदाहरण वासवदत्ता अथवा दमयन्ती हैं। वाग्भट-द्वितीय ने चम्पू का हेमचन्द्र-सम्मत स्वरूप ही प्रस्तुत किया है।^३ चम्पू-काव्यों को देखते हुए उसके स्वरूप में अन्य बहुत सी नवीन बातों का समावेश किया जा सकता है, यथा—नायक, रस अथवा उसके वर्णनीय विषय आदि।

अनिबद्ध :

अनिबद्ध का अर्थ है जो निबद्ध न हो, अर्थात् स्वतंत्र। भामह ने इसे अनिबद्ध की संज्ञा ही दी है, किन्तु परवर्ती आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धन, अग्नि-पुराणकार और विश्वनाथ आदि ने इसे मुक्तक कहा है। मुक्तक शब्द मुक्त में (अल्पार्थे कन्) कन् प्रत्यय करने से बना है, जिसका अर्थ होता है पूर्वापर निरपेक्ष अर्थात् स्वतंत्र। अतः अनिबद्ध और मुक्तक दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। भामह वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से युक्त गाथा अथवा श्लोक मात्र को अनिबद्ध मानते हैं।^४ दण्डी ने इसे (मुक्तक) और इसके अन्य भेद कुलक, कोश और संघात को भी सर्गबन्ध के अंश रूप में स्वीकार किया है।^५ इसी प्रकार वामन अग्नि के एक परमाणु की तरह अनिबद्ध रचना को शोभायमान नहीं मानते हैं,^६ किन्तु आनन्दवर्धन ने मुक्तक को विशेष महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार प्रबन्ध की तरह मुक्तक में भी रस का सन्निवेश करने वाले कवि दिखलाई देते हैं। यथा—अमरक कवि के मुक्तक शृंगार रस को प्रवाहित

१. काव्यादर्श, १।३१।

२. गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।

—काव्यानुशासन, ८।६।

३. गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६।

४. काव्यालंकार, १।३०।

५. काव्यादर्श, १।१३।

६. काव्यालंकारसूत्र, १।३।२६।

करने वाले प्रबन्ध की तरह प्रसिद्ध ही हैं ।^१ आनन्दवर्धन ने अनिवद्ध के मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, और पर्यायबन्ध इन छः भेदों का उल्लेख किया है ।^२

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि मुक्तक आदि अनिवद्ध हैं ।^३ आनन्दवर्धन-सम्मत अनिवद्ध के उक्त छः भेद इन्हें भी मान्य हैं । हेमचन्द्र ने वाक्य-समाप्ति को ध्यान में रखकर प्रत्येक का लक्षण करते हुए लिखा है कि एक छन्द में वाक्य समाप्त होने पर मुक्तक, दो में सन्दानितक, तीन में विशेषक, चार में कलापक और पाँच से चौदह पर्यन्त छन्दों में वाक्य समाप्त होने पर कुलक कहा जाता है ।^४ अपने और दूसरे के द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह कोश है ।^५ बागमट-द्वितीय पाँच से बारह छन्दों पर्यन्त वाक्य समाप्त होने पर कुलक मानते हैं ।^६ शेष भेदों के लक्षण हेमचन्द्र-सम्मत हैं ।

ध्वनि के आधार पर काव्य-भेद :

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं—ध्वान-काव्य,^७ गुणीभूतव्यंग्य^८ और चित्र-काव्य ।^९ इन्हें परवर्ती आचार्यों ने उत्तम, मध्यम और अधम (अथवा अवर)

१. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।

—ध्वन्यालोक, ३।७ ।

२. वही, ३।७ वृत्ति ।

३. काव्यानुशासन, ८।१० ।

४. वही, ८।१२ ।

५. वही, ८।१३ ।

६. काव्य अनुशासन-बागमट, पृ० १६ ।

७. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

—ध्वन्यालोक, १।१३ ।

८. प्रकारोज्यो गुणीभूत व्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

पत्रव्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥

—वही, ३।३५ ।

९. प्रधानगुणभावाम्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।

काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥

—वही, ३।४२ ।

काव्य के नाम से भी संबोधित किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य को भेद-प्रभेद एवं उदाहरण-प्रत्युदाहरण के माध्यम से विविध रूपों में प्रस्तुत किया है, मध्यम-काव्य का सामान्य विवेचन किया है तथा चित्र-काव्य के दो भेद किये हैं—शब्द-चित्र और अर्थचित्र।^१ आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ जिसमें अधिक चमत्कारजनक हो वह उत्तम काव्य है, वैसा चमत्कारजनक न होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम-काव्य और व्यंग्यार्थ-रहित शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र इन दो भेदों वाला अधम-काव्य है।^२ मम्मट के अनुसार मध्यम-काव्य के आठ भेद हैं—अगूढ, अपरांग, वाच्यसिद्धयंग, अस्फुट, संदिग्ध-प्राधान्य, तुल्य-प्राधान्य, काव्यक्षिप्त और असुन्दर^३।

जैनाचार्य हेमचन्द्र,^४ नरेन्द्रप्रभसूरि,^५ विजयवर्णी,^६ और अजितसेन^७ ने मम्मट-सम्मत उक्त उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन काव्य-भेद ही किए हैं। हेमचन्द्र के अनुसार व्यंग्य की प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है। व्यंग्य के असत्प्राधान्य, संदिग्ध-प्राधान्य और तुल्यप्राधान्य होने पर उक्त नामों वाला मध्यम काव्य तीन प्रकार का होता है। पुनः असत्काव्य के चार उपभेद किये हैं—क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष, क्वचित्परांगता, क्वचिदस्फुटता और क्वचिदतिस्फुटता।^८ संदिग्ध-प्राधान्य और तुल्य-प्राधान्य के उपभेद नहीं किये हैं। यहाँ हेमचन्द्र ने स्वसम्मत मध्यम-काव्य के तीन भेदों का मण्डन और मम्मट-सम्मत आठ भेदों का खण्डन किया है।^९ नरेन्द्रप्रभसूरि ने मध्यम-काव्य के मम्मट-सम्मत आठ उपभेदों का उल्लेख किया है।^{१०} अजितसेन ने सर्वप्रथम मध्यम पुनः

१. ध्वन्यालोक, ३।४३।

२. काव्यप्रकाश, १।४-५।

३. वही, ५।४५-४६।

४. काव्यानुशासन, २।५६-५८।

५. अलंकारमहोदधि, १।१५-१७।

६. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, १।३१।

७. अलंकारचिन्तामणि, ५।१७३।

८. काव्यानुशासन, २।५७ वृत्ति।

९. इति त्रयो मध्यमकाव्यभेदा न त्वष्टौ।

—वही, २।५७ वृत्ति।

१०. अगूढवास्फुटत्वाभ्यामसुन्दरतया तथा।

सिद्धयंगत्वेन वाच्यस्य काव्यक्षिप्ततयाऽपि च ॥

संदिग्धतुल्यप्राधान्यतयाऽन्यांगतयाऽपि च।

गुणीभूतमपिव्यंग्यं यत् किञ्चिच्चारिमास्पदम् ॥

—अलंकारमहोदधि, ४।१-२।

उत्तम और तत्पश्चात् अधम-काव्य यह क्रम रखा है, किन्तु इसमें कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। सभी आचार्यों ने प्रायः अधम काव्य के दो भेद किए हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। किन्तु अजितसेन ने इन दो के अतिरिक्त शब्दार्थ चित्र नामक एक तृतीय भेद का भी निरूपण किया है,^१ जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की समान रूप से प्रधानता रहती है। उनकी यह मान्यता एक सीमा के अन्तर्गत स्वीकार की जा सकती है। क्योंकि शब्दचित्र में जहाँ एक ओर शब्दों की प्रधानता रहती है, वहीं दूसरी ओर अर्थचित्र में अर्थों की प्रधानता। किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसी रचना का भी निरूपण मिलता है, जहाँ दोनों की प्रधानता लक्षित होती है।

यथा—अरिष्टहर्म्यस्य सवज्रवेदेर्बालांगनीलद्युतिपूरितस्य ।

मध्ये विरेजुर्नवदीपमाला मालामणीनामिव वारिराशेः ॥^२

प्रस्तुत पद्य में एक साथ अनुप्रास और उपमालंकार की छटा द्वारा शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता को चित्रित किया गया है, अतः यहाँ शब्दार्थ-चित्र का उदाहरण ठीक-ठीक घटता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन ने काव्य के जिन तीन भेदों का निरूपण किया है, उन्हें परवर्ती आचार्य विश्वनाथ^३ और पण्डितराज जगन्नाथ^४ को छोड़कर प्रायः अन्य सभी आचार्यों ने समान रूप से मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम-काव्य के आठ भेद किए हैं, किन्तु हेमचन्द्र ने उनमें से केवल तीन भेद ही स्वीकार किये हैं तथा वाच्यादनुत्कर्ष, परांगता, अस्फुटता और अतिस्फुटता इन चार को असत्प्राधान्य के उपभेद माना है। अजितसेन ने अधम-काव्य के शब्दचित्र और अर्थचित्र के अतिरिक्त शब्दार्थचित्र नामक उभयप्रधान भेद की भी कल्पना की है, जो सयुक्ति ग्राह्य है।

१. चित्रं शब्दार्थोभयभेदेन त्रिधा । —अलंकार-चिन्तामणि, ५।१७५ वृत्ति ।

२. अलंकार-चिन्तामणि, ५।१७८ ।

३. विश्वनाथ ने काव्य के दो भेद माने हैं—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम् । —साहित्यदर्पण, ४।१ ।

४. पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद माने हैं—

तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा—रसगंगाधर, पृ० ३६ ।

भारतीय वाङ्मय में रस शब्द का उल्लेख वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, आयुर्वेद और कामसूत्र आदि विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। वहाँ उनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिया गया है। सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग शृंगार आदि काव्य-रस, कषाय, तिक्त, कटु आदि चखने योग्य पदार्थ, घृत आदि चिकने पदार्थ तथा विष, जल, निर्यास (वृक्षों से चूने वाला तरल पदार्थ) पारद, राग और वीर्य में होता है।^१ काव्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में हुआ है, अतः 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जो आस्वादित हो वह रस है। विभिन्न आचार्यों ने साहित्य में रसास्वाद के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार उपस्थित किये हैं।

रस स्वरूप :

अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समस्त अलंकार-शास्त्री दो पक्षों में विभक्त हैं। प्रथम पक्ष में वे लोग आते हैं, जिन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'^२ इस सूत्र को लेकर साहित्य में रस की अपरिहार्यता को स्वीकार किया है तथा द्वितीय पक्ष में वे लोग आते हैं, जिन्होंने रस की इस भूमिका को स्वीकार नहीं किया है, परन्तु उसे केवल काव्य का शोभाधायक तत्त्व माना है।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में चार आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त। क्रमशः इन्हीं आचार्यों ने सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त को काव्यशास्त्र में गरिमा के अनुरूप पद पर प्रतिष्ठित किया है। उक्त चार आचार्यों में जहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत भरत-रस-सूत्र

१. शृंगारादौ कषायादौ घृतादौ च विषे जले ।

निर्यासे पारदे रागे वीर्येऽपि रस इष्यते ॥

—अनेकार्थ नाममाला, पद्य २६ ।

२. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० ७१ ।

की व्याख्या को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वहीं भट्टलोल्लट की व्याख्या को पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने हेय-दृष्टि से देखा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि रस-सूत्र की व्याख्या और रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का मार्ग भट्टलोल्लट ने ही खोला है, जिससे अन्य आचार्यों को उस दिशा में सोचने का एक नया अवसर प्राप्त हुआ है।

भरत-रस-सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर ही आचार्यों में मतभेद है, क्योंकि उसी को आधार मानकर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्या की हैं। तदनुसार उनके मत को एक विशेष वाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। भट्टलोल्लट विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग से रस की उत्पत्ति मानते हैं, अतः उनका मत उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इस मत को मानने वाले भट्टलोल्लट के अतिरिक्त अन्याचार्य भी हैं।^१ भरत-रस-सूत्र के दूसरे व्याख्याकार हैं—शंकुक। इनका मत अनुमितिवाद के नाम से जाना जाता है। इनके अनुसार सामाजिक अनुमान के द्वारा रसास्वादन करता है।^२ भरत-रस-सूत्र के तीसरे व्याख्याकार हैं—भट्टनायक। इनका मत भुक्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति और संयोग का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध किया है।^३ भरत-रस-सूत्र के चौथे व्याख्याकार हैं—अभिनवगुप्त। इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है, जो प्रायः मान्य है। अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में सामाजिक को रसानुभूति का आश्रय स्वीकार किया है तथा रस को अलौकिक-आनन्द रूप कहा है।^४ मम्मट ने रस-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—लोक में जो रति आदि स्थायीभावों के कारण, कार्य और सहकारिभाव पाये जाते हैं, वे ही यदि नाट्य अथवा काव्य में प्रयुक्त हो जाते हैं तो वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और उन्हीं विभावादि भावों से अभिव्यक्त होने वाला स्थायिभाव रस कहलाता है।^५

जैनाचार्यों के रस-स्वरूप का उपजीव्य प्रायः भरत-रस-सूत्र ही रहा है। वाग्भट-प्रथम ने रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि जिस

१. काव्यप्रकाश, पृ० १०१।

२. वही, पृ० १०२-१०३।

३. वही, पृ० १०६-१०७।

४. वही, पृ० १०८-१०९।

५. वही, ४।२७-२८।

प्रकार अच्छी तरह पकाया हुआ, किन्तु नमकविहीन भोजन स्वादिष्ट नहीं लगता है, उसी प्रकार नीरस काव्य भी आस्वाद्य नहीं होता है।^१ पुनः रस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावों से परिपोष को प्राप्त हुआ स्थायिभाव रस कहलाता है।^२ रस की प्रस्तुत परिभाषा में भरत-रस-सूत्र के भावों को ग्रहण कर सात्त्विक-भावों का भी समावेश किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहा है।^३ उनका यह कथन भरत-रस-सूत्र और उसके (श्रेष्ठ) अन्तिम व्याख्याकार अभिनवगुप्त के मत की पुष्टि करता है। हेमचन्द्र ने अपने रस-सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि—वाचिक आदि अभिनय सहित जिनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारिभाव विशेष रूप से जाने जाते हैं, वे काव्य और नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध ललना आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन स्वभाव वाले विभाव कहलाते हैं। स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव रूप चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए सामाजिक लोग जिन कटाक्ष और भुजाक्षेप आदि के द्वारा साक्षात्कार करते हैं तथा जो कार्यरूप में परिणत होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। विविध रूप से रस की ओर उन्मुख होकर विचरण करने वाले धृति, स्मृति आदि व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये विभावादि स्थायिभाव के अनुमापक होने से लोक में कारण, कार्य और सहचारी शब्दों से सम्बोधित किये जाते हैं। ये मेरे हैं, ये दूसरे के हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये दूसरे के नहीं हैं—इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले तथा विभावादि से अभिव्यक्त होने वाले सामाजिकों में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव हैं। यह स्थायिभाव नियत प्रमाता (सहृदय विशेष) में स्थित होने पर भी साधारणीकरण के कारण सभी सहृदय हृदयों में युगपद अनुभूत होने वाला, आस्वाद मात्र स्वरूप, विभावादि भावनापर्यन्त रहने वाला, अलौकिक चमत्कारोत्पादक होने से परब्रह्मास्वाद सहोदर तथा (भाव-विभोर) निमीलित-नेत्रों से कवि और सहृदयों के द्वारा आस्वाद्यमान, स्वसंवेदन सिद्धरस कहलाता है।^४

१. वाग्भटालंकार, ५।१।

२. वही, ५।२।

३. काव्यानुशासन, २।१।

४. वही, २।१ वृत्ति।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस-स्वरूप विषयक मान्यता अन्य सभी आचार्यों से विलक्षण है। उनके अनुसार विभाव और व्यभिचारिभाव आदि के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होने वाला तथा स्पष्ट अनुभावों के द्वारा ज्ञात होने वाला स्थायिभाव रस कहलाता है।^१ प्रस्तुत स्वरूप की व्याख्या में प्रतिक्षण उदय और अस्त धर्म वाले अनेक व्यभिचारिभावों में जो अनुगत रूप से अवश्य रहता है, उसे स्थायिभाव कहा गया है; अर्थात् स्थायिभाव के रहने पर ही उसके रहने और उसके न रहने पर व्यभिचारिभावों के न रहने से व्यभिचारिभावरूप ग्लानि के प्रति रत्यादि निश्चित रूप से स्थायिभाव होता है। उपर्युक्त व्यभिचारिभाव आदि सामग्री के द्वारा परिपाक को प्राप्त कर रस रूप रत्यादि 'भवतीति भावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव कहलाता है। विभावों अर्थात् ललना और उद्यान आदि आलम्बन और उद्दीपन विभाव रूप बाह्य कारणों द्वारा पहले से विद्यमान स्थायिभाव का ही आविर्भाव होने से तथा सहृदयों के मन में विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारिभावों के द्वारा परिपोषण से उत्कर्ष को प्राप्त अथवा साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्था को प्राप्त, यथा-सम्भव दुःख-सुख स्वभाव वाला, 'रस्यते-आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद्यमान वही स्थायिभाव रस कहलाता है।^२

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यदर्पणकार रस को सुख-दुःख रूप उभयात्मक मानते हैं। अब यहाँ एक साथ दो प्रश्न उठते हैं कि—क्या नाट्यदर्पणकार सम्पूर्ण नौ रसों को सुख-दुःखात्मक मानते हैं? अथवा कुछ रसों को सुखात्मक मानते हैं और कुछ को दुःखात्मक। इस प्रसंग में नाट्यदर्पणकार की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

तत्रेष्टविभावादिग्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृ गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयान-काश्चत्वारो दुःखात्मानः।^३

अर्थात् इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—ये पाँच सुखात्मक रस हैं और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं।

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७।

२. वही, ३।७ वृत्ति।

३. वही, ३।७ वृत्ति।

नाट्यदर्पणकार ने कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकृत रस की सुखात्मकता का खण्डन करते हुये लिखा है कि—सभी रसों को सुखात्मक मानना प्रतीति के विपरीत है। क्योंकि वास्तविक करुणादि विभावों की तो बात ही छोड़ो, उससे तो दुःख होगा ही, किन्तु काव्य (नाटक) आदि में नटों के द्वारा (अवास्तविक रूप में) प्रदर्शित अभिनय में प्राप्त विभावादि से उत्पन्न भयानक, वीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस का आस्वादन करने वाला व्यक्ति अवर्णनीय कष्ट का अनुभव करता है। अतएव भयानकादि दृश्यों से सामाजिक उद्विग्न हो जाते हैं। जबकि सुखास्वादन में उद्विग्नता की कोई बात ही नहीं है। चूँकि लोग करुणादि रसों से भी चमत्कृत प्रतीत होते हैं, अतः उसी का समाधान करते हुये पुनः लिखा है कि—जो करुणादि चार रसों से भी सामाजिकों में चमत्कार दिखाई देता है, वह रसास्वाद के समाप्त हो जाने पर यथा-स्थित वस्तु के प्रदर्शन से कवि और नट के शक्ति-कौशल से होता है। क्योंकि शिरच्छेदकारी शत्रु की प्रहार कुशलता से वीरता के अभिमानी भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं, और इसी सर्वांग आनन्दानुभूति से कवि और नटगत शक्ति से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा ठगे हुए से विद्वान् दुःखात्मक करुणादि रसों में भी परमानन्द रूपता का अनुभव करते हैं। इसी आस्वाद के लोभ से दर्शक भी इनमें प्रवृत्त होते हैं^१ और जिस प्रकार पानक-रस का माधुर्य तीक्ष्ण आस्वाद से और अधिक अच्छा लगता है, उसी प्रकार (सुखास्वाद के साथ) दुःखास्वाद में अत्यधिक सुखानुभूति होती है। अन्यथा सीताहरण, द्रौपदी के केश और वस्त्राकर्षण आदि अभिनयों को देखने वाले सहृदय को सुखास्वाद कैसे सम्भव है ?^२ इसी के समर्थन में दूसरी युक्ति देते हुए लिखा है कि नट के द्वारा करुणादि प्रसंगों में किया जाने वाला अभिनय दुःखात्मक ही है। यदि अनुकरण में उसे सुखात्मक मानेंगे तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं होगा। अपितु विपरीत होने से आभास हो जायेगा। जो इष्ट जनों के वियोग से दुःखी व्यक्तियों के सामने करुणादि के वर्णन अथवा अभिनय से सुखानुभूति होती है, वह भी यथार्थ में दुःखानुभूति ही है। क्योंकि दुःखी व्यक्ति दुःखियों की वार्ता से सुख जैसा अनुभव करता है और प्रमोदकारी वार्ता से दुःखित होता है। अतः करुणादि रस दुःखात्मक ही हैं।^३

नरेन्द्रप्रभसूरि ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले रत्यादि स्थायिभाव को रस कहा है।^४ पुनः भरत-रस-सूत्र को प्रस्तुत

१-३. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७ विवृति।

४. अलंकारमहोदधि, ३।१२।

करते हुए आचार्य मम्मट की तरह भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनागक और अभिनव-गुप्त के रस विषयक मतों का प्रतिपादन किया है।^१ विजयवर्णी ने नीरस काव्य को नमकविहीन सब्जी की तरह अरुचिकर बतलाते हुये वाग्भट-प्रथम की तरह विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव और व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायि-भाव को रस कहा है।^२ इसी प्रकार अजितसेन ने भी विभावादि चारों भावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस स्वीकार किया है।^३ विभाव आदि कैसे रस रूप में परिणत हो जाते हैं ? इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार नवनीत परिपाक को प्राप्त कर घी रूप को धारण करता है, उसी प्रकार विभावादि के द्वारा परिपाक को प्राप्त स्थायिभाव रस रूप को प्राप्त करता है।^४ वाग्भट-द्वितीय ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहा है।^५

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्धाचार्यों के समान जैनाचार्यों ने भी प्रायः भरत-रस-सूत्र को आधार मानकर अपना रस-स्वरूप निरूपण किया है। किसी-किसी आचार्य ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की तरह सात्त्विक-भावों को भी रसाभिव्यक्ति में समान रूप से कारण स्वीकार किया है, जिनमें वाग्भट-प्रथम, विजयवर्णी और अजितसेन का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने काव्य में रस की स्थिति को सुख-दुःखात्मक स्वीकार किया है।

रस-भेद :

रस-भेदों को लेकर आचार्यों में वैमत्य है। कुछ आचार्य शृंगार, हास्य, करुण, रोद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत इन आठ रस-भेदों को स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्य उपर्युक्त रस के आठ भेदों में शान्तरस का समावेश करते हुए रसों की संख्या नौ मानते हैं। कुछ लोग नाटक में शान्तरस की स्थिति नहीं मानते हैं।

१. अलंकार-महोदधि, ३।१२ वृत्ति ।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१, ३।५ ।

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।८३ ।

४. वही, ५।८४ ।

५. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ५३ ।

आचार्य भरत ने शृंगार-हास्य आदि आठ रसों को नाट्य में स्वीकार किया है।^१ ये आठ रस उन्हें ब्रह्मा द्वारा परम्परा से प्राप्त हुए हैं।^२ दण्डी को भी रसों की उक्त संख्या अभीष्ट है।^३ किन्तु आनन्दवर्धन ने शान्त रस का समावेश करते हुए नौ रसों को स्वीकार किया है।^४ आचार्य मम्मट भरतमुनि के अनुगामी हैं, अतः उन्होंने सर्वप्रथम आठ रसों का ही उल्लेख किया है,^५ पुनः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए 'शान्तोऽपि नवमो रसः'^६ इस प्रकार कहकर निर्वेद स्थायिभाव वाले शान्त रस को भी स्वीकार किया है।

भरत मुनि के समकालीन जैनाचार्य आर्यरक्षित ने नौ काव्य-रसों का उल्लेख किया है—(१) वीर, (२) शृंगार, (३) अद्भुत, (४) रौद्र, (५) ब्रीडनक, (६) बीभत्स, (७) हास्य, (८) करुण और (९) प्रशान्त।^७ इनमें भरतमुनि-सम्मत रस-भेदों से दो नवीन बातें दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम यह कि जहाँ भरतमुनि ने आठ रस-भेदों का उल्लेख किया है, वहीं आर्यरक्षित ने नौ रसभेदों का। द्वितीय यह कि जहाँ भरतमुनि ने भयानक रस का उल्लेख किया है, वहाँ आर्यरक्षित ने भयानक के स्थान पर ब्रीडनक रस का। शेष दोनों आचार्यों में साम्य है।

१. (क) शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

—नाट्यशास्त्र, ६।१५ ।

(ख) कुछ लोग 'संज्ञाश्चेत्यष्टौ, शान्ताश्च नव नाट्य-रसाः' इस प्रकार पाठ भेद मानकर भरतमुनि के अनुसार रसों की संख्या नौ मानते हैं।

२. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना । —नाट्यशास्त्र, ६।१६ ।

३. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् । —काव्यादर्श, २।२६२ ।

४. आनन्दवर्धन, पृ० १६४-१६५ ।

५. काव्यप्रकाश, ४।२६ ।

६. वही, ४।३५ ।

७. वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रौद्रो अ होइ बोद्धवो ।

वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥

—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८२८ ।

वाग्भट-प्रथम ने शृंगार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त इन नौ रसों को स्वीकार किया है ।^१

आचार्य हेमचन्द्र को भी उक्त नौ रस अभीष्ट हैं, किन्तु उनका क्रम उपर्युक्त से भिन्न निम्न प्रकार है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत एवं शान्त ।^२ इस क्रम को अपनाने में उनका एक विशेष प्रयोजन है । उनका कहना है कि—काम सम्पूर्ण जाति के लिए सुलभ है तथा उससे अत्यन्त परिचित होने से सभी के लिए मनोहर प्रतीत होता है, अतः शृंगार को पूर्व में ग्रहण किया गया है । शृंगार का अनुगामी हास्य होने से शृंगार के पश्चात् हास्य को ग्रहण किया गया है । हास्य के ठीक विपरीत स्थिति करुण की है, अतः निरपेक्ष भाव होने से उसके पश्चात् करुण-रस की गणना की गई है । तत्पश्चात् करुण-रस का कारणभूत तथा अर्थ-प्रधान रौद्र रस है, अतः उसकी गणना की गई है । पुनः काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से धर्म-प्रधान वीर रस को ग्रहण किया गया है । उस वीररस का लक्ष्य भयभीतों को अभयदान देना है, अतः उसके बाद भयानक-रस को ग्रहण किया गया है । भयानक-रस के समान ही बीभत्स-रस के विभाव होने से भयानक के पश्चात् बीभत्स-रस को ग्रहण किया गया है, जो वीररस के द्वारा आक्षिप्त है । वीररस के अन्त में अद्भुत-रस की प्राप्ति होती है, अतः अद्भुत-रस को ग्रहण किया गया है । इसके पश्चात् धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्गात्मक प्रवृत्ति धर्मों के विपरीत और निवृत्ति-धर्मप्रधान मोक्षफल का प्रदाता शान्तरस आता है, अतः उसका ग्रहण किया गया है ।^३ ठीक इसी प्रकार का विवेचन हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त ने भी किया है ।^४

१. वाग्भटालंकार, ५।३ ।

२. काव्यानुशासन, २।२ ।

३. वही, २।२ वृत्ति ।

४. द्रष्टव्य—तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्व शृंगारः । तदनुगामी च हास्यः । निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः । ततस्तन्निमित्तं रौद्रः । स चार्थप्रधानः । ततः कामार्थ-योर्धर्ममूलत्वाद् वीरः । स हि धर्मप्रधानः । तस्य च भीताभयप्रदानसार-त्वात् तदनन्तरं भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति । वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः । यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम् ।
—ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीत-निवृत्तिधर्मात्मको मोक्ष-फलः शान्तः ।

—अभिनवभारती, पृ० ४३२ ।

हेमचन्द्र के अनुसार ये नौ रस परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाला स्नेहरस मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसका रति आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। उसी प्रकार युवकों का मित्र के प्रति स्नेह रति में, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति स्नेह धर्मवीर में और बालकों का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह का भयानक-रस में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में समझना चाहिए तथा गंध स्थायिभाव वाले लौल्यरस का हास्य, रति अथवा अन्यत्र अन्तर्भाव समझना चाहिए। इसी प्रकार भवितरस का अन्तर्भाव भी अन्य रसों में किया जा सकता है।^१

उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग स्नेह, लौल्य एवं भवितरस को भी मानते थे, किन्तु इन रसों का अलग से मानना हेमचन्द्र के लिए अभीष्ट नहीं है। अतः उन्होंने उक्त रसों का खंडन करके शृंगारादि रसों में ही उनका अन्तर्भाव किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नौ रसों का उल्लेख किया है।^२ उन्होंने शृंगारादि रसों को उसी क्रम से प्रस्तुत किया है, जो क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया है तथा इनके रखने में भी वही हेतु प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है।^३ इसके अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र का बहना है कि शृंगारादि नौ रस विशेष रूप से मनोरंजक एवं पुरुषार्थों में उपयोगी होने से पूर्वाचार्यों द्वारा कहे गये हैं। किन्तु कुछ लोग अन्य रसों की भी सम्भावना करते हैं। यथा—तृष्णा (लालच) रूप स्थायिभाव वाला लौल्यरस, आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाला स्नेहरस, आसक्ति रूप स्थायिभाव वाला व्यसन-रस, अरति रूप स्थायिभाव वाला दुःख-रस एवं संतोष रूप स्थायिभाव वाला सुख-रस। जिनका अन्तर्भाव पूर्व-रसों में ही कहा गया है।^४

नरेन्द्रप्रभसूरि ने शृंगारादि नौ रसों को स्वीकार किया है।^५ ये रसक्रम निरूपण में हेमचन्द्र के अनुगामी हैं तथा उनके इस क्रम को अपनाने का हेतु

१. काव्यानुशासन, २।२ वृत्ति।

२. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।६।

३. वही, ३।६ वृत्ति।

४. वही, ३।६ वृत्ति।

५. शृंगार-हास्य-करुणा रौद्र-वीर-भयानकाः।

बीभत्स-दभुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा अमी ॥

—अलंकारमहोदधि, ३।१३।

हेमचन्द्र-सम्मत ही है।^१ उन्होंने आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाले स्नेह आदि सभी रसों का रत्यादि (शृंगारादि) रसों में ही अन्तर्भाव किया है।^२ नरेन्द्र-प्रभसूरि के 'नवनाट्ये रसा अमो' इस कथन से स्पष्ट है कि उन्हें शान्तरस की स्थिति नाट्य में भी स्वीकार थी। विजयवर्णी,^३ अजितसेन,^४ वाग्भट-द्वितीय,^५ भावदेवसूरि^६ और पद्मसुन्दरगणि^७ को भी नौ रस-भेद मान्य हैं। भावदेवसूरि ने यद्यपि रसों की गणना स्पष्ट रूप से नहीं की है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित नौ विभावों की गणना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें नौ रस-भेद ही मान्य हैं।

सिद्धिचन्द्रगणि ने प्राचीनों (मम्मटादि) के अनुसार यद्यपि नौ रसों का उल्लेख किया है^८ तथापि नवीनों के अनुसार शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत इन चार रसों को ही स्वीकार किया है^९ और नवीनों का मत वस्तुतः उनका अपना हो है। कर्णादि क्यों रस नहीं हैं, इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—इष्ट वस्तु के नाश होने पर चित्त में होने वाली विकलता को शोक कहते हैं। रौद्र शक्ति से उत्पन्न होता है, मन की विकलता का नाम भय है, दोष—दशनादि से होने वाली निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न ईर्ष्या आदि के प्रति अनादर निर्वेद कहलाता है। अतः शोकादि प्रवृत्ति वाले कर्णादि रसों का निषेध किया गया है।^{१०}

अब प्रश्न उठता है कि जब कर्णादि रस नहीं हैं तब कवियों के द्वारा अज-विलापादि का वर्णन क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में सिद्धिचन्द्रगणि का कहना है कि अज आदि राजाओं का अपनी-अपनी प्रिया के प्रति अनुरागाधिक्य का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है और यही कारण है कि कालिदास ने राजा अज का अपनी प्रिया इन्दुमती के प्रति अनुराग के कारण देहत्याग का वर्णन किया है। इसी प्रकार शान्तरस का विवेचन मुमुक्षुओं के वैराग्यातिशय के ज्ञान हेतु किया जाता है। इसी प्रकार भय के आधिक्य का वर्णन उन-उन व्यक्तियों की कोमलता का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है

१. अलंकारमहोदधि, ३।१३ वृत्ति।

२. वही, ३।१३ वृत्ति।

३. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।६-७।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५।८५।

५. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३।

६. काव्यालंकारसारसंग्रह, ८।३।

७. अक्षरसाहि-शृंगारदर्पण, १।११।

८. काव्यप्रकाशखंडन, पृ० १६।

९. वही, पृ० १६।

१०. वही, पृ० २१।

और यथार्थ बात तो यह है कि कवियों के द्वारा अपनी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए ही पद्मवन्ध आदि काव्य के निर्माण की तरह वहाँ-वहाँ प्रवृत्ति होती है।^१

सिद्धिचन्द्रगणि का यह विवेचन नवीन होते हुए भी सर्वथा युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

उपयुक्त विवेचन से निम्न तथ्य सामने आये हैं। यथा—जैनाचार्य आर्य-रक्षित ने भरतमुनि-सम्मत भयानक-रस के स्थान पर एक नवीन ब्रीडनक रस की कल्पना की है। शेष जैन आचार्य वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी, अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय, भावदेवसूरि एवं पद्मसुन्दरगणि नौ रस भेदों के समर्थक हैं। किन्तु सिद्धिचन्द्रगणि का मत इस विषय में सर्वथा विलक्षण है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं नरेन्द्रप्रभ-सूरि ने रस क्रम-निरूपण में वे ही हेतु स्वीकार किए हैं, जिन्हें अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है। इन्हीं तीन आचार्यों ने स्नेहादि रसों का उल्लेख करते हुए उनका शृंगारादि-रसों में अन्तर्भाव किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्पष्ट रूप से शान्त रस की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है। इस प्रकार जैन आचार्यों द्वारा किया गया रस-भेद विवेचन भरत-परम्परा का अनुसरण करते हुए भी अलूठा है।

शृंगार-रस :

इसका स्थायिभाव रति है। भरतमुनि के अनुसार यह उत्तम प्रकृति वाले युवक नायक-नायिका में होता है। उन्होंने इसके दो भेद किए हैं—संभोग-शृंगार और विप्रलम्भ-शृंगार। संभोग-शृंगार ऋतु, माला, अनुलेपन, अलंकार धारण, इष्टजन-सामीप्य, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, वनगमन तथा अनुभव करने, सुनने, प्रिय के देखने, तथा क्रीड़ा और लीलादि विभावों से उत्पन्न होता है।^२ किन्तु जब नायक-नायिका एक दूसरे से बिछुड़कर दुःखानुभूति करते हैं तब विप्रलम्भ-शृंगार की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार शृंगार-रस, रति-संयोग की कामना का उत्पादक है। मंडन (अलंकारों से शरीरांगों को सुसज्जित करना), विलास (हाव-भाव प्रदर्शन), विव्लोक (अहंकार के वशीभूत होकर अभिमत वस्तु प्राप्ति के प्रति अनादर का भाव), हास्य, लीला (सकाम चेष्टाएँ) और रमण (क्रीड़ा)

१. काव्यप्रकाशखंडन, पृ० २२। २. नाट्यशास्त्र, ६।४५।

ये शृंगार रस के चिह्न हैं। यथा—युवती अपने मधुर-विलासों से सुन्दर युवकों के हृदय को उत्तम करने वाला, शब्दों से मुखरित मेखला-सूत्र दिखा रही है। आर्यरक्षित ने साधुओं को इससे बचने का उपदेश देते हुए कहा है कि ऐसे शृंगार को धिक्कार है—धिक्कार है, यह साधुओं के लिए त्याज्य है। यह शृंगार-रस मोक्ष रूपी गृह के लिए अर्गला के समान है, यह मुनिश्री द्वारा असेवनीय है।^१

वनंजय ने शृंगार के तीन भेद किये हैं—अयोग, विप्रयोग और संयोग। जब नायक-नायिका में परस्पर अनुराग होने पर भी परतंत्रता अथवा देव के कारण मिलन नहीं होता है, तब वह अयोग कहलाता है।^२ मम्मट ने शृंगार रस के भरत-सम्मत ही उक्त दो भेद करके संयोग-शृंगार के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधर-पान, चुम्बनादि अनन्त भेद होने से अगणनीय एक ही भेद गिना है तथा विप्रलम्भ-शृंगार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के कारण पाँच भेद माने हैं।^३

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने लिखा है कि स्त्री और पुरुष का परस्पर प्रेम-भाव शृंगार है। यह दो प्रकार का होता है—संयोग और विप्रलम्भ। स्त्री-पुरुष का मिलन संयोग शृंगार है और उनका वियोग विप्रलम्भ शृंगार है। पुनः प्रच्छन्न और प्रकाश के भेद से यह दो प्रकार का होता है।^४ हेमचन्द्र के अनुसार सुखमय धृति आदि व्यभिचारिभावों और रोमांच आदि अनुभावों वाला संयोग-शृंगार है, यह परस्पर अवलोकन आदि के भेद से अनन्त प्रकार का है तथा शंकादि व्यभिचारिभावों और संताप आदि अनुभावों वाला विप्रलम्भ-शृंगार है। यह अभिलाष, मान और प्रवास के भेद से तीन प्रकार का है। पुनः अभिलाष के देववशात् एवं परतन्त्रतावशात् ये दो भेद, मान के प्रणय एवं ईर्ष्या ये दो भेद तथा प्रवास के कार्यहेतुक, शापहेतुक एवं संभ्रम ये तीन भेद किये हैं।^५ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने करुण-विप्रलम्भ को करुण-रस ही स्वीकार किया है।^६ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सर्वप्रथम शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ ये दो भेद माने हैं। पुनः संभोग को अनन्त भेदों वाला कहकर

१. अनुयोगद्वार सूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८३६।
२. हिन्दी दशरूपक, ४।५०-५१।
३. काव्यप्रकाश, पृ० १२१, १२३।
४. वाग्भटालंकार, ५।५-६।
५. काव्यानुशासन, २।४-८।
६. करुण विप्रलम्भस्तु करुण एव। वही, २।५ वृत्ति।

विप्रलम्भ के मान, प्रवास, शाप, इच्छा और विरह ये पाँच भेद किये हैं। तत्पश्चात् शृंगार के विभावादि का उल्लेख किया है।^१ नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम शृंगार के दो भेद किये हैं—संभोग और विप्रलम्भ। पुनः सम्भोग के परस्पर अवलोकन आदि अनन्त भेद माने हैं। विप्रलम्भ के पाँच भेद किये हैं—स्पृहा, शाप, वियोग, ईर्ष्या और प्रवासजन्य।^२ यद्यपि नरेन्द्रप्रभसूरि ने संभोग-शृंगार के अनन्त भेद स्वीकार किये हैं तथापि पाँच प्रकार के विप्रलम्भ के पश्चात् होने वाले संभोग के कारण संभोग-शृंगार भी पाँच प्रकार का माना है—स्पृहानन्तर, शापानन्तर, वियोगानन्तर, ईर्ष्यानन्तर एवं प्रवासानन्तर।

‘एवं च यद्यपि चुम्बनार्लिङ्गनादिभिः सम्भोगस्यानन्त्यमुक्तम्, तथापि पञ्चप्रकारविप्रलम्भानन्तरभावित्वात् तस्यापि पञ्चविधत्वमेव।’^३

नरेन्द्रप्रभसूरि ने कर्ण-विप्रलम्भ को हेमचन्द्र की तरह कर्ण रस ही माना है।^४ विजयदर्शी का शृंगार-रस-भेद निरूपण वाग्भट-प्रथम के समान है।^५ अजितसेन ने सर्वप्रथम शृंगार के दो भेद किए हैं—संभोग और विप्रलम्भ। पुनः आलम्बन के भेद से संभोग के दो भेद किए हैं—प्रच्छन्न-संभोग और प्रकाश-संभोग। विप्रलम्भ को अभिलाष आदि के भेद से अनेक प्रकार का माना है।^६ वाग्भट-द्वितीय का शृंगार-रस-भेद विवेचन हेमचन्द्र के समान है।^७ भेद केवल इतना है कि हेमचन्द्र ने प्रवास के तीन भेद किए हैं—कार्य-हेतुक, शाप-हेतुक और संभ्रम। किन्तु वाग्भट-द्वितीय ने कार्यहेतुक, शापहेतुक दैववशात् और परवशात् ये चार प्रवास के भेद माने हैं।^८ पद्मसुन्दरगणि का शृंगारभेद-निरूपण वाग्भट-प्रथम के समान है।^९

जैनाचार्यों द्वारा किया गया उपर्युक्त शृंगार-रस विवेचन प्रायः भरत-परम्परा का अनुगमन करता है। किन्तु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा कर्ण-विप्रलम्भ को कर्ण-रस स्वीकार करना आदि नवीनता के द्योतक हैं।

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१०-११।
२. अलङ्कारमहोदधि, ३।१५-१६।
३. वही, ३।१६ वृत्ति।
४. वही, ३।१६ वृत्ति।
५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।३६, ३६।
६. अलङ्कारचिन्तामणि, ५।८६, ८६, ८५।
७. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३-५४।
८. वही, पृ० ५४।
९. अकबरसाहि-शृंगारदर्पण, १।१६-१७, ३।१।

हास्य-रस :

इसका स्थायिभाव हास है। भरतमुनि ने इसकी उत्पत्ति विकृत वेश, अलंकारादि विभावों से मानी है।^१ उनके अनुसार हास्य छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। प्रथम दो प्रकार का हास्य उत्तम पुरुषों में, मध्यम दो प्रकार का हास्य मध्यम पुरुषों में तथा अन्तिम दो प्रकार का हास्य अधम पुरुषों में पाया जाता है।^२ यह आत्मस्थ और परस्थ के भेद से भी दो प्रकार का होता है। जब किसी भी वस्तु के दर्शनादि से स्वयं हँसता है, तब आत्मस्थ कहलाता है और जब दूसरे को हँसाता है, तब वह परस्थ कहलाता है।^३

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार रूप, वय (अवस्था), वेश और भाषा की विडम्बना से उत्पन्न रस हास्य है। मन के हर्षित होने से भ्रू, नेत्र आदि का विकसित होना इस रस के चिन्ह (अनुभाव) हैं। यथा—कज्जल की रेखा से युक्त सोये हुए देवर को जागा हुआ देखकर स्तन के भार से कम्पित और जिसकी कमर झुकी हुई है, ऐसी श्यामा खिलखिला कर हँस रही है।^४ वाग्भट-प्रथम ने वेश आदि की विकृति से हास्य की उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार यह उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के भेद से तीन प्रकार का है। महापुरुषों के हास्य में केवल कपोलों और नेत्रों में हास्य रहता है तथा ओष्ठ बन्द रहते हैं। मध्यम पुरुषों के हास्य में मुख खुल जाता है और अधमों का हास्य शब्द-पूर्वक होता है।^५ हेमचन्द्र ने लिखा है कि स्मित, विहसित और अपहसित के भेद से आत्मस्थ हास्य तीन प्रकार का होता है, तथा क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति में पाया जाता है। इसी प्रकार हसित, उपहसित, और अतिहसित के भेद से परस्थ भी तीन प्रकार का होता है, जो क्रमशः उत्तमादि प्रकृतियों में पाया जाता है।^६ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विकृत आचरण और आश्चर्यकारी चेष्टाओं से हास्य-रस की उत्पत्ति मानी है तथा उन्हें हास्य के भरत-सम्मत भेद ही मान्य हैं।^७ नरेन्द्रप्रभसूरि ने आत्मस्थ और परस्थ के

१. नाट्यशास्त्र, ६।४८, पृ० ७४।

२. वही, ६।५२-५३।

३. वही, ६।४८, पृ० ७४।

४. अनुयोगद्वार सूत्र (द्वितीय भाग), पृ० ३।

५. वाग्भटालंकार, ५।२३-२४।

६. काव्यानुशासन, २।१०-११।

७. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१२-१३।

भेद से हास्य दो प्रकार का माना है ।^१ विजयवर्णी ने सर्वप्रथम हास्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । पुनः स्मित और हसित को उत्तम, विहसित और उपहसित को मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित को अधम माना है ।^२ अजितसेन ने हास्य के केवल तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम ।^३ वाग्भट-द्वितीय ने हास्य के तीन भेद माने हैं—स्मित, विहसित और अपहसित ।^४ पद्मसुन्दरगणि ने अजितसेन की तरह हास्य के उत्तमादि तीन भेद किए हैं ।^५ सिद्धिचन्द्रगणि ने स्मित, हसित और अतिहसित को उत्तम-मध्यम पुरुषों में अनुभाव स्वीकार किया है ।^६

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने हास्य-रस की उत्पत्ति विकृत वेश आदि से ही स्वीकार की है तथा उन्हें हास्य के वे ही भेद स्वीकार हैं, जिन्हें अन्य आलंकारिकों ने स्वीकार किया है ।

करुण-रस :

इष्ट के विनाश और अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला करुण-रस कहलाता है । इसका स्थायिभाव शोक है । भरतमुनि ने शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, विभाव-नाश, वध, बन्ध, विद्रव, उपघात और व्यसन आदि विभावों से करुण-रस की उत्पत्ति मानी है ।^७

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने लिखा है कि प्रिय के वियोग, बन्धन, ताड़न, रोग, मरण और संभ्रम आदि से करुण रस की उत्पत्ति होती है । शोक, विलाप, मुख की म्लानता और रुदन आदि इसके चिह्न (अनुभाव) हैं । यथा—प्रिय विषयक चिन्ता से मलिन-चित्त और आँसुओं से भरी आँखों वाली हे पुत्री ! उसके वियोग में तेरा मुख कृश हो गया है ।^८ वाग्भट-प्रथम ने शोक से उत्पन्न रस को करुण कहा है ।^९ हेमचन्द्र के अनुसार इष्ट-विनाश आदि विभाव, देवोपालम्भ आदि अनुभाव, निर्वेद-ग्लानि आदि दुःखमय व्यभिचारिभाव और शोक रूप स्थायिभाव वाला करुण रस है ।^{१०} रामचन्द्र-गुणचन्द्र,^{११} नरेन्द्रप्रभ-

१. अलंकार-महोदधि, ३।१७ वृत्ति । २. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।६६-७० ।

३. अलंकार-चिन्तामणि, ५।६६-१०० । ४. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५ ।

५. अकबरसाहि-शृंगारदर्पण, ४।२३, २५ ।

६. काव्यप्रकाशखंडन, पृ० १६ ।

७. नाट्यशास्त्र, ६।६१, पृ० ७५ ।

८. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ६ । ९. वाग्भटालंकार, ५।२२ ।

१०. काव्यानुशासन, २।१२ ।

११. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१४ ।

सूरि,^१ विजयवर्णी,^२ अजितसेन,^३ वाग्भट-द्वितीय^४ और पद्मसुन्दरगणि^५ ने समान रूप से करुण रस का विवेचन किया है, जिसमें करुण रस के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का उल्लेख करते हुए उसके स्थायिभाव पर प्रकाश डाला है। यह विवेचन भरत-परम्परा का पोषक है।

रौद्र-रस :

इसका स्थायिभाव क्रोध है। इसकी उत्पत्ति शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि के द्वारा होती है। भरत ने इसे राक्षस, दानव और उद्धत पुरुषों के आश्रित माना है। यह रौद्ररस क्रोध, घर्षण, अधिक्षेप, अपमान, झूठ वचन, कठोर वाणी, द्रोह और मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है।^६

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने रौद्र रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि— भयोत्पादक रूप, शब्द और अन्धकार के स्वरूप-चिन्तन से तथा तद्विषयक कथाओं के स्मरण से उत्पन्न संमोह, संभ्रम, विषाद और मरण रूप चित्तों (अनुभावों) वाला रौद्ररस है। यथा—पशुहिंसा में प्रवृत्त किसी हिंसक से कोई धर्मात्मा कह रहा है—भृकुटि से भयावह मुख वाले, अधरोष्ठ को चबाने वाले, खून से लथपथ, भयंकर शब्दों वाले राक्षसों के सदृश तुम पशु की हिंसा कर रहे हो। अतः तुम अति रौद्र-परिणामी रौद्र हो।^७ वाग्भट-प्रथम के अनुसार रौद्र रस क्रोधात्मक होता है और क्रोध शत्रु द्वारा किये गये पराभव से होता है। इसका नायक भीषण स्वभाव वाला, उग्र और विरोधी होता है। अपने कन्धों को पीटना, आत्म-प्रशंसा, अस्त्र फेंकना, भृकुटि चढ़ाना, शत्रुओं की निन्दा तथा मर्यादा का उल्लंघन ये उसके अनुभाव हैं।^८ हेमचन्द्र ने स्त्रियों का अपमान आदि विभाव, नेत्रों की लालिमा आदि अनुभाव और उग्रता आदि व्यभिचारिभावों से युक्त क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्र रस कहा है।^९ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का रौद्र रस विवेचन भरत का अनुगामी है।^{१०} इसी प्रकार

१. अलंकारमहोदधि, ३।१८ ।
२. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।७४-७७ ।
३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०१ ।
४. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५ ।
५. अकबरसाहिशृंगार दर्पण, ४।२६-३१ ।
६. नाट्यशास्त्र, ६।६३, पृ० ७५ ।
७. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८४१ ।
८. वाग्भटालंकार, ५।२६-३० ।
९. काव्यानुशासन, २।१३ ।
१०. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१५ ।

नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।^१ विजयवर्णी के अनुसार रौद्र दो प्रकार का होता है—मात्सर्य और द्वेष से उत्पन्न। इसके अतिरिक्त उन्होंने रौद्ररस के विभावादि का भी उल्लेख किया है।^२ अजितसेन विभावादि से परिपुष्ट क्रोध को रौद्ररस मानते हैं।^३ वाग्भट-द्वितीय ने रौद्र के विभाव आदि का उल्लेख हेमचन्द्र की तरह किया है।^४ पद्मसुन्दरगणि का रौद्ररस विवेचन वाग्भट-प्रथम से प्रभावित है।^५ इस प्रकार रौद्ररस का सभी आचार्यों का विवेचन एक ही सरणी पर आधारित है।

वीर-रस :

इसका स्थायिभाव उत्साह है। भरत ने उत्साह नामक स्थायिभाव को उत्तम प्रकृतिस्थ माना है। उनके अनुसार वीररस की उत्पत्ति असंमोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, अत्यधिक पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है।^६

जैनाचार्य आर्यरक्षित का वीररस विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण को लिए हुए है, उनके अनुसार परित्याग और तपश्चरण करने पर तथा शत्रु का विनाश होने पर अननुशय (अहंकार-रहित) धृति और पराक्रम पूर्ण चित्तों (अनुभावों) से युक्त वीररस कहलाता है। यथा—जो राज्य का त्याग करके दीक्षित होता है तथा काम, क्रोध-रूप महाशत्रु पक्ष का विनाश करता है, वह महावीर कहलाता है।^७ वाग्भट-प्रथम ने उत्साह नामक स्थायिभाव वाले वीररस के नायक को समस्त श्लाघनीय गुणों से युक्त माना है तथा इसके तीन भेद किए हैं—धर्मवीर, युद्धवीर और दानवीर।^८ हेमचन्द्र के अनुसार नीति आदि विभाव, स्थिरता आदि अनुभाव और धृति आदि व्याभिचारिभावों से युक्त उत्साह नामक स्थायिभाव वाला वीररस है। इसके धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ये तीन भेद हैं।^९ रामचन्द्र-गुणचन्द्र पराक्रम, बल, न्याय, यश और तत्त्वविनिश्चय से वीररस की उत्पत्ति मानते हैं, इसका अभिनय धैर्य, रोमांच और दान से

१. अलंकारमहोदधि, ३।१६।

२. शृंगारण्वचन्द्रिका, ३।८०-८३।

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०५।

४. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।

५. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।३२।

६. नाट्यशास्त्र, ६।६६।

७. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८३३।

८. वाग्भटालंकार, ५।२१।

९. काव्यानुशासन, २।१४।

किया जाता है।^१ उन्होंने वीररस के निश्चित भेद नहीं माने हैं, अपितु युद्ध, धर्म, दान आदि गुणों तथा प्रतापाकर्षण आदि उपाधि-भेदों से इसके अनेक भेद स्वीकार किए हैं।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि का वीररस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।^३ विजयवर्णी ने वीररस के विभावादि का उल्लेख करते हुए दानवीर, दयावीर और युद्धवीर ये तीन भेद माने हैं।^४ अजितसेन के अनुसार विभावादि से परिपुष्ट उत्साह नामक स्थायिभाव वीररस है, वह दानवीर, दयावीर और युद्धवीर के भेद से तीन प्रकार का होता है।^५ वाग्भट-द्वितीय का वीररस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।^६ पद्मसुन्दरगणि ने वीररस के तीन भेद किये हैं—दयावीर दानवीर और युद्धवीर।^७ इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया विवेचन अपने आप में पूर्ण है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्यतया वीररस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर। किन्तु जैनाचार्यों ने केवल तीन भेदों का ही उल्लेख किया है, चार का नहीं। कुछ आचार्यों ने दयावीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदों का उल्लेख किया है, जिनमें वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि और वाग्भट-द्वितीय आते हैं। ये आचार्य भरत-परम्परा के पोषक हैं।^८ कुछ आचार्यों ने धर्मवीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदों का उल्लेख किया है, जिनमें विजयवर्णी, अजितसेन और पद्मसुन्दरगणि आते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को वीररस के कोई निश्चित भेद मान्य नहीं हैं।

भयानक रस :

इसका स्थायिभाव भय है। इसकी उत्पत्ति भयानक दृश्यों को देखने से होती है। आचार्य भरत ने विकृत ध्वनि, भयानक प्राणियों के दर्शन, सियार और उल्लू के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य-गृह, अरण्य-प्रवेश, मरण, स्वजनों के वध अथवा वन्धन के देखने-सुनने या कथन करने आदि विभावों से उसकी उत्पत्ति मानी है।^९

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१६।

२. वही, ३।१६ विवृति।

३. न्यायादिबोध्यः स्थैर्यादिहेतुषु त्याद्युपस्कृतः।

उत्साहो दान-युष्-धर्मभेदो वीररसः स्मृतः ॥ —अलंकारमहोदधि, ३।२०।

४. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।८६-९०।

५. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०९।

६. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६।

७. अकबरसाहि शृंगारदर्पण, ४।३५।

८. नाट्यशास्त्र, ६।७९।

९. वही, ६।६८।

वाग्भट-प्रथम ने भयानक वस्तुओं के दर्शन से भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। यह रस प्रायः स्त्रियों, नीच व्यक्तियों और बालकों में वर्णित किया जाता है।^१ हेमचन्द्र के अनुसार विकृत-स्वर-श्रवण आदि विभावों, कर-कम्पन आदि अनुभावों और शंका आदि व्यभिचारिभावों से युक्त भय नामक स्थायिभाव भयानक रस है।^२ हेमचन्द्र का यह कथन भरत से प्रभावित है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र पताका, कीर्ति, रौद्र-कार्य, युद्ध, शून्य स्थान, तस्कर और बड़े लोगों के प्रति किये गये अपराध से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। स्तम्भ, रोमांच और कम्पन से इसका अभिनय करना चाहिये।^३ नरेन्द्रप्रभसूरि का भयानक रस विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।^४ विजयवर्णी ने चतुर्विध भावों के संयोजनपूर्वक इस रस की उत्पत्ति मानी है।^५ अजितसेन ने विभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट भय नामक स्थायिभाव को भयानक रस स्वीकार किया है।^६ इस प्रसंग में वाग्भट-द्वितीय ने हेमचन्द्र-सम्मत विवेचन ही प्रस्तुत किया है।^७ पद्मसुन्दरगणि ने शब्दादि की विकृति अथवा भीषण वस्तु के दर्शन से भयानक रस की उत्पत्ति मानी है, यह बालक, स्त्री और कातर व्यक्ति में पाया जाता है।^८

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया भयानक रस का विवेचन भरत-परम्परा का सर्वथा पोषक है। यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य आर्यरक्षित ने भयानक रस को स्वीकार नहीं किया है।

बीभत्स-रस :

इसका स्थायिभाव जुगुप्सा है। बीभत्स दृश्यों के दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने अहृद्य और अप्रिय पदार्थों को देखने, अनिष्ट वस्तु के श्रवण, दर्शन और परिकीर्तन आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी है।^९

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार कुणप (शव) और घृणित वस्तुओं के दर्शन तथा उसकी गन्ध से उत्पन्न होने वाला रस बीभत्स है। निर्वेद और अविहिंसा

१. वाग्भटालंकार, ५।२७।

२. काव्यानुशासन, २।१५।

३. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१७।

४. कम्पादिकारणं क्रूरस्वरश्चुत्याद्युदञ्चितम्।

भयं भवति शङ्कादिव्यभिचारि भयानकः ॥ —अलंकारमहोदधि ३।२१।

५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।६४-६७।

६. अलंकार चिन्तामणि, ५।११४।

७. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६।

८. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।४१।

९. नाट्यशास्त्र, ६।७२।

इसके अनुभाव हैं। यथा—अशुचि, मल से युक्त, निर्भर (बहने) स्वभाव वाले प्रत्येक समय दुर्गन्ध से युक्त, अत्यधिक मल से पूरित, शरीररूपी कलि को त्यागने वाले धन्य हैं।^१ यह विवेचन वैराग्य प्रधान है। वाग्भट-प्रथम ने इसकी उत्पत्ति जुगुप्सा नामक स्थायिभाव से मानी है। उनके अनुसार अहृद्य वस्तु का श्रवण अथवा दर्शन उसके विभाव तथा धूकना और मुख विकृति आदि उसके अनुभाव हैं। उत्तम व्यक्तियों में इन अनुभावों का वर्णन नहीं करना चाहिए।^२ हेमचन्द्र ने अहृद्य वस्तु के दर्शन आदि विभावों, अंग संकोचन आदि अनुभावों और अपस्मार आदि व्यभिचारिभावों से युक्त जुगुप्सा नामक स्थायिभाव को बीभत्स-रस कहा है।^३ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसकी उत्पत्ति जुगुप्सा-जनक वस्तुओं के दर्शन अथवा शत्रु-प्रशंसा से मानी है। इसका अभिनय धूकने, नाक-भौं सिकोड़ने और निन्दा के द्वारा करना चाहिए।^४ नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।^५ विजयवर्णी ने बीभत्स रस के विभावादि भावों का विवेचन करते हुए जुगुप्सा नामक स्थायिभाव से इसकी उत्पत्ति मानी है, उनके अनुसार यह दो प्रकार का होता है—वृणित पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न और वैराग्य-जन्य।^६ अजितसेन विभावादि के द्वारा परिपुष्ट जुगुप्सा नामक स्थायिभाव को बीभत्स-रस मानते हैं। उन्हें विजयवर्णी सम्मत उक्त दो भेद ही मान्य हैं।^७ वाग्भट-द्वितीय का बीभत्स रस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।^८ इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणिकृत विवेचन भी पूर्वाचार्य सम्मत है।^९

उपर्युक्त जैनाचार्यों द्वारा किया गया बीभत्सरस विवेचन बहुमान्य परम्परा का पोषक है।

अद्भुत-रस :

इसका स्थायिभाव विस्मय है। इसकी उत्पत्ति आश्चर्यजनक वस्तुओं के दर्शन से होती है। आचार्य भरत ने इसकी उत्पत्ति दिव्य वस्तुओं के दर्शन,

१. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० १।

२. वाग्भटालंकार, ५।३१।

३. काव्यानुशासन, २।१५।

४. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१८।

५. अलंकारमहोदधि, ३।२२।

६. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।६६-१०२।

७. अलंकार-चिन्तामणि, ५।११८।

८. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६-५७।

९. अकबरसाहि शृंगारदर्पण, ४।४६।

इच्छित वस्तु की प्राप्ति, उत्तम वन एवं देवालय में आने, सभाभवन, विमान, माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों से मानी है ।^१

जैनाचार्य आर्यरक्षित के अनुसार विस्मयकारी, अपूर्व और जिसका पहले कभी अनुभव न हुआ हो वह अद्भुत रस है । यह हर्ष-विषाद की उत्पत्ति से युक्त लक्षणों वाला होता है । यथा—इस जीवलोक में इससे अद्भुत और क्या है, जो जिन-वचन में स्थित भूतानागत-वर्तमान युक्त अर्थ जानते हैं ।^२ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आर्यरक्षित द्वारा प्रतिपादित उक्त अद्भुत रस सत्यता का प्रतीक है, इसमें छल-क्पट आदि को कोई स्थान नहीं है । वाग्भट-प्रथम ने विस्मय स्थायिभाव वाले अद्भुत रस की उत्पत्ति असम्भाव्य वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण से मानी है ।^३ हेमचन्द्र के अनुसार दिव्य-दर्शन आदि विभावों, नयन विस्तार आदि अनुभावों और हर्ष आदि व्यभिचारिभावों से युक्त विस्मय नामक स्थायि-भाव वाला अद्भुत-रस कहलाता है ।^४ रामचन्द्र-गुणचन्द्र दिव्य विभूतिषों, इन्द्रजाल अथवा सुन्दर वस्तुओं के दर्शन तथा अभीष्ट सिद्धि से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानते हैं । इसका अभिनय प्रशंसा, रोमांच और हर्ष के द्वारा करना चाहिए ।^५ नरेन्द्रप्रभसूरि का अद्भुत-रस विवेचन हेमचन्द्र के समान है ।^६ विजयवर्णी ने विभावादि भावों से युक्त विस्मय नामक स्थायिभाव से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानी है ।^७ अजितसेन के अनुसार विभावादि से परिपुष्ट विस्मय नामक स्थायिभाव अद्भुत-रस है ।^८ वाग्भट-द्वितीय का अद्भुत-रस विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है ।^९ पद्मसुन्दरगणि असम्भाव्य वस्तु के दर्शन से ही प्रस्तुत रस की उत्पत्ति मानते हैं ।^{१०}

जैनाचार्यों द्वारा किया हुआ प्रस्तुत अद्भुत रस का विवेचन अपने आप में पूर्ण तथा शास्त्रीय परम्परा का पोषक है ।

१. नाट्यशास्त्र, ६।७४ चौखम्बा प्रकाशन, १९७२ के हिन्दी नाट्यशास्त्र, ६।७५ में पाठान्तर है ।
२. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८३६ ।
३. वाग्भटालंकार, ५।२५ ।
४. काव्यानुशासन, २।१६ ।
५. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१६ ।
६. अलंकारमहोदधि, ३।२३ ।
७. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१०५-१०७ ।
८. अलंकारचिन्तामणि, ५।१२३ ।
९. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५७ ।
१०. अकबरसाहि शृंगारदर्पण, ४।४६ ।

शान्त-रस :

इसके स्थायिभाव के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसका स्थायिभाव शम मानते हैं और कुछ लोग निर्वेद। एक प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार आचार्य भरत ने शम नामक स्थायिभाव वाले शान्तरस को मोक्षप्रवर्तक कहा है। इसकी उत्पत्ति तत्त्व-ज्ञान, वैराग्य और चित्त-शुद्धि आदि विभावों के द्वारा होती है।^१

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने इसे प्रशान्त-रस के नाम से सम्बोधित किया है। उनके अनुसार हिंसादिक दोषों से रहित, एकाग्रचित्त से उत्पन्न और विकार-रहित लक्षणवाला प्रशान्त रस है। यथा—स्वभाव से निर्विकार, शान्तचित्त और सौम्यदृष्टि से युक्त मुनि का मुख कमलश्री से शोभायमान हो रह है, यह आश्चर्य की बात है।^२ वाग्भट-प्रथम सम्यग्ज्ञान से शान्तरस की उत्पत्ति मानते हैं। इसका नायक निःस्पृही होता है, यह रागद्वेष के परित्याग से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है।^३ आचार्य हेमचन्द्र ने वैराग्य आदि विभावों, यम आदि अनुभावों और धृति आदि व्यभिचारिभावों से युक्त शम नामक स्थायिभाव वाला शान्तरस कहा है।^४ उनके अनुसार शम का तात्पर्य तृष्णाक्षय है।^५ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने संसार भीरुता, वैराग्य, तत्त्व-चिन्तन और शास्त्रों के परिशीलन से शान्त रस की उत्पत्ति मानी है। इसका अभिनय क्षमा, ध्यान और उपकार से किया जाता है।^६ नरेन्द्रप्रभसूरि का शान्तरस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।^७ विजयवर्णी ने विभावादि चतुष्टय से अभिव्यक्त होने वाले शम नामक स्थायिभाव को शान्त रस कहा है।^८ इसी प्रकार का विवेचन अजितसेन ने भी किया।^९ वाग्भट-द्वितीय का विवेचन हेमचन्द्र के समान है।^{१०} पद्मसुन्दर-

१. हिन्दी नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, पृ० ३५०-३५१।
२. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ८।
३. वाग्भटालंकार, ५।३२।
४. काव्यानुशासन, २।१७।
५. तृष्णाक्षयरूपः शमः ।—वही, २।१७ वृत्ति।
६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२०।
७. वैराग्यादिविभावोत्थो यमप्रभृतिकार्यकृत् ।
निर्वेदप्रमुखोर्जस्वी, शमः शान्तत्वमश्नुते ॥ —अलंकारमहोदधि, ३।२४।
८. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१०६-११२।
९. अलंकारचिन्तामणि, ५।१२६।
१०. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५७।

गणि ने शान्तरस की उत्पत्ति सम्यग्ज्ञान से मानी है, इसका नेता रागद्वेष से रहित निःस्पृही होता है ।^१

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त शान्तरस विवेचन में सभी आचार्यों ने शम नामक स्थायिभाव को ही शान्तरस में स्वीकार किया है, जबकि आचार्य मम्मट ने शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद स्वीकार किया है ।^२

ब्रीडनक-रस :

इसका स्थायिभाव लज्जा है । इसका विवेचन एक मात्र जैनाचार्य आर्य-रक्षित ने किया है । उनके अनुसार माता-पिता आदि गुरुजनों के प्रति विनय का उल्लंघन करने, गुप्त-वार्ता प्रकट करने तथा गुरु-पत्नी आदि के प्रति मर्यादा का उल्लंघन करने से उत्पन्न होने वाला रस ब्रीडनक है । लज्जा, शंका आदि इसके चिह्न हैं । यथा—इस लोक-व्यवहार से अधिक लज्जास्पद और क्या हो सकता है ? मैं तो लजाती हूँ, जो वर-वधू के प्रथम मिलन के समय धारण किए गये वधू के (रक्त से युक्त) वस्त्र की गुरुजन प्रशंसा करते हैं ।^३

भरतादि आचार्यों ने भयानक रस का उल्लेख किया है, किन्तु आर्यरक्षित ने भयानक के स्थान पर ब्रीडनक का प्रतिपादन किया है, जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता है । यद्यपि नवीनता की दृष्टि से यह रस हो सकता है, किन्तु इसकी सत्ता में सन्देह है । क्योंकि न तो इसे परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है और न ही यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त है । इसीलिये डॉ० वी० राघवन् आदि आधुनिक काव्यशास्त्री ब्रीडनक को स्वतन्त्र रस की संज्ञा नहीं देते हैं ।^४ जबकि भयानक रस की सत्ता असंदिग्ध है, जिसे सभी आचार्यों ने एक मत से स्वीकार किया है ।

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त रस विवेचन से ज्ञात होता है कि जैना-

१. अकबरसाहिब्रं गारदर्पण, ४।५२ । २. काव्यप्रकाश, ४।३५ ।

३. विणओदयारगुज्जगुरुदारमेरावइवइक्कमुप्पण्णो ।

वेलणओ नाम रसो, लज्जासंकाकरणील्लो ।।

वेलणओ रसो जहा—कि लोडअकरणीओ लज्जणी अतरंति लज्जायामुत्ति ?

वारिज्जम्मि गुरुयणो परिवंदइ जं बहुप्पोत्तं ।।

—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८४५ ।

४. दी नम्बर ऑफ रसाज, वी० राघवन, पृ० १४३ ।

चार्यों ने प्रायः प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विक-भाव और स्थायिभावों पर विचार किया है। इसके साथ ही उनके भेदों का भी यथा सम्भव उल्लेख किया है। आचार्य हेमचन्द्र प्रस्तुत रस-विवेचन में भरत-मुनि के ऋणी हैं, क्योंकि उनका विवेचन प्रायः भरतमुनि का अनुगमन करता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र मूलतः नाट्याचार्य हैं, अतः उन्होंने अपने रस-विवेचन में प्रत्येक रस के अभिनय का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु ये उस रस के अनुभाव मात्र हैं। सामान्यतया हेमचन्द्र और वाग्भट-द्वितीय तथा विजयवर्णी और अजितसेन का रस-विवेचन समान है अर्थात् हेमचन्द्र की छाया वाग्भट-द्वितीय पर पड़ी है और विजयवर्णी की छाया अजितसेन पर। इसके अतिरिक्त नरेन्द्र-प्रभसूरि भी हेमचन्द्र से प्रभावित हैं।

आर्यरक्षित द्वारा मान्य ब्रीडनक रस का स्वतन्त्र विवेचन किया गया है, क्योंकि इसका न तो किसी रस में अन्तर्भाव किया जा सकता है और न ही इसे अन्य किसी आचार्य ने मान्यता प्रदान की है।

रसों के वर्ण और देवता :

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने प्रत्येक रस के वर्ण (रंग) और उसके देवताओं पर विचार किया है। रसों के वर्णों और देवताओं के चयन में बड़ी सूक्ष्म-बुद्धि से काम लिया है। यदि आधुनिक दृष्टि को ध्यान में रखकर इनका मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि काव्य के पाठकों, श्रोताओं अथवा (रूपक के) दर्शकों के हाव-भाव, मुख-मुद्रा अथवा मनोभावों की कसौटी पर कस कर वर्णों और देवताओं का निर्णय किया गया है। जिस आचार्य ने सर्वप्रथम इनका प्रतिपादन किया है, वह आज के किसी सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक से कम नहीं है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के बहुमान्य आचार्य भरत ने रसों के वर्णों का प्रतिपादन करते हुये लिखा है कि—शृंगार का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का कृष्ण, बीभत्स का नील और अद्भुत का पीत वर्ण होता है।^१ इसी प्रकार रसों के देवताओं के विषय में लिखा है कि शृंगार का देवता विष्णु, हास्य का प्रमथगण (खट्वाङ्ग), रौद्र का रुद्र, करुण का यम, बीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का इन्द्र और अद्भुत का ब्रह्मा देवता हैं।^२

१. नाट्यशास्त्र, ६।४२-४३।

२. वही, ६।४४-४५।

विजयवर्णी ने शृंगार रस का वर्ण इन्दीवर और देवता वासुदेव, हास्य रस का वर्ण श्वेत और देवता विघ्नराज (गणेश जी), करुण रस का वर्ण कषाय और देवता श्राद्धदेव, रौद्ररस का वर्ण जवाकुसुम के समान रक्त और देवता रुद्र, वीररस का वर्ण गौर और देवता शतमन्यु, भयानक रस का वर्ण घूम्र और देवता महाकाल, वीभत्स रस का वर्ण नीलमेघ के समान और देवता नन्दी, अद्भुत रस का वर्ण स्वर्ण (सुनहरा) और देवता विधाता (ब्रह्मा) तथा शान्त रस का वर्ण शुद्ध स्फटिक मणि के समान और देवता परब्रह्मा माना है ।^१

अजितसेन ने शृंगार रस का वर्ण श्याम और देवता विष्णु, हास्य रस का वर्ण चन्द्र के समान श्वेत और देवता गणेश, करुण रस का वर्ण कपोत और देवता यम, रौद्र रस का वर्ण रक्त और देवता रुद्र, वीर रस का वर्ण गौर और देवता इन्द्र, भयानक रस का वर्ण घूम्र और देवता महाकाल, वीभत्स रस का वर्ण नील और देवता काल, अद्भुत रस का वर्ण स्वर्ण (सुनहरा) और देवता ब्रह्मा, शान्त रस का वर्ण श्वेत और देवता परब्रह्मा माना है ।^२

उपर्युक्त विवेचन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जहाँ आचार्य भरत ने आठ रसों के वर्णों और देवताओं का वर्णन किया है, वहीं भरत के परवर्ती जैनाचार्य विजयवर्णी एवं अजितसेन ने नौ रसों के वर्णों और देवताओं का विवेचन किया है । चूँकि भरत ने रस-भेद प्रसंग में केवल आठ रसों का वर्णन किया है, अतः आठों रसों के वर्णों और देवताओं पर ही विचार करना स्वाभाविक है । किन्तु विजयवर्णी एवं अजितसेन ने नौ रसों का विवेचन किया है, अतः तदनुसार उन्होंने रसों के नौ वर्णों एवं नौ देवताओं का विवेचन किया है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भरत ने हास्य का देवता रुद्रगण माना है, किन्तु विजयवर्णी एवं अजितसेन ने हास्य का देवता गणेश जी को माना है । इसी प्रकार भयानक और वीभत्स रस के देवताओं में भी मतभेद है, जहाँ भरत ने भयानक रस का देवता कालदेव माना है वहीं विजयवर्णी और अजितसेन ने महाकाल माना है । इसी प्रकार जहाँ भरत ने वीभत्स रस का देवता महाकाल माना है वहीं विजयवर्णी और अजितसेन ने क्रमशः नन्दी एवं काल को देवता माना है । शेष वर्णों एवं देवताओं में प्रायः समानता है ।

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।११७-१२५ ।

२. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३३ ।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतानुसार रसों के वर्णों एवं देवताओं के बोध कराने में निम्न कोष्ठक सहायक होगा—

रसों के वर्णों एवं देवता बोधक-चक्र

आचार्य भरत			विजयवर्णी		अजितसेन	
रस	वर्ण	देवता	वर्ण	देवता	वर्ण	देवता
शृंगार	श्याम	विष्णु	इन्दीवर	वासुदेव	श्याम	विष्णु
हास्य	श्वेत	रुद्रगण	श्वेत	गणेशजी	चन्द्रवत्शुभ्र	गणेशजी
करुण	कपोत	यम	कषाय	श्राद्धदेव	कपोत	यम
रौद्र	रक्त	रुद्र	जवाकुसुम- वत् रक्त	रुद्र	रक्त	रुद्र
वीर	गौर	इन्द्र	गौर	शतमन्यु	गौर	इन्द्र
भयानक	कृष्ण	कालदेव	धूम्र	महाकाल	धूम्र	महाकाल
बीभत्स	नील	महाकाल	नीलमेघवत्	नन्दी	नील	काल
अद्भुत	पीत	ब्रह्मा	स्वर्ण	ब्रह्मा	स्वर्ण	ब्रह्मा
शान्त	...	...	स्फटिक- मणिवत्	परब्रह्मा	श्वेत	परब्रह्मा

रसों का परस्पर सम्बन्ध :

रसों का परस्पर सम्बन्ध दो प्रकार से सम्भव है—अविरोध रूप में और विरोध रूप में अर्थात् कुछ रसों का परस्पर अविरोध रूप सम्बन्ध है, अतः वे अविरोधी-रस कहलाते हैं और कुछ रसों का परस्पर विरोध रूप सम्बन्ध है, अतः वे विरोधी रस कहलाते हैं ।

अविरोधी रस : आचार्य भरत ने शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक-रस की उत्पत्ति मानी है ।^१ अतः इनका परस्पर उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है और ये परस्पर अविरोधी रस हैं अर्थात् इन रसों का एक साथ वर्णन किया जा सकता है । विजयवर्णी ने भी उपर्युक्त भरत सम्मत रसों के उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध को स्वीकार किया है,^२ किन्तु इनकी व्यवस्था में शान्त रस का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें कहा गया

१. नाट्यशास्त्र, ६।३६ ।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१२६ ।

है कि शान्त रस शान्त होने से किसी अन्य रस से उत्पन्न नहीं होता है^१ अर्थात् शान्त रस उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से रहित है। इसी प्रकार अजितसेन,^२ पद्मसुन्दरगणि^३ ने भी उक्त भरत-सम्मत व्यवस्था को ही स्वीकार किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अजितसेन ने विजयवर्णी के सदृश शान्त रस का सर्वोत्कृष्ट रस होने से अन्य किसी रस से मैत्री अथवा विरोध प्रदर्शित नहीं किया है।^४

उपर्युक्त जैनाचार्यों का अविरोधी रस-विवेचन भरत-परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

विरोधी-रस : काव्यशास्त्रियों ने तुल्य बल वाले परस्पर विरोधी-रसों का साथ-साथ वर्णन रसोद्बोधन में बाधक माना है। जो रस परस्पर एक दूसरे के बाधक हैं, उन्हें विरोधी रस की संज्ञा दी जाती है। यथा—शृंगार और बीभत्स ये दोनों विरोधी रस हैं। इन दोनों का एक ही स्थान पर समान रूप से वर्णन करना रस-विघातक माना गया है। इसी प्रकार भयानक और वीर, अद्भुत और रौद्र तथा करुण और हास्य-रस परस्पर विरोधी हैं। अतः इसका भी एक साथ समान रूप से वर्णन करना उचित नहीं है।

जैनाचार्य अजितसेन ने शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत तथा हास्य और करुण इन रसों को परस्पर विरोधी रस कहा है।^५ इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणि ने भी उक्त रसों में परस्पर विरोध स्वीकार किया है,^६ जो मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है।

आचार्य विश्वनाथ ने विरोधी-रसों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शृंगार के करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक ये विरोधी रस हैं। इसी प्रकार हास्य के भयानक और करुण; करुण के हास्य और शृंगार; रौद्र के हास्य, शृंगार और भयानक; वीर के भयानक और शान्त; भयानक के शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त; शान्त के वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक तथा बीभत्स का शृंगार-रस विरोधी है।^७ इन परस्पर विरोधी रसों का किस परिस्थिति में एक साथ वर्णन करना रस-विघातक नहीं माना

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१२७। २. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३१।

३. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।५७। ४. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३१।

५. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३०। ६. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।५६।

७. साहित्यदर्पण, ३।२५४-२५८।

जाता है, इसका विवेचन चतुर्थ अध्याय के दोष-परिहार विवेचन के अन्तर्गत किया गया है।

भाव :

मन में उठने वाले विभिन्न विकारों को भाव कहते हैं। भरत मुनि ने भाव की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जो वाणो, अंग और सत्त्व से युक्त काव्यार्थों का भावन कराते हैं, वे भाव कहलाते हैं।^१ इसी प्रकार धनंजय सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा उस ही भाव से भावित होना भाव मानते हैं^२ अर्थात् जब सामाजिक का हृदय नट के द्वारा अभिनित भावों से नटगत चित्त-वृत्ति वाला हो जाता है, तब वह भाव कहलाता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चित्तवृत्तियाँ ही भावन कराती हैं और अलौकिक वाचिकादि अभिनय रूप प्रक्रिया द्वारा अरूढ़ लौकिक दशा में अनास्वाद्य भी अपनी आत्मा को आस्वाद कराते हैं अथवा भावन कराते हैं अर्थात् सामाजिकों का मन तद्गत (नट रूप) हो जाता है, तब वह भाव कहलाता है।^३

इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र भरत और विश्वनाथ के अनुगामी हैं।

विभाव :

विशेष प्रकार के भाव का नाम विभाव है। यह रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति में कारण है। आचार्य भरत ने विभाव का अर्थ विज्ञान किया है तथा कारण, निमित्त और हेतु को विभाव का पर्यायवाची कहा है।^४ जिसके द्वारा वाचिक, कायिक तथा सात्त्विक अभिनय विभाजित किये जाते हैं, वह विभाव कहलाता है। विभावित और विज्ञात ये दोनों एकर्थक हैं।^५ अतः ठीक ही कहा है—

बहवोऽर्था विभाध्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः ।

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥^६

१. नाट्यशास्त्र, पृ० ७६ ।

२. हिन्दी दशरूपक, ४।४ ।

३. भावयन्ति चित्तवृत्तय एवालौकिकवाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया सात्मानं लौकिकदशायामनास्वाद्यमप्यास्वार्थं कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः । —काव्यानुशासन, २।१८ वृत्त ।

४. नाट्यशास्त्र, पृ० ८० ।

५. वही, पृ० ८० ।

६. वही, ७।४ ।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने विभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वाचिक, कायिक और सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो स्थायी और व्यभिचारी चित्त-वृत्तियों को विशेष रूप से ज्ञापित करते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। ललना आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन-विभाव हैं।^१ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभावों को विशेष रूप से भावित कराने वालों को विभाव कहा है।^२ इस प्रसंग में नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि युवक और युवती के सामने उपस्थित होने पर जिसको आलम्बन करके स्थायी और व्यभिचारी रूप भावों का जो क्षण भर में अनुभव कराते हैं, वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं।^३ इसी प्रकार ज्योत्स्ना, उद्यान आदि समृद्धि को आश्रय करते हुए स्थायी और व्यभिचारिरूप भावों को जो अत्यधिक उद्दीपित करते हैं, वे उद्दीपन-विभाव कहलाते हैं।^४ विजयवर्णी ने विभाव की परिभाषा करते हुए लिखा है—‘भावयन्ति विशेषेण ये रसं ते विभावकाः’ अर्थात् जो विशेष रूप से रस का अनुभव कराते हैं, वे विभाव कहलाते हैं, यह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार है, जिसको आलम्बन करके रसानुभूति होती है, वह आलम्बन विभाव कहलाता है और जिसके द्वारा रस उद्दीपित होता है, वह उद्दीपन विभाव कहलाता है।^५ भावदेवसूरि ने विभाव को रस का कारण बतलाते हुए नौ विभावों का एक पद्य में संग्रह करके विभावों का संकेत मात्र किया है।^६

इसके अतिरिक्त वाग्भट-प्रथम ने कुछ रसों के विभावों की गणना की है। अजितसेन ने रसों के आलम्बन और उद्दीपन विभावों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। वाग्भट-द्वितीय ने प्रत्येक रस के लक्षण प्रसंग में तत्तत् रस विषयक विभावों का उल्लेख मात्र किया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया विभाव-विवेचन अपने आप में पूर्ण और भरत-परम्परा का निर्वाह करने वाला है।

१. काव्यानुशासन, २।१ वृत्ति।
२. वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आविर्भावना-विशेषेण प्रयोजयन्ति इति आलम्बन-उद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृति।
३. अलंकारमहोदधि, ३।२६।
४. वही, ३।२७।
५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१४-१५।
६. काव्यालंकारसारसंग्रह, ८।२-३।

अनुभाव :

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—भाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाला । यह विभाव के पश्चात् उत्पन्न होता है, अतः रस का कार्य है । आचार्य भरत ने लिखा है कि—ये अभिनय को वाणी, अंग और सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते हैं, अतः अनुभाव कहलाते हैं—‘अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग-सत्त्वकृतोऽभिनय इति ।’^१ धनंजय ने रत्यादि स्थायिभावों के संसूचक विकारों को अनुभाव कहा है ।^२

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अनुभाव का लक्षण करते हुए लिखा है कि—स्थायि-भाव और व्यभिचारिभाव रूप सामाजिक सहृदय की चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए जिनके द्वारा साक्षात्कार किया जाता है, वे कटाक्ष-पात और भुजाक्षेपादि अनुभाव कहलाते हैं ।^३ इस प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि—‘अनुलिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्तिगमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः, स्तम्भादयः’^४—अनु अर्थात् लिङ्ग के निश्चय के बाद (रस को) भावित अर्थात् बोधित करने वाले होने से (कार्य रूप) स्तम्भ आदि (रस का कार्य) अनुभाव कहलाते हैं । अन्यत्र उन्होंने रसों के स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों के कार्यभूत अनुभावों का प्रतिपादन करते हुये लिखा है—वे पथु (कम्प), स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूच्छा, स्वेद और वैवर्ण्य आदि रस से उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते हैं ।^५ तत्पश्चात् प्रत्येक का लक्षण उपस्थित किया है ।

वेपथु—भय आदि के द्वारा शरीर का हिलना वेपथु है, इससे वाणी में विकृतपन आ जाता है ।^६

स्तम्भ—यत्न करने पर भी हर्ष आदि के कारण हाथ-पैर आदि अंगों की क्रिया का न होना तथा विषाद सूचक ‘हा’ इत्यादि शब्दों का होना स्तम्भ है ।^७

१. हिन्दी नाट्यशास्त्र, पृ० ३७४ ।

२. हिन्दी दश रूपक, ४।३ ।

३. काव्यानुगासन, २।१ वृत्ति ।

४. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृति ।

५. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।४५ ।

६. भयादेर्वेपथुगात्रस्पन्दो वागादिविक्रियः ।

—वही, ३।४६ ।

७. यत्नेऽप्यंगाक्रिया स्तम्भो हर्षदिः, हा ! विषादवान् ।

—वही, ३।४६ ।

रोमांच—प्रिय के दर्शनादि से रोमों का खड़ा होना तथा अंगों का स्पर्शादि करना रोमांच है ।^१

स्वरभेद—मदादि के कारण स्वर का अन्यथा हो जाना स्वरभेद है, यह हर्ष और हास्य को उत्पन्न करने वाला होता है ।^२

अश्रु—शोकादि के कारण नेत्रों में जल का उत्पन्न होना अश्रु है, यह नथुने के फड़कने और नेत्रों के पोंछने के द्वारा अभिनय है ।^३

मूर्च्छा—घात (प्रहार) और कोप आदि के द्वारा इन्द्रियों की शक्ति का क्षीण हो जाना मूर्च्छा है । इसमें व्यक्ति भूमि पर गिर जाता है ।^४

स्वेद—परिश्रम आदि के कारण रोम-कूपों से होने वाला जल-स्राव स्वेद है । पंखा झलने आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।^५

वैवर्ण्य—तिरस्कार आदि के द्वारा मुख की कान्ति का विकृत हो जाना वैवर्ण्य है, इधर-उधर देखने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।^६

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव भी कहीं अनुभाव हो सकते हैं ।^७ नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुभावों की गणना करते हुए कहा है कि—जो कटाक्ष-पात, भुजाक्षेप, भ्रूम्रमण, मुख-भ्रमण आदि घोर भावलीला आदि रूप जो स्तम्भादि सात्त्विक-भाव हैं तथा जिनके द्वारा सामाजिक स्थायि-भाव और संचारिभावों का अनुभव करते हैं, वे (मेखला-स्खलन, श्वास, सन्ताप, जागरण, नथुनों का फड़कना और देहोपालम्भ आदि) सभी अनुभाव हैं ।^८

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हीं आठ सात्त्विक-भावों को गिनाया है, जो रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा पूर्वोल्लिखित हैं । अन्तर केवल इतना है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्रत्येक सात्त्विकभाव (अनुभाव) का केवल

१. रोमांचः प्रियदृष्ट्यादेः रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः । —हिन्दी नाट्यदर्पण, ३१४७ ।

२. स्वरभेदः स्वारात्स्वं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् । —वही, ३१४७ ।

३. अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्येर्नासास्पन्दाक्षिरूक्षणैः । —वही, ३१४८ ।

४. मूर्च्छनं घात-कोपाद्यैरवग्लानिभूमिपातकृत् । —वही, ३१४८ ।

५. स्वेदो रोमजलस्रावः श्रमादेर्व्यजनग्रहेः । —वही, ३१४९ ।

६. छायाविकारो वैवर्ण्यं क्षेपादेर्दिङ् निरीक्षणैः । —ही, ३१४९ ।

७. क्वचित् स्थायिनो व्यभिचारिणश्च । —वही, ३१४५ विवृत्ति ।

८. अलंकारमहोदधि, ३१२८-२९ ।

उदाहरण प्रस्तुत किया है लक्षण नहीं, जबकि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल लक्षण प्रस्तुत किया है, उदाहरण नहीं।

विजयवर्णी ने अनुभाव का लक्षण निरूपण करते हुए लिखा है कि—हृदय में स्थित जिन भावों के द्वारा उत्पन्न हुए रस की सहृदय भावना करते हैं, उससे शरीर में उत्पन्न होने वाले अनुभाव कहलाते हैं।^१

वाग्भट-प्रथम ने कुछ रसों के अनुभावों का वर्णन किया है। इसी प्रकार अजितसेन ने भी कहीं-कहीं रसों के अनुभावों का उल्लेख किया है। वाग्भट-द्वितीय ने प्रत्येक रस-लक्षण प्रसंग में तत्-तत् रसों के अनुभावों का उल्लेख किया है। भावदेवसूरि ने भी रसों के अनुसार नौ अनुभावों का नामोल्लेख किया है। पद्मसुन्दरगणि ने प्रत्येक रस के अनुभावों का पृथक्-पृथक् संयोजन किया है और सिद्धिचन्द्रगणि की स्थिति अजितसेन और पद्मसुन्दरगणि के समान है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया अनुभावों का उक्त सम्पूर्ण विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

व्यभिचारिभाव :

लौकिक जगत् में जो स्थिति सहकारिभावों की होती है, वही स्थिति काव्य जगत् में व्यभिचारिभावों की होती है। व्यभिचारिभावों का दूसरा नाम संचारिभाव है। चूँकि इनका स्वभाव संचरणशील है, अतः इनका संचारिभाव नाम युक्तियुक्त है। आचार्य भरत ने व्यभिचारिभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अभि इत्येतावुपसर्गो। चर गतौ धातुः। धात्वर्थवागंगसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'^२ तात्पर्य यह है कि जो विशेष रूप से रसों के चारों ओर उन्मुख होकर गतिशील होते हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं, इनका संचरण वाणी, अंग और सत्त्वादि के द्वारा होता है। उनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस है—निर्वेद ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, ब्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।^३

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१६।

२. नाट्यशास्त्र, २।२७।

३. वही, ६।१८-२१।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने व्यभिचारिभाव की परिभाषा करते हुए लिखा है—
 'विविधमाभिमुख्येन स्थायिधर्मोपजीवनेन स्वधर्मोपेक्षेन चरन्तीति व्यभिचारिणः ।'^१
 तात्पर्य यह है कि विविध धर्मों की ओर उन्मुख होकर संवरणशील होने के कारण तथा अपने धर्म का अर्पण करके स्थायिभावों का उपकार करने वाले व्यभिचारिभाव कहलाते हैं । हेमचन्द्र ने मूल में तैंतीस व्यभिचारिभावों का ही उल्लेख किया है,^२ किन्तु उन्हें व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस से अधिक अभीष्ट है । उन्होंने मुनि-वचनों को प्रमाण मानकर अन्य व्यभिचारिभावों का अन्तर्भाव भरत-मुनि-सम्मत उक्त तैंतीस व्यभिचारिभावों में ही कर दिया है । यथा—दम्भ का अवहित्था में, उद्वेग का निर्वेद में, क्षुधा-तृष्णा आदि का ग्लानि में ।^३ हेमचन्द्र ने तैंतीस व्यभिचारिभावों के सोदाहरण पृथक्-पृथक् लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं ।^४ इस प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि—रसोन्मुख स्थायिभाव के प्रति विशेष रूप से अनुकूल आचरण करने वाले (स्थायिभाव के पोषक) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं अथवा स्थायिभाव के विद्यमान रहने पर कभी कोई नहीं होता है, अतः व्यभिचारी होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ।^५ उनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस है ।^६ किन्तु यह मुनि-वचनों का परिपालन मात्र है । अन्यथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अन्य व्यभिचारिभावों की सम्भावना करते हुए लिखा है कि—क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, संतोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव और दाक्षिण्य आदि तथा स्थायिभाव और अनुभाव भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं ।^७ आचार्य भरत ने व्यभिचारिभावों की गणना के प्रसंग में सर्व-

१. काव्यानुशासन, २।१६ वृत्ति । २. वही, २।१६ ।
३. संख्यावचनं नियमार्थं तेनान्येषामत्रैवान्तर्भावः । तद्यथा—दम्भस्यावहित्थे, उद्वेगस्य निर्वेदे, क्षुत्तृष्णादेर्ग्लानो ।
—वही, २।१६ वृत्ति ।
४. वही, २।२०-५२ ।
५. सोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिणः । यदा व्यभिचरन्ति स्थायिनि उत्पत्ति के पि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः ।
—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।८ विवृत्ति ।
६. वही, ३।२५-२७ ।
७. अन्येऽपि (व्यभिचारिभावाः) पुनः सम्भवन्ति । यथा क्षुत्-तृष्णा-मैत्री-मुदिता-श्रद्धा-दया-उपेक्षा-रति-संतोष - क्षमा-मार्दव-आर्जव - दाक्षिण्य इत्येव, तथा स्थायिनोऽनुभावाश्चेति ।
—वही, ३।२७ विवृत्ति ।

प्रथम निर्वेद का उपादान किया है।^१ मम्मट ने उसका औचित्य दशति हुए लिखा है कि—अमंगल सूचक होने से यद्यपि निर्वेद का सर्वप्रथम ग्रहण अनुपादेय है तथापि व्यभिचारिभाव होने पर भी उसके स्थायित्व के कथन के लिए सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है,^२ जो शान्तरस का स्थायिभाव है।^३ तात्पर्य यह कि मम्मट को निर्वेद का व्यभिचारित्व तो स्वीकार है ही, किन्तु साथ ही वे उसे शान्तरस का स्थायिभाव भी स्वीकार करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने मम्मट के इस कथन का खंडन किया है। उनका कहना है कि—‘मम्मट ने व्यभिचारिभाव-कथन-प्रसंग में निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव माना है तथा रस-दोष प्रसंग में प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण करना दोष है’ इस प्रकार कहकर शान्तरस के प्रति निर्वेद रूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण करके स्ववचन-विघात किया है।^४ यहाँ रामचन्द्र-गुणचन्द्र के इस कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि स्थायिभाव के लिए स्थायित्व अपेक्षित है और व्यभिचारिभाव के लिए नहीं। अतः जो स्थायिभाव है वह व्यभिचारिभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि स्थायित्व व्यभिचारिभाव का लक्षण नहीं है और जो व्यभिचारिभाव है वह स्थायिभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि अस्थायी रहना स्थायिभाव का लक्षण नहीं है। पुनः मम्मट के द्वारा शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद को कहना कहाँ तक उचित है। इसीलिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शान्तरस का स्थायिभाव शम स्वीकार किया है।^५ नरेन्द्रप्रभूसूरि को हेमचन्द्र-कृत व्यभिचारिभाव की व्याख्या अभीष्ट है।^६ उन्होंने तैंतीस व्यभिचारिभावों

१. नाट्यशास्त्र, ६।१८ ।

२. निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादनं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानाथम् ।
—काव्यप्रकाश, पृ० १३८ ।

३. वही, ४।३५, पृ० १३८ ।

४. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे । निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, ‘प्रतिकूलविभावादिपरिग्रहः’ इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, वृषाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति ।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२८ पूर्वाद्धि, विवृत्ति ।

५. वही, ३।२४ ।

६. विविधमभिमुख्येन स्थायिधर्माणामुपजीवनेन स्वधर्माणां समर्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः ।
—अलंकार-महोदधि, ३।३३ वृत्ति ।

का नामोल्लेख करते हुए प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है।^१ विजयवर्णी ने व्यभिचारिभाव का स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि—स्थायिभाव रूप समुद्र में भाव तरंगों की तरह घूमते हैं, उनमें जो अनियत भाव हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।^२ पुनः तैत्तिरीय व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख मात्र किया है।^३ इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगों उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती हैं, उसी प्रकार आत्मा में अनेक प्रकार से संचरण करने वाले भाव संचारिभाव (व्यभिचारिभाव) कहलाते हैं।^४ इन्होंने भी तैत्तिरीय व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख करते हुए प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है।^५ वाग्भट-द्वितीय ने तैत्तिरीय व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख किया है।^६ भावदेवसूरि ने 'निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद् भावास्तु व्यभिचारिणः' मात्र कहकर व्यभिचारिभावों का उल्लेख किया है।^७ इसी प्रकार पद्मसुन्दरगणि ने 'निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद् विज्ञेया व्यभिचारिणः' मात्र कहा है।^८ इसके अतिरिक्त पद्मसुन्दरगणि ने प्रत्येक रस के व्यभिचारिभावों का पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया है।^९

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त व्यभिचारिभाव-विवेचन में कुछ नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यथा—आचार्य हेमचन्द्र और रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भरत-मुनि-सम्मत तैत्तिरीय व्यभिचारिभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यभिचारिभाव भी स्वीकार हैं। आचार्य मम्मट ने जो निर्वेद को व्यभिचारिभाव के अतिरिक्त स्थायिभाव भी स्वीकार किया है, वह रामचन्द्र-गुणचन्द्र को अभीष्ट नहीं है।

विजयवर्णी और अजितसेन के व्यभिचारिभाव स्वरूप पर धनंजय की छाया प्रतीत होती है।^{१०} शेष सम्पूर्ण विवेचन प्रायः भरत-परम्परा के पोषक हैं।

१. अलंकार-महोदधि, ३।३१-५०।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१६।

३. वही, ३।२०-२२।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५।२६।

५. वही, ५।२७-६२।

६. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० ५७।

७. काव्यालंकारसार-संग्रह, ८।६।

८. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, १।१४।

९. वही, ४।६२-७०।

१०. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।

स्थायिन्पुन्युन्मग्ननिर्मग्नः कल्लोला इव वारिधौ ॥ —हिन्दी दशरूपक, ४।७।

सात्त्विकभाव :

रस विवेचन प्रसंग में कहा गया है कि कुछ आचार्यों ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से तथा कुछ आचार्यों ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक-भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। अतः प्रस्तुत में सात्त्विक-भावों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

आचार्य भरत ने मन से उत्पन्न होने वाले को सत्त्व कहा है और वह समाहित (एकनिष्ठ) मन से उत्पन्न होता है तथा मन की एकनिष्ठता से सत्त्व की निष्पत्ति होती है।^१ अतः जिसकी उत्पत्ति में सत्त्व कारण हो, वह सात्त्विक-भाव कहलाता है। ये आठ प्रकार के होते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।^२ इन सात्त्विक-भावों में अनुभावत्व भी है, क्योंकि अनुभावों के सदृश ये भी नायक-नायिकादि आश्रय के विकार हैं। फिर भी इनकी गणना पृथक् की गई है। जिसका स्पष्ट संकेत घनंजय ने भी किया है।^३

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विक-भाव की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है 'सीद-त्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम् तत्र भवाः सात्त्विकाः।'^४ अर्थात् इसमें मन खिन्न होता है तथा सत्त्व गुणों के उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होने से प्राणात्मक वस्तु सत्त्व है, उससे उत्पन्न होने वाले सात्त्विक-भाव कहलाते हैं। उन्होंने सात्त्विकभाव के भरत-सम्मत आठ भेदों को स्वीकार किया है।^५ इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भी सात्त्विकभाव के उक्त आठ भेद अभीष्ट हैं, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इन आठ भेदों को अनुभाव कहा है।^६ अतः इनका उल्लेख अनुभावों के प्रसंग में किया गया है। नरेन्द्रप्रभसूरी ने सात्त्विक-भाव के हेमचन्द्रादि-सम्मत उक्त आठ भेद ही स्वीकार किए हैं।^७ विजयवर्णी के अनुसार रसिकों की मनोवृत्ति को सत्त्व कहते हैं और सत्त्व से उत्पन्न भाव सात्त्विकभाव कहलाते हैं।^८ पुनः उसके आठ भेदों का उन्होंने पूर्ववत् स्वीकार किया है।^९ इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—चित्तकी वृत्ति का नाम सत्त्व

१. नाट्यशास्त्र, ७।६२।

२. वही, ७।६३।

३. हिन्दी दशरूपक, ४।४ उत्तरार्द्ध।

४. काव्यानुशासन, २।५३ वृत्ति।

५. वही, २।५३।

६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।४५।

७. अलंकारमहोदधि, ३।३०।

८. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।१७।

९. वही, ३।१८।

है और उससे उत्पन्न होने वाले सात्त्विकभाव कहलाते हैं, ये नायक-नायिका के स्पर्शन, बातचीत और नितम्ब के सहलाने आदि में होते हैं।^१ यहाँ पर अजितसेन द्वारा जो सात्त्विकभाव का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसमें वे निश्चय ही विजयवर्णी के ऋणी हैं, क्योंकि दोनों में स्पष्ट साम्य प्रतीत होता है। अजितसेन ने भी उक्त आठ सात्त्विकभावों का सलक्षणोदाहरण उल्लेख किया है।^२ वाग्भट-द्वितीय ने केवल आठ सात्त्विकभावों की गणना की है।^३ पद्म-सुन्दरगणि ने 'अष्टो स्तम्भादयो भावाः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः' मात्र कहा है।^४

इसी प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्येक आचार्य को सात्त्विकभावों के उक्त आठ प्रकार ही मान्य हैं, इनसे न्यूनाधिक नहीं। साथ ही उनके द्वारा प्रतिपादित सात्त्विकभाव और उसके भेदों के स्वरूप में भी प्रायः साम्य प्रतीत होता है। केवल रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी एक विशेष मान्यता है, जिसमें उन्होंने उक्त सात्त्विकभावों को अनुभावों की कोटि में स्थान दिया है। यद्यपि उक्त आठ भावों को बहुआचार्यों ने सात्त्विकभावों की ही संज्ञा दी है तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो इनमें अनुभावों की भी परिभाषा पूर्णतः घटती है। क्योंकि नायक-नायिका में परस्पर होने वाले दर्शनादि के पश्चात् ही उक्त भावों के चिह्न प्रतीत होते हैं। अतः अनुभावों के प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा यदि उक्त भावों की गणना की जाती है तो यह उनकी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि का ही प्रतिफल है।

रसाभास, भावाभास :

जहाँ रस का आभास मात्र हो, वह रसाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक रस का अभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ भाव का आभास मात्र हो, वह भावाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक भाव का अभाव होता है। आचार्य मम्मट ने देव आदि विषयक रति को भाव कहा है^५ तथा कान्ता विषयक रति की अभिव्यक्ति को शृंगार कहा है।^६ पुनः उन रस तथा भावों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास तथा भावाभास है।^७

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।१६।

२. वही, ५।१७-२५।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५८।

४. अकबरसाहिष्णु गारदर्पण, १।१४।

५. रत्निर्देशादिविषया व्यभिचारी तथाऽजितः।

भावः प्रोक्तः।

—काव्यप्रकाश, ४।३५।

६. कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः।

—वही, ४।३५ वृत्ति।

७. तत्ताभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।

—वही, ३६।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इन्द्रिय रहित तथा तिर्यंच आदि में क्रमशः संभोगादिरस तथा भाव का आरोप करना रसाभास तथा भावाभास कहा है ।^१ इसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से भी रसाभास और भावाभास स्वीकार किया है ।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि का रसाभास-भावाभास द्विवेचन हेमचन्द्र के ही समान है ।^३

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मम्मट तथा जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनौचित्य पद का प्रयोग किया है, जो निश्चय ही आनन्दवर्धन के 'अनौचित्याद्वेत्ते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्' इस कथन से प्रभावित है । अतः उक्त आचार्य, आनन्दवर्धन के अनुजीवी हैं ।

स्थायिभाव :

सामान्य रूप से स्थायिभाव वे कहलाते हैं, जो सहृदय के हृदय में हमेशा विद्यमान रहते हैं अर्थात् स्थायी रूप से निवास करते हैं तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग पाकर रसानुभूति कराते हैं । अन्य भावों से स्थायिभावों की यही महती विशेषता है कि अन्य सभी भावों का आगमन (उदय) होता है और एक निश्चित समय तक उपस्थित रहकर पुनः विलीन हो जाते हैं, किन्तु स्थायिभाव सदैव सहृदय के हृदय में विद्यमान रहते हैं । उनका यह स्थायित्व ही उन्हें स्थायिभाव की संज्ञा से विभूषित कराता है । आचार्य भरत के अनुसार जिस प्रकार मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायिभाव महान् (प्रमुख) होता है ।^४ उनके अनुसार स्थायिभावों की संख्या आठ है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ।^५ धनंजय ने समुद्र की उपमा द्वारा स्थायिभाव का लक्षण सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि—जो भाव अपने विरोधी अथवा अविरोधी भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है, अपितु लवणाकार की तरह अन्य भावों को अपने सदृश बना लेता है, वह

१. निरिन्द्रियेषु तिर्यंगादिषु चारोपाद्रसभावाभासो । —काव्यानुशासन, २।५४ ।

२. वही, २।५५ ।

३. आभासा रस-भावानामनौचित्यप्रवर्तनात् ।

आरोपात् तिर्यंगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियेरपि ॥

—अलंकारमहोदधि, ३।५३ ।

४. नाट्यशास्त्र, ७।८ ।

५. वही, ६।१७ ।

स्थायिभाव कहलाता है।^१ उन्होंने उपर्युक्त भरत-सम्मत आठ स्थायिभावों को स्वीकार किया है तथा अन्यो के द्वारा कहे गये शम की नाट्य में पुष्टि न होने से स्वीकार नहीं किया है।^२ इसी प्रकार निर्वेद को भी स्थायिभाव मानना उन्हें अभीष्ट नहीं है।^३

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने नौ स्थायिभावों का उल्लेख किया है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम।^४ ये नौ स्थायि-भाव हेमचन्द्र,^५ रामचन्द्र-गुणचन्द्र,^६ नरेन्द्रप्रभसूरि,^७ विजयवर्णी,^८ अजित-सेन,^९ वाग्भट-द्वितीय^{१०} और पद्मसुन्दरगणि^{११} को भी समान रूप से मान्य हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उक्त स्थायिभावों का स्वरूप निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

रति—स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम, जिसका पर्यायवाची आस्थाबन्ध भी है, को रति कहते हैं। यह (रति) कामावस्था से युक्त, अभिलाष मात्र व्यभिचारात्मक रति तथा देवता, बन्धु और मनोहर वस्तु में होने वाली प्रीति रूप रति से विलक्षण है।

हास—अनुरंजन और उन्माद से युक्त चित्त का विकास हास कहलाता है।

शोक—निर्वेद से युक्त दुःख शोक है।

क्रोध—अपकार करने की इच्छा और घृणा का कारण तथा परिताप का आवेश क्रोध है।

उत्साह—धर्म, दान और युद्धादि कार्यों में आलस्य न करना उत्साह है।

भय—(मन की) विकलता का नाम भय है।

जुगुप्सा—कुत्सित का निश्चय हो जाना जुगुप्सा है।

विस्मय—उत्कृष्ट का निश्चय हो जाना विस्मय है।

शम—कामना का अभाव शम है।

१. हिन्दी दशरूपक, ४।३४।

२. वही, ४।३५।

३. वही, ४।३६।

४. वाग्भटालंकार, ५।४।

५. काव्यानुशासन, २।१८।

६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२४।

७. अलंकारमहोदधि, ३।२५।

८. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ३।४।

९. अलंकारचिन्तामणि, ५।३।

१०. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ५३।

११. अकबरसाहिबशृंगारदर्पण, १।१२। १२. हिन्दीनाट्यदर्पण, ३।२४ विवृत्ति।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपमानिकी, आध्यात्मिकी, अभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, अभिमानिकी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध इन पाँच भेदों वाली वैषयिकी रति का सोदाहरण उल्लेख किया है।^१ रति का इस प्रकार सभेद विवेचन अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी प्रकार उन्होंने हास आदि स्थायिभावों के भी स्मित, विहसित, अपहसित आदि भेदों की सम्भावना की है।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—अपने-अपने रस से अन्यत्र (दूसरे रस में) न जाने से तथा प्रत्येक समय (सर्वकाल) अपने (रस) में रहने से और अव्यभिचारि होने से रत्यादि भाव स्थायित्व की संज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थायिभाव कहलाते हैं तथा हर्षादि भाव इससे विपरीत स्वभाव वाले होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं—

स्वस्वरसादन्यत्रानभिगामित्वात् सर्वकालमात्मनः सन्नह्यचारित्वाच्च रत्यादीनां स्थायित्वम्, हर्षादीनां तु तद्विपरीतत्वाद् व्यभिचारित्वम्।^३

विजयवर्णी ने स्थायिभाव की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—चित्त की वृत्तियों का जो भेद परिणमन को प्राप्त न होकर, स्थिरता को प्राप्त करता है, उसी को स्थायिभाव कहते हैं।^४ इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—इन्द्रिय ज्ञान से संवेद्य-मान, मोहनीय कर्म से उद्भूत, रस का अभिव्यञ्जक, चित्तवृत्ति रूप पर्याय स्थायिभाव कहलाता है।^५ यह इन्द्रिय ज्ञान क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि—ज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) से जीव में इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है।^६

जैनाचार्यों द्वारा किया गया स्थायिभाव का प्रस्तुत विवेचन महत्वपूर्ण है। क्योंकि उन्होंने शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद को स्वीकार न कर शम को माना है, जो यथार्थता के सन्निकट है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के जिन नैसर्गिकी

१. अलंकारमहोदधि; ३।२५ वृत्ति।

२. एवं हासादीनामपि स्मित—विहसितापहसितादयः कतिचिद् भेदाः सम्भवन्ति।

—वही, ३।२५ वृत्ति।

३. वही, ३।२५ वृत्ति।

४. ष्टंगारार्णवचन्द्रिका, १।३।

५. अलंकारचिन्तामणि, ५।२।

६. वही, ५।१।

आदि बारह भेदों को स्वीकार किया है, वे अन्यत्र अनुपलब्ध हैं, अतः उनका विशेष महत्त्व बढ़ जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि और विजयवर्णी के स्थायिभाव का स्वरूप धनंजय के सदृश है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आर्यरक्षित ने स्वसम्मत ब्रीहनक-रस का स्थायिभाव ब्रीडा स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख रस प्रसंग में किया गया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा रस के प्रत्येक अंग पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है, जो भरत-परम्परा का निर्वाह करते हुए भी अपने आप में पूर्ण और विलक्षण है।

अलंकार-शास्त्र में गुणों और भेदों का समान रूप से विवेचन पाया जाता है। अतः काव्य का जितना गुणों से युक्त होना आवश्यक है उससे अधिक कहीं निर्दोष होना भी आवश्यक है।^१ इसलिए गुणों से पूर्व दोषों पर विचार कर लेना अनुचित न होगा, क्योंकि दोषों का विवेचन अलंकारिकों ने गुणों से पूर्व ही किया है तथा काव्य के स्वरूप में सर्वप्रथम दोषाभाव को स्वीकार किया गया है।

दोषों का विवेचन सबसे पहले आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है।^१ इसके पश्चात् अनुयोगद्वार-सूत्र के कर्त्ता जैनाचार्य आर्यरक्षित ने दोषों का विवेचन किया है। दोष की महत्ता को बताते हुए उन्होंने नौ काव्य-रसों की उत्पत्ति बत्तीस सूत्र-दोषों से मानी है।^२ भामह ने सदोष काव्य को कुपुत्र की तरह निन्दनीय कहा है^३ और दण्डी ने काव्य में अल्प-दोष को भी मानव-शरीर में कुष्ठ के दाग के समान बतलाया है।^४ इसी प्रकार जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने अदुष्ट काव्य को यश और स्वर्ग-प्राप्ति का साधन कहा है।^५ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुछ आचार्य काव्य में अल्प-दोष को भी स्वीकार नहीं करते हैं, जिनमें भामह और दण्डी के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में आचार्य भरत का कथन है कि संसार की कोई भी वस्तु दोष रहित नहीं है। अतः (अल्प) दोषों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।^६

दोष-स्वरूप :

दोष का स्वरूप-वर्णन विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से किया है।

१. नाट्यशास्त्र, १७।८८-९५।
२. एए नवकव्वरसा बत्तीसदोसविहि समुप्पण्णा ।-अनुयोगद्वार सूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ६।
३. काव्यालंकार, १।११।
४. काव्यादर्श, १।७।
५. वाग्भटालंकार, २।५।
६. नाट्यशास्त्र, २७।४७।

आचार्य भरत गुण को दोष का विपर्यय मानते हैं।^१ किन्तु आचार्य वामन उससे ठीक विपरीत दोष को गुण का विपर्यय मानते हैं।^२ आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को ही काव्य में दोष स्वीकार किया है।^३ मम्मट और विश्वनाथ दोष-निरूपण के विषय में आनन्दवर्धन के ऋणी हैं। मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्ष को दोष माना है तथा रस को मुख्य।^४ यही दोष-स्वरूप परवर्ती आचार्यों के दोष-स्वरूपों का प्रायः उपजीव्य रहा है। इस प्रसंग में जैनाचार्यों ने जिस प्रकार दोष-स्वरूप आदि का विवेचन किया है, वह निम्न प्रकार है—

आचार्य हेमचन्द्र ने गुण और दोष का एक साथ लक्षण प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहा है। ये दोष रस के ही आश्रित होते हैं, किन्तु गौण रूप से वे शब्द और अर्थ के भी अपकर्षक होते हैं।^५ अन्यत्र दोष का विशेष लक्षण उपस्थित करते हुए लिखा है—रस (आदि पद से स्थायि और व्यभिचारि भाव) का स्वशब्द से कथन दोष है, किन्तु कहीं-कहीं संचारिभाव का स्वशब्द से कथन भी दोष नहीं है।^६ नरेन्द्र-प्रभसूरि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, वह विशेष रूप से रस की क्षति होने पर होता है और गौण रूप से शब्द और अर्थ की क्षति होने पर।^७ अजितसेन ने लिखा है कि—काव्य की हीनता का द्योतक शब्द और अर्थ में

१. एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । —नाट्यशास्त्र, १७।६५ ।
२. गुणविपर्ययात्सात्मानो दोषाः । —काव्यालंकारसूत्र, २।१।१ ।
अधुनिक विद्वान् डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि—‘गुणों को ही दोषों का विपर्यय कहना वैज्ञानिक है, दोषों को गुणों का विपर्यय कहना एक विपरीत क्रिया है।’ —आनन्दवर्धन, पृ० ४१६ ।
३. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् । —ध्वन्यालोक, पृ० २५६ ।
४. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः— । —काव्यप्रकाश, ७।४६ ।
५. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतु गुणदोषो, भक्त्याशब्दार्थयोः ।
—काव्यानुशासन, १।१२ ।
६. रसादेः स्वशब्दोक्तिः क्वचित्सञ्चारिवर्जदोषः । —वही, ३।१ ।
७. वैचित्र्यव्याहतिर्दोषः सा च भूम्ना रसक्षतेः ।
तद् ध्रुवं रस एवैषः भक्त्या शब्दार्थयोः पुनः ॥
—अलंकारमहोदधि, ५।१ ।

दिखाई देने वाला हेतु दोष है।^१ इसी प्रकार सिद्धिचन्द्रगणि ने लिखा है कि—अलंकार और गुणों से युक्त होने पर भी जिनके ज्ञान से चमत्कार अच्छी तरह उत्पन्न नहीं होता है, वे दोष कहलाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आनन्दवर्धन ने प्रारम्भ में जो दोषों को रस का विघातक स्वीकार किया है, उसी का अनुसरण मम्मट ने किया है। तदनन्तर हेमचन्द्र ने भी उसे पूर्ववत् स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि यद्यपि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, किन्तु अन्ततः रस की क्षति होने पर ही उन्हें दोषोत्पत्ति मान्य हैं। अजितसेन का दोष-स्वरूप अन्याचार्यों से भिन्न है, क्योंकि वे शब्द और अर्थ में ही दोष मानते हैं। इसलिए उन्होंने रस-दोषों का विशेष उल्लेख भी नहीं किया है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता है। सिद्धिचन्द्रगणि चमत्काराभाव को ही दोष मानते हैं, चमत्काराभाव विभिन्न प्रकार का हो सकता है—शब्दगत, अर्थगत और रसगत आदि। चूँकि उन्होंने मम्मट के दोष-स्वरूप^२ का खण्डन किया है, अतः इतना तो निर्विवाद है कि उन्हें मम्मटकृत दोष-स्वरूप मान्य नहीं है अर्थात् सिद्धिचन्द्रगणि मम्मट की तरह केवल रस को मुख्य (रसश्च मुख्यः) न मानकर, शब्द, अर्थ और रस इत्यादि में समान रूप से जहाँ भी चमत्कार का अभाव हो, उसे दोष मानते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक है कि रस को मुख्य मानना अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि चमत्कारोत्पादन में भी रस ही सर्वश्रेष्ठ है। फिर भी नवीनता की दृष्टि से सिद्धिचन्द्रगणि का दोष-स्वरूप उल्लेखनीय है।

दोष-भेद :

प्रारम्भिक अलंकार-शास्त्रों में दोषों का विवेचन अल्प मात्रा में मिलता है। किन्तु जैसे-जैसे आचार्यों में वाणी-विलास बढ़ता गया, नवीन दोषों की कल्पना की गई और पश्चाद्वर्ती अलंकार-शास्त्रों में उनका विवेचन किया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि प्रारम्भ में जो दोष उपेक्षित थे, वे पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा आलोचना के विषय बने और उनकी गणना दोषों के अन्तर्गत होने लगी। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने १० दोषों का उल्लेख किया

१. काव्यहीनत्वहेतुयो दोषः शब्दार्थगोचरः।—अलंकारचिन्तामणि, ५।१६०।

२. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

—काव्यप्रकाश, ७।४६।

है—(१) गूढार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ, (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायादपेत, (८) विषम, (९) विसन्धि और (१०) शब्दच्युत ।^१

गूढार्थ—जहाँ क्लिष्ट पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया गया हो ।

अर्थान्तर—जहाँ अवर्णनीय वस्तु का वर्णन किया गया हो ।

अर्थहीन—जहाँ असम्बद्ध विवेचन हो अथवा अपूर्ण कथन हो ।

भिन्नार्थ—जहाँ अर्थ भिन्न हो, असम्य हो अथवा ग्राम्य हो अथवा जहाँ विवक्षित अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित हो ।

एकार्थ—जहाँ एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया हो ।

अभिप्लुतार्थ—जहाँ प्रत्येक पाद में अर्थ पूर्ति हो जाये (अर्थात् परस्पर अन्विति का अभाव) ।

न्यायादपेत—जो प्रमाण से रहित हो ।

विषम—जहाँ छन्दोभंग हो ।

विसन्धि—जहाँ सन्धि योग्य शब्दों में सन्धि न हो ।

शब्दच्युत—जहाँ अशब्द (व्याकरण नियम के विरुद्ध शब्द) का प्रयोग हो ।^२

तत्पश्चात् जैनाचार्य आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार-सूत्र में ३२ सूत्र दोषों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार हैं—(१) अलीक, (२) उपघातजनक, (३) निरर्थक, (४) अपार्थक, (५) छल, (६) द्रुहिल, (७) निस्सार, (८) अधिक, (९) ऊन, (१०) पुनरुक्त, (११) व्याहृत, (१२) अयुक्त, (१३) क्रमभिन्न, (१४) वचनभिन्न, (१५) विभक्तिभिन्न, (१६) लिंगभिन्न, (१७) अनभिहित, (१८) अपद, (१९) स्वभावहीन, (२०) व्यवहित, (२१) काल-दोष, (२२) यति-दोष, (२३) छवि-दोष, (२४) समय-विरुद्ध, (२५) वचनमात्र, (२६) अर्थापत्ति-दोष, (२७) असमास-दोष, (२८) उपमा-दोष, (२९) रूपक-दोष, (३०) निर्देश-दोष, (३१) पदार्थ-दोष और (३२) सन्धि-दोष ।^३

१. नाट्यशास्त्र, १७।८८ ।

२. वही, १७।८९-९४ तक दस दोषों के लक्षण दिये गये हैं ।

३. अलियमुवघायजणयं निरत्थगमपत्थयं छलं द्रुहिलं ।

निस्सारमहियमुणं पुणरुत्तं बाह्यमजुत्तं ॥

अलीक—जहाँ असत्य का प्रतिपादन हो ।

उपघातजनक—जिस कथन से जीव-हिंसा आदि का विधान हो । जैसे : वेद विहित हिंसा, हिंसा नहीं है ।

निरर्थक—अर्थ शून्य शब्दों का प्रयोग करना । जैसे : डित्थादि शब्द ।

अपार्थक—ऐसा कथन, जिसके शब्द तो सार्थक हों, किन्तु जिसका सामूहिक सुसंगत अर्थ न हो ।

छल—जहाँ इष्ट अर्थ का विघात हो ।

द्रुहिल—जीवों के लिए अहितकारी पापरूपी व्यापार का पोषक ।

निस्सार—युक्ति रहित ।

अधिक—जहाँ आवश्यकता से अधिक अक्षर, मात्रा, पद आदि का प्रयोग किया गया हो ।

ऊन—जहाँ आवश्यकता से कम अक्षर, मात्रा, पद आदि रखे गये हों ।

पुनरुक्त—जहाँ शब्द अथवा अर्थ का पुनः कथन किया गया हो ।

व्याहत—जहाँ पूर्व में कही गई बात का बाद में विरोध किया गया हो ।

अयुक्त—जिस कथन में युक्ति का विरोध हो ।

क्रमभिन्न—जहाँ क्रम का भंग किया गया हो ।

वचनभिन्न—जहाँ वचनों की भिन्नता पाई जाती हो । जैसे : एकवचन के स्थान पर द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग आदि ।

विभक्तिभिन्न—जहाँ विभक्ति का व्यत्यय पाया जाये, जैसे : प्रथमा के स्थान पर द्वितीया विभक्ति आदि का प्रयोग ।

लिंग-भिन्न—जहाँ लिंग व्यत्यय पाया जाये । जैसे : पुल्लिङ्ग के साथ स्त्री-लिंगादि शब्दों का प्रयोग ।

अनभिहित—जहाँ अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल बातों का इच्छानुसार कथन हो ।

क्रमभिन्नवयणभिन्ने विभक्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।

अणभहियमपयमेव य सभावहीणं ववहियं च ॥

कालजतिच्छविदोसो समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।

अत्यवत्ती दोसो हवइ य असमसदोसो य ॥

उवमारुवगदोसो निदेसपयत्थसंधिदोसो य ।

एए य सुत्तदोसा, बत्तीसा हुँति नायव्वा ॥

—अनुयोगद्वार सूत्र, भाग २, पृ० ८६२-६३ ।

चतुर्थ अध्याय : दोष-गुण विवेचन

१४५

अपद—जहाँ सुप्-तिवादि रहित शब्दों का प्रयोग किया गया हो ।

स्वभावहीन—जहाँ वस्तु के स्वभाव का अन्यथा प्रकार से वर्णन किया गया हो ।

व्यवहित—जहाँ प्रकृत विषय को त्याग कर अप्रकृत का विवेचन विस्तार से करके पुनः प्रकृत विषय का कथन किया गया हो ।

काल-दोष—जहाँ काल का अन्यथा प्रयोग किया गया हो । जैसे : भूत-काल के बदले भविष्यत् काल का प्रयोग ।

यतिदोष—पद्य में यथास्थान यति का प्रयोग न करना ।

छवि-दोष—छवि नामक अलंकार विशेष से रहित ।

समय-विरुद्ध—स्वसिद्धान्त विरुद्ध वचन का कथन ।

वचनमात्र—हेतु के अभाव में इच्छानुसार कथन करना । जैसे : किसी स्थान विशेष में 'कील गाड़कर उसे लोक का मध्य बतलाना ।

अर्थापत्ति-दोष—जहाँ अर्थापत्ति से अनिष्ट का कथन किया गया हो ।

असमास-दोष—नियमानुकूल समास प्राप्त होने पर भी समास न करना अथवा जहाँ समास प्राप्त न हो वहाँ समास कर देना ।

उपमादोष—जहाँ हीन अथवा अधिक के साथ उपमा दी गई हो ।

रूपकदोष—जहाँ आरोपित अवयव का वर्णन अवयवी में अथवा आरोपित अवयवी का वर्णन अवयव में किया गया हो ।

निर्देशदोष—जहाँ निर्दिष्ट पदों में एक वाक्यता न की गई हो ।

पदार्थदोष—जहाँ एक ही वस्तु की भिन्न पर्याय का भिन्न पदार्थ के रूप में ग्रहण किया गया हो ।

सन्धिदोष—जहाँ सन्धि का विधान प्राप्त होने पर भी सन्धि न की गई हो अथवा दुष्ट सन्धि की गई हो ।

आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में भिन्न-भिन्न चार स्थलों पर दोषों की चर्चा की है । सर्वप्रथम उन्होंने छः काव्य-दोषों को गिनाया है—(१) नेयार्थ (२) क्लिष्ट, (३) अन्यार्थ, (४) अवाचक, (५) अयुक्तिमत् और (६) गूढशब्दाभिधान ।^१ पुनः श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट ये चार बाणी दोष कहे हैं ।^२ इसी क्रम में मेधावी के अनुसार हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य और असदृशता नामक सात दोषों का विवेचन

१. काव्यालंकार, १।३७ ।

२. वही, १।४७ ।

किया है।^१ तत्पश्चात् काव्य सौन्दर्य के घातक १८ निम्न दोषों का उल्लेख किया है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्न-वृत्त, विसन्धि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्याय-विरोधी, आगमविरोधी, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन।^२

दण्डी ने दस दोषों का उल्लेख किया है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि और देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम विरोधी।^३ दण्डी-सम्मत इन दस दोषों का उल्लेख आचार्य भामह पहले ही कर चुके हैं। अतः इस प्रसंग में दण्डी की कोई नवीन देन नहीं है। आनन्दवर्धन ने श्रुतिदुष्टत्व,^४ ग्राम्यत्व^५ और असम्यक्त्व^६ इन तीन दोषों का विभिन्न प्रसंगों में नामोल्लेख किया है तथा पाँच रस-दोषों^७ का भी विवेचन किया है, किन्तु अनौचित्य को उन्होंने रस-भंग का सबसे प्रमुख दोष माना है।^८ अतः अनौचित्य को सामान्य दोष के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के अनौचित्यों का समावेश हो जाता है। परवर्ती आचार्यों के दोष-विवेचन को भरत आदि आचार्यों ने तो प्रभावित किया ही है, किन्तु आनन्दवर्धन के मात्र अनौचित्य शब्द ने कितने नवीन दोषों की उद्भावना करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है अथवा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा परिगणित अनेक दोषों को एक ही शब्द में कह दिया है।

आचार्य मम्मट यद्यपि अपने दोष-दर्शन के लिए वदनाम हैं तथापि उन्होंने एक सन्तुलित क्रम को अपनाकर वैज्ञानिक पद्धति से दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने सर्वप्रथम दोषों को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) शब्ददोष, (२) अर्थदोष और (३) रसदोष। पुनः शब्द-दोष के तीन भेद किये हैं—पददोष, पदांशदोष और वाक्य-दोष। इस प्रकार मम्मट-सम्मत समस्त दोषों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पददोष, (२) पदांशदोष, (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष और (५) रसदोष। इनमें से

१. काव्यालंकार, २।३६-४०।

२. वही, ४।१-२।

३. काव्यादर्श, ३।१२५-१२६।

४. ध्वन्यालोक, २।११।

५. वही, पृ० २४१।

६. वही, पृ० २६१।

७. वही, ३।१८-१९।

८. अनौचित्यादते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।

अनौचित्यनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

—वही, पृ० २५६।

रस-दोष मुख्य हैं, क्योंकि मम्मट ने 'रसश्च मुख्यः' कहकर रस दोषों की प्रमुखता को स्वीकार किया है। यद्यपि परवर्ती जैनाचार्य मम्मट के अनुगामी हैं तथापि किसी-किसी जैनाचार्य ने पद और वाक्य में सम्मिलित उभय दोषों को भी स्वीकार किया है। अतः विवेचन का क्रम निम्न प्रकार होगा—(१) पद-दोष, (२) पदांश-दोष, (३) वाक्य-दोष, (४) उभय-दोष, (५) अर्थ-दोष और (६) रस-दोष।

पद-दोष :

सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय से युक्त शब्द पद कहलाता है^१ और उसमें रहने वाला दोष पद-दोष है। मम्मट ने १६ पद-दोषों का उल्लेख किया है—(१) श्रुतिक्लृप्त, (२) च्युतसंस्कृति, (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ, (५) निहतार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक, (८) अवाचक, (९) अश्लील, (१०) संदिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ, (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्ट-विधेयांश और (१६) विरुद्धमतिकृत्।^२ वाग्भट-प्रथम ने केवल ८ पद-दोषों का उल्लेख किया है—अनर्थक, श्रुतिक्लृप्त, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य।^३ इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

अनर्थक—प्रस्तुत में जो पद अनुपयुक्त हो। यथा—मैं लम्बोदर गणेशजी को नमस्कार करता हूँ।^४ यहाँ लम्बोदर पद अनुपयुक्त है। अतः अनर्थक दोष है।

श्रुतिक्लृप्त—अत्यन्त कर्णक्लृप्त अक्षरों का प्रयोग। यथा—इस युवती को सृष्टा (ब्रह्मा) ने एकाग्र मन से बनाया है, ऐसा मैं मानता हूँ।^५ यहाँ सृष्टा पद कर्ण क्लृप्त होने से दोष है।

व्याहतार्थ—इष्टार्थ से भिन्न विपरीत अर्थ के बोधक पद का प्रयोग। यथा—हे राजन् ! मात्र आप ही (भूतलोपकृती) पृथ्वी के उपकार में लगे हैं।^६ यहाँ 'भूतलोपकृती' पद 'जीवों के लोप करने में लगे हैं' इस विपरीत अर्थ का भी बोधक होने से व्याहतार्थ दोष है।

अलक्षण—व्याकरण-शास्त्र के विरुद्ध पद का प्रयोग। यथा—'मानिनी

१. सुप्तिङन्तं पदम्।

२. काव्यप्रकाश, ७।५०-५१।

३. वाग्भटालंकार, २।६-७।

४. वही, २।८।

५. वही, २।९।

६. वही, २।१०।

मानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ'¹ यहाँ 'विजयति' पद का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र के विरुद्ध होने से अलक्षण दोष है ।

स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ—किसी प्रसिद्ध अर्थ से विपरीत स्वकल्पित अर्थ में किसी पद का प्रयोग । यथा—यह पर्वत पुष्पों से युक्त वानरध्वज (अर्जुन) वृक्षों के द्वारा सुशोभित हो रहा है ।² यहाँ वानरध्वज का सर्वप्रसिद्ध अर्थ पाण्डुपुत्र अर्जुन है, किन्तु कवि द्वारा स्वकल्पित ककुभ नामक वृक्ष विशेष के लिये वानरध्वज का प्रयोग करने से स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ दोष है ।

अप्रसिद्ध—जिस पद की जिस अर्थ में कवि प्रसिद्धि न हो, उस पद का उस अर्थ में प्रयोग । यथा—'राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्'³ यहाँ यद्यपि व्याकरण-शास्त्र में हन् धातु हिंसा और गमन (हन् हिंसागत्योः) इन दोनों अर्थों में पठित है किन्तु कवियों द्वारा हन् धातु का प्रयोग हिंसा अर्थ में ही प्रसिद्ध होने से अप्रसिद्ध दोष है ।

असम्मत—जो पद अर्थ को कहने में समर्थ होने पर भी सर्व सम्मत नहीं है, उस पद का प्रयोग । यथा—सूर्य की किरणें अन्धकार रूपी अम्भोज (कीचड़) को धोती हैं । यहाँ यद्यपि अम्भोज (जल से उत्पन्न) शब्द 'अम्भसो जातोऽम्भोज इति' इस व्युत्पत्ति से कीचड़ अर्थ को कहने में समर्थ है तथापि कवियों द्वारा कमल अर्थ में ही प्रयुक्त होने से असम्मत दोष है ।⁴

ग्राम्य—अनुचित (ग्रामीण) पद का प्रयोग । यथा—मैं देवताओं को पुष्पों से ढाँककर सामने धान फेंक रहा हूँ ।⁵ यहाँ देवताओं को पुष्पों से ढाँकना और सामने धान्य फेंकना दोनों ग्राम्य प्रयोग होने से ग्राम्य-दोष है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने केवल दो पद दोषों का उल्लेख किया है—निरर्थक और असाधु ।⁶

निरर्थक—पाद-पूर्ति हेतु 'च' 'हि' आदि निरर्थक पदों का प्रयोग ।

असाधु—व्याकरणशास्त्र विरुद्ध 'आजघ्ने' आदि पदों का प्रयोग ।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने तीन पद-दोषों का विवेचन किया है—असंस्कार (व्याकरण संस्कार रहित), असमर्थ और अनर्थक ।⁷ इनके लक्षण नाम से ही स्पष्ट हैं ।

१. वाग्भटालंकार, २।११ ।

२. वही, २।१२ ।

३. वही, २।१३ ।

४. वही, २।१४ ।

५. वही, २।१५ ।

६. निरर्थकास ध्रुत्वे पदस्थ ।

—काव्यानुशासन, ३।४ ।

७. अलंकारमहोदधि, ५।२ । पूर्वार्द्ध ।

विजयवर्णी ने १५ पद-दोषों का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है ।^१ मम्मट-सम्मत १६ पद-दोषों में से केवल निहतार्थ-दोष को छोड़कर शेष १५ पद-दोषों को विजयवर्णी ने स्वीकार किया है । अतः उनके नामों में भी मम्मट से समानता है ।

असमर्थ—जो पद अंगीकृत अर्थ को कहने में समर्थ न हो । यथा—‘हन्’ धातु का गमन अर्थ में प्रयोग ।

श्रुतिकटु—कठोर वर्णों से युक्त पद का प्रयोग ।

निरर्थक—पादपूर्ति हेतु ‘च’ ‘वै’ ‘खलु’ ‘तु’ ‘हि’ आदि अर्थ रहित पदों का प्रयोग ।

अवाचक—जो पद किसी अर्थ विशेष के लिये प्रयुक्त करने पर भी इष्टार्थ को नहीं कहता है ।

च्युतसंस्कृति—व्याकरण विरुद्ध पद का प्रयोग ।

अप्रयुक्त—शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी कवियों द्वारा अनादृत ।

ग्राम्य—ग्रामीण जनों द्वारा श्लाघ्य पद का प्रयोग ।

अश्लील—जिस पद के द्वारा असभ्य अर्थ का ज्ञान हो । यह तीन प्रकार का होता है—ब्रीडा, अमंगल और जुगुप्साजनक ।

नेयार्थ—मूलार्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ पद का कवि द्वारा स्वेच्छा से प्रयोग ।

क्लिष्ट—व्यवधान पूर्वक अर्थ को कहने वाले पद का प्रयोग ।

सदिग्ध—इस पद के प्रयोग से अन्यार्थ भी विवक्षित हो, ऐसे संदग्ध पद का प्रयोग ।

अनुचितार्थ—जिस पद का अर्थ अनौचित्य पूर्ण हो ।

अत्रिमृष्टविधेयांश—जो पद प्राधान्य रूप से विधेयांश का कथन न करता हो ।

विरुद्धार्थमतिकृत्—इष्टार्थ से भिन्न अन्य दुष्टार्थ की प्रतीति कराने में सक्षम पद का प्रयोग ।

अप्रतीत—किसी आगम विशेष में प्रसिद्ध अर्थ का प्रयोग ।

अजितसेन ने १७ पद-दोषों को स्वीकार किया है—(१) नेयार्थ, (२) अप्रयुक्त, (३) निरर्थक, (४) अन्यार्थ, (५) गूढार्थ, (६) विरुद्धाशय, (विरुद्धार्थमतिकृत्),

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।२-३३ ।

(७) ग्राम्य, (८) क्लिष्ट, (९) अयुक्त (अप्रयुक्त), (१०) संशय, (११) अश्लील, (१२) अप्रतीत, (१३) च्युतसंस्कार, (१४) पक्ष (श्रुति कटु), (१५) अवि-मृष्टविधेयांश, (१६) अयोजक और (१७) असमर्थ^१ इनमें से १३ दोष वही हैं, जिन्हें मम्मट अथवा विजयवर्णी ने कहा है। शेष अपुष्टार्थ, अन्यार्थ, गूढार्थ और अयोजक—इन ४ दोषों की अजितसेन की अपनी कल्पना है, जिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

अपुष्टार्थ—प्रस्तुत में अनुपयोगी अर्थ अपुष्टार्थ है। यथा—बारह के आधे (छः) के आधे (तीन) नेत्र महेश्वर में कल्पित हैं। यहाँ तीन नेत्रों को बारह के आधे के आधे कहना अनुपयोगी है, अतः अपुष्टार्थ दोष है।^२

अन्यार्थ—स्पष्ट रूढ़ि से भ्रष्ट अर्थ अन्यार्थ है। यथा—श्रेष्ठ धर्म (विदग्ध धर्म) और सद्भावना वाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हो गया है। यहाँ विदग्ध शब्द विशेष रूप से दग्ध धर्म के अस्तित्व का अवचन होने से और विद्वान् की तरह धर्मवान् ऐसा अवचन होने से अन्यार्थ दोष है।^३

गूढार्थ—अप्रसिद्ध अर्थ में कहा गया पद गूढार्थ है। यथा—मित्र (सूर्य) का उदय समग्र रूप से कमल समूह को विकसित कर रहा है। मित्र शब्द का अर्थ सुहृद् में प्रसिद्ध है, किन्तु प्रस्तुत में सूर्य के लिये प्रयुक्त होने से दोष है।^४

अप्रयोजक—जहाँ विशेषण के द्वारा विशेष कुछ न कहा गया हो। यथा—तत्त्वोपदेश से पूर्व मिथ्यादृष्टि जिन को नमस्कार हो। सुख प्रदाता जिन को नमस्कार हो। इस प्रकार प्रस्तुत में तत्त्वोपदेश सुनने से पूर्व 'मिथ्या-दृष्टि' इस विशेषण से विशेष कुछ नहीं कहा गया है। इसलिये अप्रयोजक दोष है।^५

वाग्भट-द्वितीय ने १६ शब्द-दोषों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार वे शब्द-दोष पद और वाक्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं।^६ ये १६ शब्द-दोष वे ही हैं, जिन्हें मम्मट ने केवल पद-दोष माना है। मम्मट के च्युतसंस्कृति नामक दोष के स्थान पर वाग्भट-द्वितीय ने निर्लक्षण नामक दोष माना है। इन दोषों में अन्तर यह है कि च्युतसंस्कृति दोष वहीं पर होता है जहाँ व्याकरण-विरुद्ध पद का प्रयोग किया गया हो, किन्तु वाग्भट-द्वितीय

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।१६१ । २. वही, ५।१६३ ।

३. वही, ५।१६५ ।

४. वही, ५।१६६ ।

५. वही, ५।२०७ ।

६. काव्यानुशासन—वाग्भट, पृ० १६।

का निर्लक्षण दोष व्याकरण-विरुद्ध पद के प्रयोग करने पर तो होगा ही, साथ ही छन्दःशास्त्र आदि के विरुद्ध पद का प्रयोग करने पर भी होगा ।^१ यहाँ व्याकरण और छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त आदि पद से अन्य किन-किन शास्त्रों को ग्रहण किया गया है यह उनकी स्वोपज्ञ अलंकार-तिलक नामक वृत्ति से भी स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि वृत्ति में व्याकरणशास्त्र-विरुद्ध और छन्दःशास्त्र-विरुद्ध दोषों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।^२ अब तक विभिन्न स्थलों पर प्रायः सभी पद दोषों के लक्षण आ चुके हैं, किन्तु निहतार्थ दोष का लक्षण शेष है, अतः कहते हैं—

निहतार्थ—उभयार्थ वाचक शब्द रहने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष है ।^३ यथा—

यावकरसाद्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।

मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिरम्य चुम्बिता सहसा ॥^४

यहाँ शोणित शब्द रुधिर अर्थ में प्रसिद्ध होने से दोष है । चूँकि वाग्भट-द्वितीय के अनुसार १६ शब्द दोष पद और वाक्य में समान रूप से पाये जाते हैं, अतः उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति में प्रत्येक दोष का पद और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

पद-दोषों के इस क्रम में सर्वप्रथम मम्मट ने १६, वाग्भट-प्रथम ने ८, हेमचन्द्र ने २, विजयवर्णी ने १५, अजितसेन ने १७ और वाग्भट-द्वितीय ने १६ पद-दोषों का द्विवेचन किया है । वाग्भट-प्रथम और हेमचन्द्र आदि सभी जैनाचार्यों ने प्रायः मम्मट द्वारा उल्लिखित दोषों को अपनाकर ही अपना दोष द्विवेचन प्रस्तुत किया है । अजितसेन ने मम्मट-सम्मत दोषों को तोड़-मरोड़ कर रखने का प्रयास किया है, किन्तु वे केवल दोषों के नामों में ही किंचित् परिवर्तन कर पाये हैं । यथा—विरुद्धार्थमतिकृत् को विरुद्धाशय, अप्रयुक्त को अयुक्त आदि । इसके अतिरिक्त अजितसेन ने अपुष्टार्थ, अन्यार्थ, गूढार्थ, और अप्रयोजक इन चार अन्य दोषों का उल्लेख किया है । जिनमें मम्मट-सम्मत

१. शब्दानुशासनच्छन्दोऽनुशासनाविलक्षणरहितं निर्लक्षणम् ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६ ।

२. वही, वृत्ति, पृ० १६-२० ।

३. उभयार्थवाचकमप्यप्रसिद्धेऽर्थेप्रयुक्तं निहतार्थम् ।

—वही पृ० २३ ।

४. वही, वृत्ति, पृ० २३ ।

निहतार्थ और अजितसेन-सम्मत गूढार्थ दोष में कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि पद दोषों के प्रसंग में जैनाचार्यों द्वारा किये गये विविध प्रयासों के बाद भी प्रायः मौलिकता का अभाव है।

पदांशगत-दोष :

मम्मट ने पदांशगत दोषों का उल्लेख किया है तथा श्रुतिकट्टु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध और नेयार्थ इन पदांशगत दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।^१ जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदैक-देश (पदांशगत) दोषों को पद-दोष ही स्वीकार किया है।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदांशगत दोषों को पदगत दोष मानते हुए भी मम्मटोल्लिखित उक्त ७ पदांशगत दोषों में से अश्लील को छोड़कर छः दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। ये उदाहरण वही हैं, जिन्हें मम्मट ने प्रस्तुत किया है। विजयवर्णी ने श्रुतिकट्टु, निरर्थक, अश्लील संदिग्ध और अवाचक इन ५ पदांशगत दोषों का पृथक् सोदाहरण उल्लेख किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विजयवर्णी ने यद्यपि पदांशगत दोषों का उल्लेख किया है तथापि अगले प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि 'पददोषं निरूप्याहं वाक्यदोषं ब्रुवेऽधुना' इससे स्पष्ट है कि उन्हें भी पदांश दोषों को पृथक् मानना अभीष्ट नहीं है।

मम्मट ने पदांशगत दोषों को स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया है, किन्तु उनके परवर्ती वाग्भट-द्वितीय आदि जैनाचार्यों ने उनका उल्लेख भी नहीं किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि उक्त जैनाचार्यों को पृथक् पदांशगत दोषों को मानना अभीष्ट नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि आदि जैनाचार्यों ने पदांश दोषों को स्पष्ट रूप से पद-दोष ही स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने यद्यपि मम्मट आदि आचार्यों की तरह पदांश दोषों का सोदाहरण उल्लेख किया है तथापि उनके 'पददोषं.....' इस वाद वाले कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भी पदांश दोष पृथक् मान्य नहीं हैं। इसी प्रकार जैनाचार्य प्रायः पदांश दोषों को पृथक् मानने के पक्ष में नहीं हैं।

१. काव्यप्रकाश, पृ० २९५-३००।

२. 'पदैकदेशः पदमेव'—काव्यानुशासन, पृ० २०० एवं

'पदैकदेशोऽपि पदमेव'—अलंकारमहोदधि, पृ० १५३।

३. अलंकारमहोदधि, पृ० १५३-१५४। ४. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।३५-३६।

वाक्य-दोष :

जिसमें एक क्रिया पायी जाय वह वाक्य कहलाता है और उसमें पाया जाने वाला दोष वाक्य-दोष है। वाक्य-दोषों को प्रायः सभी आचार्यों ने समान रूप से स्वीकार किया है। मम्मट ने २१ वाक्य-दोषों का विवेचन किया है—(१) प्रतिकूलवर्णता, (२) उपहृतविसर्गता, (३) लुप्तविसर्गता, (४) विसन्धि, (५) हतवृत्तता, (६) न्यूनपदता, (७) अधिकपदता, (८) कथितपदता, (९) पत-त्प्रकर्ष, (१०) समाप्तपुनरात्तता, (११) अर्धान्तरैकवाचकता, (१२) अभवन्मत-सम्बन्ध, (१३) अनभिहितवाच्यता, (१४) अस्थानपदता, (१५) अस्थानसमासता, (१६) संकीर्णता, (१७) गर्भितता, (१८) प्रसिद्धि-विरोध, (१९) भग्नप्रक्रमता, (२०) अक्रमता और (२१) अमतपरार्थता।^१

वाग्भट-प्रथम ने ८ वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है—(१) खण्डित, (२) व्यस्तसम्बन्ध, (३) असम्मित, (४) अपक्रम, (५) छन्दोभ्रष्ट, (६) रीतिभ्रष्ट, (७) यतिभ्रष्ट और (८) असत्क्रिया (क्रिया पद रहित)।^२ इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

खण्डित—एक वाक्य के मध्य में अन्य वाक्य का प्रवेश। यथा—‘यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तोति वो जिनः’^३ (भगवान् जिनेन्द्रदेव, जिनकी स्तुति इन्द्र भी करता है आपकी सदा रक्षा करें) यहाँ जिनकी स्तुति इन्द्र भी करता है, इस वाक्य के मध्य में प्रवेश करने से खण्डित-दोष है।

व्यस्तसम्बन्ध—जिस पद का जिस पद के साथ सम्बन्ध हो उनका परस्पर दूर स्थित रहना। यथा—‘यथाऽऽद्यः सम्पदं ज्ञाता देवात् तत्त्वानि वोऽर्हताम्’ (अर्हतों में प्रथम तत्त्ववेत्ता जिनेन्द्रदेव आप लोगों को सम्पत्ति प्रदान करें) यहाँ ‘आद्यः’ और ‘अर्हताम्’ इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी दूर-दूर स्थित होने से व्यस्तसम्बन्ध-दोष है।

असम्मित—जहाँ शब्द और अर्थ तराजू के तौल के समान संतुलित न हों। यथा—‘मानसौकः पतद्यानदेवासनविलोचनः। तमोरिपुविपक्षारिप्रियां दिशतु वो जिनः॥’^४ [मानसरोवर में निवास करने वाला पक्षी (हंस) जिसका वाहन है उस देव (ब्रह्मा) के आसन (कमल) के समान नेत्रों वाले

१. काव्यप्रकाश, ७।५३-५५।

२. वाग्भटालंकार, २।१७।

३. वही, २।१८।

४. वही, २।१९।

५. वही, २।२०-२१।

भगवान् जिनेन्द्रदेव अन्धकार के शत्रु (सूर्य) के विपक्षी (राहु) के शत्रु (विष्णु) की प्रिया (लक्ष्मी—सम्पत्ति) प्रदान करें] यहाँ कमलनयन के लिये 'मानसौक-पतद्धानदेवासनविलोचनः' और लक्ष्मी के लिये 'तमोरिपुविपक्षारिप्रियां' इन दो लम्बे-लम्बे पदों का प्रयोग होने से असम्मित-दोष है।

अपक्रम—जहाँ प्रसिद्धि क्रम का उल्लंघन किया गया हो। यथा—'यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरुन् देवांश्च वन्दते ।'^१ (वह भोजन करके स्नान किया हुआ गुरुओं और देवताओं की वन्दना करता है) यहाँ लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध सर्वप्रथम स्थान पुनः गुरुओं और देवताओं की वन्दना, तत्पश्चात् अन्य भोजनादि क्रिया—इस क्रम का उल्लंघन करने से अपक्रम नामक दोष है।

छन्दोभ्रष्ट—छन्दःशास्त्र के विरुद्ध वाक्य का प्रयोग। यथा—

छन्दःशास्त्र विरुद्धं यत् छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा।

स जयतु जिनपतिः परब्रह्ममहानिधिः ॥^२

(वे परब्रह्म महानिधि भगवान् जिनेन्द्रदेव जयवन्त हों) यहाँ 'श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र.....।' इस छन्दःशास्त्र के नियमानुसार अनुष्टुप छन्द के प्रत्येक पाद में षष्ठ वर्ण गुरु होना आवश्यक है, किन्तु 'स जयतु जिनपतिः.....' इत्यादि में षष्ठ वर्ण नकार गुरु न होने से छन्दोभ्रष्ट-दोष है।

रीतिभ्रष्ट—जहाँ वाक्य में रीति का निर्वाह न किया गया हो। यथा—'रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद् यथा।

जिनो जयति स श्रीमान् इन्द्राद्यमरवन्दितः ॥^३

(इन्द्रादि देवताओं के द्वारा पूजित श्री सम्पन्न भगवान् जिनेन्द्रदेव की जय हो) यहाँ पूर्वाद्ध में असमस्तपदी वैदर्भी और उत्तराद्ध में समस्त-पदी गौडी रीति का प्रयोग होने से रीतिभ्रष्ट-दोष है।

यतिभ्रष्ट—जहाँ पद के मध्य में यति हो। यथा—'नमस्तस्मै जिन-स्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ।'^४ (उन अर्हत् नेमिनाथ जिनेन्द्रदेव को सदा नमस्कार हो) यहाँ 'जिनस्वामिने' यह पूरा पद है, अतः इसके पश्चात् ही यति होनी चाहिये थी, किन्तु 'जिनस्वामि' के पश्चात् ही पद के मध्य में यति होने से यतिभ्रष्ट-दोष है।

असत्क्रिया—उचित क्रिया-पद रहित वाक्य का प्रयोग। यथा—'यथा

१. वाग्भटालंकार, २।२२।

३. वही, २।२४।

२. वही, २।२३।

४. वही, २।२५।

सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ।^१ (पुष्पों से, श्रीचन्दन से, केशर से, स्तोत्रों से सरस्वती की (पूजा करता हूँ) । यहाँ 'अर्चयामि' इस उचित क्रिया के अभाव में असत्क्रिया-दोष है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने १३ प्रकार के दाघ्य-दोषों का उल्लेख किया है—
१. विसन्धि, २. न्यूनपदता, ३. अधिकपदता, ४. उत्तपदता, ५. अस्थानस्थ-पदता, ६. पतत्प्रकर्षता, ७. समासपुनरात्तता, ८. अविसर्गता, ९. हतवृत्तता, १०. संकीर्णता, ११. गम्भितता, १२. भग्नप्रक्रमता और १३. अनन्वितता ।^२
जिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

विसन्धि—पदों के मेल रूप (सन्धि) कार्य से द्रव और द्रव्यों की तरह स्वरों का समवाय सम्बन्ध सन्धि है अथवा किवाड़ों की तरह स्वरों और व्यंजनों का संयोग मात्र रूप सन्धि है । उस सन्धि का विश्लेषता, अश्लीलता और कष्टता से दिरूपता को प्राप्त हो जाना विसन्धि है । विश्लेषता यथा—

कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धति ।

यहाँ सन्धि न करूँ, इस प्रकार स्वेच्छा से एक बार भी सन्धि न करना दोष है और जहाँ प्रकृतिवद् भाव प्राप्त हो वहाँ बार-बार संधि न करना दोष है । इसी प्रकार अश्लीलता और कष्टता के भी उदाहरण दिये गये हैं ।^३

न्यूनपदता—अवश्य कहने योग्य पद का न कहना । यथा—'तथाभूतां द्रष्ट्वा' इत्यादि पद्य में 'अस्माभिः' यह तथा 'खिन्नम्' से पूर्व 'इत्थम्' यह पद अवश्य कहना चाहिए था, किन्तु नहीं कहा गया है, अतः दोष है ।^४ इसी प्रकार

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभंगपराङ्मुखचेतसः ।

किमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥^५

यहाँ अपराधस्य लवमिति (अपराध का लव-लेश भी) इस प्रकार अर्थ कहना चाहिये था ।

यहाँ हेमचन्द्र ने न्यूनपदता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें उपमा की न्यूनपदता का एक उदाहरण उल्लेखनीय है । यथा—

संहयचक्रकाजजआ वियसिअकमलामुणालसंछण्णा ।

वावी बहुव्वरोअणविलित्तथणया सुहावेइ^६ ॥

१. दाग्भटालंकार, २।२६ ।

२. काव्यानुशासन, ३।५ ।

३. वही, पृ० २०१-२०२ ।

४. वही, पृ० २०२ ।

५. वही, पृ० २०३ ।

६. वही, पृ० २०५ ।

यहाँ उपमान के रूप में कमल और मृणाल की उक्ति के होने पर भी उप-
मेयभूत मुख और भुजा का उल्लेख न होने से न्यूनपदता है ।

अधिकपदता—अधिक पद का होना । यथा—

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वतः ।

अनिरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥^१

यहाँ आकृति शब्द अधिक होने से दोष है ।

उक्तपदता—किसी पद का दो बार प्रयोग करना । यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला

परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।

सुतनु कथय कस्य व्यङ्ग्यत्यञ्जसैव

स्मरनरपतिलीला यौवराज्याभिषेकम् ॥^२

यहाँ 'लीला' पद के दो बार प्रयोग होने से दोष है ।

अस्थानस्थपदता—यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधौ, निवेशितां वक्षसि पीवरस्तने ।

स्रजं न काचिद्विजहौ जलाङ्गिलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥^३

यहाँ 'स्रजं काचिन्न जहौ' इस प्रकार प्रयोग करना उचित था ।

पतत्प्रकर्ष—यथा—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः ,

कः कः कं कमलाकरं विकमलं कतुं करी नोद्यतः ।

के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः,

सिंहीस्नेहविलासवद्धवसतिः पञ्चाननो वतते ॥^४

यहाँ क्रम से अनुप्रास की घनता आवश्यक है । सिंह के प्रतिपादन में पूर्व की तुलना में अनुप्रास की अधिकतर कठोरवर्णता न होने से उक्त दोष है ।

समासपुनरात्त—यथा—

ज्योत्सनां लिम्पति चन्दनेन स पुमान् सिञ्चत्यसौ मालती-

मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः ।

यस्तस्य प्रथितान् गुणान् प्रथयति श्रीवीरचूडामणे-

स्तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि ॥^५

१. काव्यानुशासन, पृ० २०५ ।

२. वही, पृ० २०६ ।

४. वही, पृ० २१३ ।

३. वही, पृ० २१० ।

५. वही, पृ० २१३ ।

यहाँ 'ब्रूडामणेः' पर वाक्य समाप्त हो जाने पर 'तारत्वम्' इत्यादि का पूँछ की तरह पुनः ग्रहण चमत्कारोत्पादक नहीं है।

अविसर्गता—उत्वादि के द्वारा रकार का लोप होने तथा विसर्ग का लोप प्राप्त होने पर विसर्ग का अभाव। यथा—

वीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।

यस्य भृत्या बलोत्सवता भक्ता बुद्धिप्रभान्विताः ॥^१

यहाँ पर प्रथम पंक्ति में विसर्ग का लोप हो जाने से लुप्तविसर्गता और द्वितीय पंक्ति में विसर्ग का 'ओ' हो जाने से ध्वस्त (उपहत) विसर्गता-दोष है।

ह्रतवृत्तता—यह दोष ५ प्रकार से सम्भव है—(१) छन्दःशास्त्र के लक्षण से रहित, (२) यतिभ्रष्ट, (३) लक्षण का अनुसरण करने पर भी अश्रव्य, (४) अन्त लघु के गुरुभाव को प्राप्त न होना और (५) रसानुकूल छन्द न होना। छन्दःशास्त्र लक्षणरहित यथा—

'अयि पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम्।'²

यहाँ वैतालीय छन्द के युग्म पाद में ६ लघु अक्षरों का निरन्तर प्रयोग निषिद्ध होने से लक्षणहीन ह्रतवृत्तता है। इसी प्रकार शेष ४ प्रकारों के भी उदाहरण हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किये हैं।³

सकीर्णता—एक वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य के पदों में मिल जाना।

यथा—कायं खायइ छुहिओ कूरं घल्लेइ निब्भरं रुट्ठो।

सुणयं गेण्हइ कण्ठे हक्केइ अ नत्तिअं थेरो ॥⁴

यहाँ 'काकं क्षिपति कूरं खादति कण्ठे नत्तारं गृह्णाति श्वानं भेषयति' इस प्रकार कहना उचित था।

गर्भितता—एक वाक्य के मध्य में अन्य वाक्य का प्रवेश। यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥⁵

यहाँ तृतीय पाद अन्य वाक्य के मध्य में प्रविष्ट होने से दोष है।

भग्नप्रक्रमता—प्रस्तुत का भंग होना। यथा—

एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः पार्थिवः प्रत्यभाषत ॥⁶

१. काव्यानुशासन, पृ० २१४।

२. वही, पृ० २१४।

३. वही, पृ० २१४-२१५।

४. वही, पृ० २१५।

५. वही, पृ० २१५।

६. वही, पृ० २१६।

यहाँ 'उक्तः' (वच् धातु) से प्रारम्भ है और अन्त 'प्रत्यभाषत' (भाष् धातु) से। अतः प्रकृति की भग्नप्रक्रमता है। 'प्रत्यवोचत' कहना उचित था।

अनन्वितता—पदार्थों का परस्पर असम्बन्ध होना। यथा—

हृदतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥^१

यदि यहाँ आकार शब्द का अवयव संस्थान (आकृति) अर्थ विवक्षित है, तब तो परस्पर परिहार की स्थिति वाले दोनों अर्थों में वह भेद सिद्ध ही है, अतः कथन व्यर्थ है। यदि आकार से 'आ' 'वर्ण' विशेष लिया जाता है तो वर्ण नियत होने से कृपण और कृपाण रूप अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध संभव नहीं है। अतः अनन्वितता-दोष है।

मम्मट ने इष्ट सम्बन्ध के अभाव को अभवन्मत-सम्बन्ध-दोष कहा है।^२

नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३ वाक्यदोषों का उल्लेख किया है—१. रसाद्यनुचिताक्षर, २. लुप्त-विसर्गान्ति, ३. ध्वस्त-विसर्गान्ति, ४. इष्टसम्बन्ध-वंचित (अनन्वित अथवा अभवन्मत-सम्बन्ध), ५. समासपुनरारब्धता, ६. भग्नप्रक्रमता, ७. अक्रमता, ८. न्यूनपदता, ९. अद्वान्तरस्थैकपदता, १०. संकीर्णता, ११. गर्भितता, १२. दुर्वृत्तता, १३. सन्धिविश्लेषता, १४. सन्धिकष्टता, १५. सन्धि-अश्लीलता, १६. अनिष्टान्यार्थ (अमत पदार्थ), १७. अस्थान-समास दुःस्थित, (अस्थानस्थ समास), १८. अस्थानपद दुःस्थित, (अस्थानस्थ पद), १९. पतत्प्रकर्ष, २०. अप्रोक्तवाच्य (वाच्यस्थाननिधान), २१. त्यक्तप्रसिद्धि (प्रसिद्धि विरुद्ध), २२. पुनरुक्तपदन्यास (कथितपदता) और २३. अतिरिक्तपदता (अधिकपदता)।^३

यहाँ नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट-सम्मत २१ वाक्य दोषों को ही स्वीकार किया है। चूँकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने विसन्धि के तीन भेदों की पृथक्-पृथक् गणना की है, अतः उनके अनुसार वाक्य-दोषों की संख्या २३ हो जाती है, मूलतः दोनों में अभिन्नता है। हेमचन्द्र ने १३ वाक्य दोषों का उल्लेख किया है, लुप्त-विसर्ग और ध्वस्त-विसर्ग को उन्होंने अविसर्गता के अन्तर्गत ही माना है तथा विसन्धि के तीन भेदों को पृथक्-पृथक् न मानकर केवल एक ही भेद माना है। इस प्रकार हेमचन्द्र के प्रसंग में १३ वाक्य दोषों (अविसर्ग के दो तथा विसन्धि के तीन

१. काव्यानुशासन, पृ० २२३।

२. काव्यप्रकाश, पृ० ३१२।

३. अलंकारमहोदधि, ५।२-६।

भेदों सहित १६) दोषों का विवेचन किया जा चुका है। शेष जिन ७ दोषों (रसाद्यनुचिताक्षर, अक्रमता, अर्द्धान्तरस्थैकपदता, अनिष्टान्यार्थ, अस्थानसमासदुःस्थित, अप्रोक्तवाच्य और त्यक्त-प्रसिद्धि) को नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के अनुसार स्वीकार किया है, उनके लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार हैं—

रसाद्यनुचिताक्षर—रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग। यथा—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।

कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठातिमुद्धर ॥^१

यहाँ शृंगार रस के प्रतिकूल टवर्ग का प्रयोग होने से दोष है।

अक्रमता—जहाँ पर क्रम का अभाव हो। यथा—

तुरङ्गमथ मातंगं प्रयच्छास्मै मदालसम् ।

कान्ति-प्रतापी भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समो ॥^२

यहाँ 'मातंगमथ तुरंगम्' और 'कान्ति-प्रतापी भवतः समौ चन्द्र-विवस्वतोः' कहना उचित था, किन्तु इसके विपरीत कहने से दोष है। मम्मट ने—

‘भूपालरत्न ! निर्देन्यप्रदानप्रथितोत्सव !

विश्राणय तुरंगं मे मातंगं वा मदालसम् ॥^३

यहाँ मातंग का प्रथम निर्देश न करने से दुष्क्रमत्व अर्थ दोष माना है।

अर्द्धान्तरस्थैकपदता—जहाँ पूर्वाद्धि से सम्बद्ध एक पद उत्तरार्द्ध में स्थित हो। यथा—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥^४

यहाँ 'विरराम' इस पद को पूर्वाद्धि में रखना उचित था।

अनिष्टान्यार्थ—जहाँ अन्यार्थ प्रकृत रस के विरुद्ध हो। यथा—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।

गन्धवद् रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसति जगाम सा ॥^५

यहाँ प्रकृत बीभत्स रस के विरुद्ध शृंगार रस का व्यञ्जक अन्यार्थ होने से दोष है।

अस्थानसमास दुःस्थित—अनुचित स्थान पर समास करना। यथा—

१. अलंकारमहोदधि, पृ० १३१ ।

२. वही, पृ० १३५ ।

३. काव्यप्रकाश, पृ० ३२६ ।

४. अलंकारमहोदधि, पृ० १३६ ।

५. वही, पृ० १३६ ।

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि,

स्थातुं वाञ्छति मान एष विगिति क्रोधादिवालोहितः ।

प्रोद्यद्दूतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात् ।

फुल्लत्कैरवक्रोशनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥^१

यहाँ ऋद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया है और कवि की उक्ति में किया है, अतः दोष है ।

अप्रोक्तवाच्य—अवश्य कथनीय को न कहना । यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैर्मम हृतस्य तथाऽप्यनास्था ।

कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयमाहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥^२

यहाँ 'मम हृतस्य' के स्थानपर 'अपहृतोऽस्मि' इस रूप में विधि का कथन करना चाहिए था, क्योंकि 'तथाऽपि' इस पद का द्वितीय वाक्य में ही प्रयोग किया जाना सम्भव है । अतः प्रथम वाक्य को द्वितीय से पृथक् करने के लिए उक्त प्रकार से अवश्य कथनीय को न कहने से दोष है ।

त्यक्तप्रसिद्धि—प्रसिद्धि का अतिक्रमण करना । यथा—

रणन्ति पक्षिणः क्ष्वेडं चक्रीवन्तो वितन्वते ।

इदं वृंहितमश्नानां ककुद्मानेष हेषते ॥^३

यहाँ मञ्जीर आदि में रणित, पक्षियों में कूजित, सुरत में स्वनित-मणित आदि तथा मेघों में गजित आदि की प्रसिद्धि का अतिक्रमण होने से दोष है ।

विजयवर्णी ने २३ वाक्यदोषों का उल्लेख किया है ।^४ उसमें से २१ तो वही हैं, जिन्हें मम्मट और जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वीकार किया है । शेष रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ ये दो दोष विजयवर्णी की अपनी नवीन कल्पना हैं । उन दो दोषों के लक्षण निम्न प्रकार हैं ।

रसच्युत—जहाँ वाक्य में रस का अभाव हो । यथा—

द्विहस्त एककण्ठोऽयं सपादयुगलो नरः ।

डित्थस्य पुत्रो वस्त्रेण युक्तो ग्रामाय गच्छति ॥^५

यहाँ रस का अभाव होने से दोष है तथा नीरस होने से जाति अलंकार भी नहीं है ।

१. अलंकारमहोदधि, पृ० १३६ ।

२. वही, पृ० १४० ।

४. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।४१-४३ ।

३. वही, पृ० १४० ।

५. वही, १०।७८ ।

अप्रस्तुतार्थ—जिस वाक्य में अप्रस्तुत-स्तुति हो ।

यथा—दोषदेहो रक्तवर्णो विशालाक्षो घनाधिपः ।

रम्भास्तम्भसमानोरुः कवीशो वर्तते भुवि ॥^१

यहाँ दोषदेह आदि विशेषण कवि के लिए प्रशंसनीय न होने से दोष है ।

अजितसेन ने निम्न २४ वाक्य-दोष स्वीकार किये हैं—(१) छन्दच्युत, (२) रीतिच्युत, (३) यतिच्युत, (४) क्रमच्युत, (५) अंगच्युत, (६) शब्दच्युत, (७) सम्बन्धच्युत, (८) अर्थच्युत, (९) संधिच्युत, (१०) व्याकीर्ण, (११) पुनरुक्त, (१२) अस्थितिसमास, (१३) विसर्गलुप्त, (१४) वाक्याकीर्ण, (१५) सुवाक्यगर्भित, (१६) पतत्प्रोत्कृष्ट (पतत्प्रकर्ष), (१७) प्रक्रमभंग, (१८) न्यूनोपमा, (१९) अधिकोपमा, (२०) अधिकपद, (२१) भिन्नोक्ति (भिन्न वचन), (२२) भिन्न लिंग, (२३) समाप्तपुनरात्त और (२४) अपूर्ण^२ । इनमें से लगभग १३ दोष मम्मट-सम्मत हैं । शेष रीतिच्युत, यतिच्युत, अंगच्युत, शब्दच्युत, सम्बन्धच्युत, व्याकीर्ण, न्यूनोपमा, अधिकोपमा, भिन्नोक्ति, वचनभिन्न और अपूर्ण इन ११ दोषों के लक्षण नाम से ही स्पष्ट है । मम्मट ने जिसे च्युत-संस्कृति नामक पद-दोष माना है, उसे अजितसेन ने शब्दच्युत नामक वाक्य-दोष माना है । अजितसेन ने शब्दच्युत का लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

अबद्धशब्दवाक्यं यच्छब्दहीनमिदं यथा ।

सुखं संगच्छते नात्र विषयान्ध्याच्युतत्रताः ॥^३

यहाँ 'सुखं न संगच्छते' इस वाक्य में दो पदों के दुष्ट होने से वाक्यदोष ही है, पददोष नहीं । क्योंकि सम् पूर्वक गम् घातु से आत्मनेपद होने पर कर्म कारक का ग्रहण नहीं होता है ।

वाग्भट-द्वितीय ने १४ वाक्य-दोषों को स्वीकार किया है ।^४ हेमचन्द्र सम्मत १३ वाक्य-दोषों में से हतवृत्तता को छोड़कर शेष १२ दोष वाग्भट-द्वितीय को समान रूप से मान्य हैं । इनके अतिरिक्त अर्थान्तरैकवाचक और अभवन्मत-योग ये दो मम्मट-सम्मत दोष भी उन्हें मान्य होने से उनके अनुसार वाक्यदोष १४ हैं । इनके लक्षण और उदाहरण प्रायः पूर्व स्वीकृत ही हैं ।

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।८४ ।

२. अलंकारचिन्तामणि, ५।२०९-२१० ।

३. वही, ५।२१६ ।

४. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २४ ।

भावदेवसूरि ने निम्न ३२ वाक्य-दोष माने हैं—(१) श्रुतिकटु, (२) च्युत-संस्कृति, (३) शिथिल, (४) अनुचित, (५) नेयार्थ, (६) असमर्थ, (७) विलुप्त, (८) निरर्थक, (९) ग्राम्य, (१०) संदिग्ध, (११) कथित, (१२) विकृत, (१३) निहतार्थ, (१४) विरुद्धमतिकृत, (१५) समाप्तपुनरात्त, (१६) अश्लील, (१७) अप्रयुक्त, (१८) अविमृष्टविवेयांश, (१९) पतत्प्रकर्ष, (२०) उपहृत-विसर्ग (२१) लुप्तविसर्ग, (२२) विसंधि, (२३) कुसंधि, (२४) हतवृत्त, (२५) न्यून, (२६) अधिक, (२७) अस्थानस्थ, (२८) भग्नप्रक्रम, (२९) गर्भित, (३०) अप्रसिद्ध, (३१) संकीर्ण और (३२) अक्रम ।^१ इनके लक्षण नामानुरूप हैं ।

उपर्युल्लिखित वाक्य-दोषों के विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ मम्मट ने २१ वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है, वहीं जैनाचार्यों ने उनका अनुसरण करते हुए भी अपनी मान्यतानुसार न्यूनाधिक विवेचन किया है । वाग्भट-प्रथम ने ८, हेमचन्द्र ने १३, नरेन्द्रप्रभसूरि ने २३, विजयवर्णी ने २३, अजितसेन ने २४, वाग्भट-द्वितीय ने १४ और भावदेवसूरि ने ३२ वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है । हेमचन्द्र को प्रायः मम्मट का अनुयायी कहा जाता है, किन्तु उन्होंने मम्मट का अन्धानुकरण न करते हुए यथास्थान अपनी मान्यताओं का समावेश किया है, जिसमें उनकी मौलिकता स्पष्ट प्रतीत होती है । हेमचन्द्र ने केवल १३ वाक्यदोषों का उल्लेख कर निश्चय ही मम्मट से भिन्न अपनी मान्यता स्थापित की है । विजयवर्णी ने रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ इन दो दोषों की नवीन कल्पना की है । अजितसेन ने मम्मट-सम्मत च्युतसंस्कृति नामक पद-दोष को शब्दच्युत नामक वाक्य-दोष माना है तथा उसके समर्थन में यथोचित तर्क भी प्रस्तुत किया है । भावदेवसूरि द्वारा स्वीकृत ३२ वाक्य-दोष संकलन जैसे प्रतीत होते हैं । अतः उनमें प्रायः मौलिकता का अभाव है ।

उभय-दोष :

पद और वाक्य में एक साथ पाये जाने वाले दोषों का उभय-दोष के नाम से उल्लेख किया गया है । उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट ने यद्यपि 'उभय-दोष' इस संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी पद और वाक्य में समान रूप में पाये जाने वाले दोषों की चर्चा की है । मम्मट के अनुसार ये १३ हैं^२, किन्तु जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इनका स्पष्ट विवेचन किया है, उनके अनुसार उभय-दोष

१. काव्यालंकारसार, ३।१-५ ।

२. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थ निरर्थकम् ।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ —काव्यप्रकाश, ७।५२ ।

८ प्रकार के होते हैं—(१) अप्रयुक्त, (२) अश्लील, (३) असमर्थ, (४) अनुचितार्थ, (५) श्रुतिकटु, (६) क्लिष्ट, (७) अविमृष्टविधेयांश और (८) विरुद्धमतिकृत् ।^१

अप्रयुक्तत्व—कवियों द्वारा अनादृत (अप्रयुक्त) । यह लोकमात्र में प्रसिद्ध अथवा शास्त्रमात्र में प्रसिद्ध रूप से दो प्रकार का होता है ।

लोकमात्र प्रसिद्ध पद-दोष यथा—कण्टं कथं रोदिति थूत्कृतेयम्^२ ।

यहाँ 'थूत्कृता' यह लोक मात्र में प्रसिद्ध होने से पद-दोष है ।

वाक्यदोष यथा—ताम्बूलभूतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥^३

यहाँ गल्ल, भल्ल आदि अनेक शब्द लोकमात्र में प्रसिद्ध होने से वाक्य-दोष है । इसे मम्मट ने वाक्यगत ग्राम्यत्वदोष का उदाहरण माना है ।^४

शास्त्रमात्र प्रसिद्ध पददोष यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।

तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा^५ ॥

यहाँ दैवत शब्द पुल्लिग में लिगानुशासन में प्रसिद्ध होने से दोष है ।

वाक्यदोष—यथा—तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसवेगताजुषः ।

दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥^६

यहाँ अधिमात्रोपाय आदि शब्द योगशास्त्र मात्र में प्रसिद्ध होने से दोष है ।

अश्लीलत्व—ब्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल व्यञ्जकतारूप भेद से अश्लील

तीन प्रकार का होता है ।

ब्रीडाभिव्यञ्जक पदगत यथा—

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।

तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम्^७ ॥

यहाँ पर साधन शब्द पुरुष का लिगवाचक होने से ब्रीडाभिव्यञ्जक है ।

वाक्यगत यथा—भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।

तत्तत्प्रहणनोत्साहवती मोहनमादधौ^८ ॥

१. काव्यानुशासन, ३।६।

२. वही, पृ० २२६।

३. वही, पृ० २२७।

४. काव्यप्रकाश, पृ० २८५।

५. काव्यानुशासन, पृ० २२७।

६. वही, पृ० २२९।

७. काव्यानुशासन, पृ० २२९।

८. वही, पृ० २३०।

यहाँ उपसर्पण, प्रहणन और मोहन शब्द ब्रीडादायक होने से दोष है। इसी प्रकार जुगुप्सा और अमंगल-व्यञ्जक अश्लीलत्व के भी पद और वाक्यगत भेद हैं।^१

असमर्थत्व—अवाचकता, कल्पितार्थता और सन्दिग्धता के कारण विवक्षित अर्थ को न कहने की शक्ति।

पदगत यथा—हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा,
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम्।
किं कुर्मः, कुशले सदैव विधुरो घाता न चेत्तत्कथं,
तादृश्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना^२ ॥

यहाँ 'दिनम्' पद प्रकाशमय अर्थ को कहने में अवाचक (असमर्थ) है।
वाक्यगत यथा—विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम्।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥^३

यहाँ विभजति (विभाग) सेवन, आलभति (विनाश) लाभ, आवहति (करोति-करता है) धारण और प्रस्मरति (विस्मरण) स्मरण अर्थ को कहने में अवाचक (असमर्थ) हैं।

कल्पितार्थत्व से असमर्थता—पदगत यथा—

किमुच्यतेऽस्य भूपाल मौलिलालामहामणेः।

सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥^४

यहाँ 'वचः' शब्द से 'गीः' शब्द लक्षित होता है, अतः कल्पितार्थत्व होने से असमर्थ दोष है। मम्मट ने यहाँ पदांशगत नेयार्थता दोष माना है।^५
वाक्यगत यथा—

सपदि पंक्तिं विहंगमनामभूत्तनय संवलितं बलशालिना।

विपुलपर्वतवर्षिशितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ॥^६

यहाँ 'पंक्ति' दस संख्या का बोधक है। विहंगम का अर्थ है चक्र, उस नाम को धारण करने वाला (चक्रभृत्) रथ। अर्थात् दस रथ जिसके हैं (दशरथ), उसके पुत्र राम-लक्ष्मण उलूकजिता—इन्द्र को जीतते वाले हैं। इस प्रकार कल्पित होने से असमर्थत्व दोष है।

१. द्रष्टव्य—काव्यानुशासन, पृ० २३०।

२. वही, पृ० २३१-२३२।

३. वही, पृ० २३६।

४. काव्यानुशासन, पृ० २३६।

५. काव्यप्रकाश, पृ० ३००।

६. काव्यानुशासन, पृ० २३६।

संदिग्ध से असमर्थता—पदगत यथा—

आलिङ्गितस्तत्र भवान्सम्पराये जयश्रिया ।

आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥^१

यहाँ 'वन्द्या' शब्द क्या 'आशीः परम्परा' का विशेषण है, अर्थात् वन्दनीय आशीः परम्परा अथवा वन्दी शब्द सप्तम्यन्त में 'वन्द्या' शब्द हठपूर्वक वन्दी बनाई गई महिला विषयक बोधक है, अर्थात् सप्तम्यन्त है, यह संदेह होता है। वाक्यगत यथा—

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।

मार्गणप्रवणो भास्वद् भूतिरेष विलोक्यते ॥^२

यहाँ सुरादि (आदि पद से कम्पना, मार्गण और भास्वद् भूति) शब्द देव, सेना, बाण और विभूति अर्थ के वाचक हैं क्या ? अथवा मदिरा (कम्पन, भीख और राख) आदि अर्थों के वाचक हैं, इसमें सन्देह होने से असमर्थता दोष है।

प्रस्तुत दोष में हेमचन्द्र ने मम्मट-सम्मत अवाचकता, प्रसिद्धिहृता, नेयार्थता और संदिग्धता नामक दोषों का अन्तर्भाव किया है, जिसका उल्लेख स्वोपज्ञ विवेक टोका में स्पष्ट रूप से किया गया है।^३

अनुचितार्थता—पदगत यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सन्निभिरिष्यते च या ।

प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥^४

यहाँ पशु पद कातरता की अभिव्यक्ति करा रहा है, अतः अनुचितार्थता दोष है। वाक्यगत यथा—

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो ।

यशो गायन्त्येते दिशि दिशि वनस्थास्तव विभो ॥

शरज्ज्योत्सनागीरस्फुटविकटसर्वांगसुभगा ।

तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥^५

यहाँ कुविन्दादि शब्द जुलाहा परक अर्थ के भी वाचक होने से स्तूयमान राजा के तिरस्कार को अंजित करते हैं, अतः दोष है।

१. काव्यानुशासन, पृ० २३७ ।

२. वही, पृ० २३७ ।

३. अवाचकत्वादित्यनेनावचकत्वप्रसिद्धिदुष्टत्वयोः कल्पितार्थत्वादित्यनेन नेयार्थत्वस्य, संदिग्धत्वादित्यनेन संदिग्धत्वस्यासमर्थत्वदोषेऽन्तर्भावमाह ।

—काव्यानुशासन, विवेक टांका, पृ० २२९ ।

४. काव्यानुशासन, पृ० २३८ ।

५. वही, पृ० २३९ ।

श्रुतिकटुता—पदगत यथा—

अनंगमंगलगृहापांग

भंगितरंगितैः ।

आलिंगितः स तन्वंग्या कातार्थ्यं लभते कदा ॥

यहाँ 'कातार्थ्य' पद श्रुतिकटु होने से दोष है । वाक्यगत यथा—

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते कान्तिद्रव्यं द्राग्विशदं शशांकः ।^२

यहाँ चण्डि और द्राग् आदि पद श्रुतिकटु होने से दोष है ।

क्लिष्टता—व्यवधानपूर्वक अर्थ का बोध कराने वाला । पदगत यथा—

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां ।

ज्योत्स्नाजुषा जललवास्तरलं पतन्ति ॥^३

यह दक्ष की आत्मजा तारा, उसका दयित (प्रिय) चन्द्रमा, उसकी वल्लभायें चन्द्रकान्तमणियां, उसकी वेदिकाओं की चाँदनी के साथ संयोग से चंचल जलकण गिर रहे हैं । यहाँ अर्थ की प्रतीति व्यवधानपूर्वक होने से दोष है । वाक्यगत यथा—

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरंगशावाक्ष्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥^४

यहाँ केशपाश की शोभा को देखकर किसका मन रञ्जित नहीं होता है । इस प्रकार दूरस्थित सम्बन्ध में क्लिष्टता दोष है ।

अविमृष्टविधेयांश—जहाँ प्रधान रूप से विधेयांश का कथन न किया गया हो । पदगत यथा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥^५

यहाँ अलक्ष्यता अनुवाद्य नहीं है, अपितु विधेय है, अतः 'अलक्षिता जनिः' यह कहना चाहिए था । वाक्यगत यथा—

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्मद्रुमाणामधः ।

शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ॥

इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने ।

दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनाबन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥^६

१. काव्यानुशासन, पृ० २४० ।

२. वही, पृ० २४० ।

३. वही, पृ० २४१ ।

४. वही, पृ० २४२ ।

५. वही, पृ० २४२ ।

६. वही, पृ० २४४ ।

यहाँ 'शाद्वल' इस अनुवाद वाक्य से 'शय्या' आदि विधेय हैं। यहाँ शब्द रचना विपरीत करने से वाक्य-दोष ही है, वाक्यार्थ नहीं।

विरुद्धमतिकृत्—पदगत यथा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिहः।

सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥^१

यहाँ अम्बिकारमण का अर्थ गौरीरमण विवक्षित है, किन्तु मातृरमण इस प्रकार विरुद्धबुद्धि उत्पन्न होने से दोष है। वाक्यगत यथा—

अनुत्तमानुभावस्य परैरपिहितीजसः।

अकार्यसुहृदोऽस्माकमपूर्वास्तव कीर्तय ॥^२

यहाँ 'अकार्यों में मित्र' से बुरे कामों में मित्र तथा 'अपूर्व कीर्ति' में अपूर्वक कीर्ति अर्थात् अकीर्ति रूप विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने से दोष है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने प्रत्येक दोष के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। साथ ही प्रायः प्रत्युदाहरणों का भी उल्लेख किया है। कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, जिनमें न दोष हैं और न गुण। मम्मट ने पदगत-दोष १३ माने हैं और उनमें क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् को मिलाकर १६ दोष समासगत माने हैं। इसी प्रकार १६ समासगत दोषों में से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक इन तीन दोषों को छोड़कर शेष १३ दोष वाक्यगत माने हैं, किन्तु हेमचन्द्र ने इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है, अपितु उपयुक्त आठ उभयदोषों को स्वीकार किया है, जो पद और वाक्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः दिये हैं। हेमचन्द्र ने उक्त आठ उभयदोषों के अन्तर्गत ही मम्मटादि सम्मत अवाचकता आदि अन्य दोषों का समावेश किया है, जिस दोष को जिसके अन्तर्गत स्वीकार किया है, उसमें तत्-तत् दोषों के उदाहरण दिये हैं। हेमचन्द्र ने दोषों के अन्तर्भाव का यत्र-तत्र स्वोपज्ञ विवेक नामक टीका में भी उल्लेख किया है, जिससे विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने १५ उभय-दोषों का उल्लेख किया है—(१) ग्राम्य, (२) संदिग्ध, (३) दुःश्रव, (४) अप्रतीत, (५) अयोग्यार्थ (अनुचितार्थ) (६) अप्रयुक्त, (७) अवाचक, (८) जुगुप्साजनक अश्लील, (९) अमंगलजनक अश्लील, (१०) ब्रीडाजनक अश्लील, (११) नेयार्थ, (१२) निहतार्थ, (१३) विरुद्धमति-

१. काव्यानुशासन, पृ० २६०।

२. वही, पृ० २६०।

कृत्, (१४) अविमृष्टविधेयांश और (१५) संक्लिष्ट^१। इनमें से ८ दोषों का विवेचन ऊपर हेमचन्द्र के प्रसंग में किया जा चुका है। जुगुप्सा, अमंगल और बीडाजनक इन तीनों को हेमचन्द्र ने एक अश्लील दोष के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार अप्रयुक्त में ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त और निहतार्थ तथा असमर्थ में संदिग्ध, अवाचक और नेयार्थ का अन्तर्भाव किया है, जिसके स्पष्टीकरण हेतु निम्न कोष्ठक सहायक होगा।

हेमचन्द्र सम्मत उभयदोष नरेन्द्रप्रभसूरि सम्मत उभयदोषों का अन्तर्भाव

अप्रयुक्त	ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त, निहतार्थ
अश्लील	जुगुप्साजनक, अमंगलजनक, बीडाजनक-अश्लील
असमर्थ	संदिग्ध, अवाचक, नेयार्थ
अनुचितार्थ	अयोग्यार्थ (अनुचितार्थ)
श्रुतिकटु	दुःश्रव
क्लिष्ट	संक्लिष्ट
अविमृष्टविधेयांश	अविमृष्टविधेयांश
विरुद्धमतिकृत्	विरुद्धमतिकृत्

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत उभयदोषों के लक्षणों और उदाहरणों में कोई नवीनता नहीं है। हेमचन्द्र ने अप्रयुक्तादि दोषों का अन्तर्भाव करते समय प्रायः उन-उन दोषों के उदाहरणों का भी समावेश किया है। इस प्रसंग में नरेन्द्रप्रभसूरि के ऊपर हेमचन्द्र की अपेक्षा मम्मट का प्रभाव अधिक लक्षित होता है।

वाग्भट-द्वितीय ने निरर्थक आदि १६ शब्द-दोष माने हैं,^२ उनके अनुसार ये सभी शब्द-दोष पद और वाक्य में समान रूप से पाये जाते हैं, इनका उल्लेख पद-दोष के प्रसंग में किया जा चुका है। वाग्भट-द्वितीय ने इन दोषों को उभय-दोष जैसी संज्ञा से अभिहित नहीं किया है।

अर्थदोष :

जब विभिन्न कारणों के द्वारा अर्थ दूषित हो जाता है, तब वह अर्थदोष कहलाता है। मम्मट ने २३ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहृत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) संदिग्ध, (८) निहंतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) सनि-

१. अलंकारमहोदधि, ५।६-८।

२. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १९।

यम-परिवृत्त, (१३) अनियम-परिवृत्त, (१४) विशेष-परिवृत्त, (१५) अविशेष-परिवृत्त, (१६) आकांक्षा, (१७) अप्रयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशितविरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादायुक्त, (२२) त्यक्तपुनःस्वीकृत और (२३) अश्लील ।^१

वाग्भट-प्रथम का अर्थदोषों के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना है कि बिना किसी कारण के देश, काल, आगम, अवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ का गुम्फन नहीं करना चाहिए ।^२ यथा—चैत्र मास के प्रारम्भ में विकसित कुटज पुष्पों की पंक्ति से मुस्कराती हुई दिशाओं में हिम-कण के सदृश उष्ण सूर्य के अति प्रचण्ड हो जाने पर मरुस्थल के सरोवर में जलक्रीडा के लिए आए हुए मद के कारण अन्ध हाथियों के बच्चों को विषम बाणों के प्रहार से योगीजन वेध रहे हैं ।^३ यहाँ वसन्त ऋतु में कुटज पुष्पों का फूलना कालविरुद्ध, सूर्य में हिम-कण के समान शीतलता द्रव्यविरुद्ध, मरुस्थल के सरोवर में जलक्रीडा देशविरुद्ध, हाथियों के बच्चों का मद के कारण अन्ध हो जाना अवस्थाविरुद्ध और योगीजनों द्वारा बाणों से हाथी मारना आगमविरुद्ध होने से दोष है ।

हेमचन्द्र ने अर्थदोषों के प्रसंग में प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है तथा २० अर्थ-दोषों को स्वीकार किया है—(१) कष्ट, (२) अपुष्ट, (३) व्याहत, (४) ग्राम्य, (५) अश्लील, (६) साकांक्ष, (७) संदिग्ध, (८) अक्रम (दुष्क्रम), (९) पुनरुक्त, (१०) सहचरभिन्न, (११) विरुद्धव्यंग्य (प्रकाशित विरुद्ध), (१२) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१३) विद्याविरुद्ध, (१४) त्यक्तपुनराक्त, (१५) परिवृत्त-नियम, (१६) परिवृत्त-अनियम, (१७) परिवृत्त-सामान्य (१८) परिवृत्त-विशेष, (१९) परिवृत्त-विधि और (२०) परिवृत्त-अनुवाद ।^४ इनके लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार हैं—

कष्टार्थता—अर्थ का कष्टपूर्वक ज्ञान होना । यथा—

सदा मध्ये यासाममृतरसनिष्पन्दसरसं
सरस्वत्युद्गामा वहितबहुमायां परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचयाः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितरुचिरायां तु रुचयः ॥^५

१. काव्यप्रकाश, ७।५५-५७ ।

२. वाग्भटालंकार, २।२७ ।

३. वही, २।२८ ।

४. काव्यानुशासन, ३।७ ।

५. वही, पृ० २६१ ।

अर्थात् जिन कवि-रचयियों के प्रतिभा रूप प्रभावों के मध्य में बहुत मार्ग वाली—सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप मार्गत्रय वाली सरस्वती चमत्कार-पूर्वक प्रवाहित होती रहती है, वे कवि-रचियाँ सर्ग बंध लक्षण रूप महाकाव्या-काश में परिचय में आई हैं। अभिनेय (दृश्य) काव्य की भाँति किस प्रकार प्रसन्नता उत्पन्न करा सकती हैं तथा जिन सूर्य प्रभाओं के मध्य में त्रिपथगा प्रवाहित होती हैं, वे (आदित्य-प्रभाएँ) मेघ से परिचित होने वाली कैसे प्रसन्न हो सकती हैं ? यहाँ कष्टपूर्वक अर्थ की प्रतीति से दोष है।

अपुष्टार्थता—प्रकृति में अनुपयोगी होना। यथा—

तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमतिफेनिलम् ।

फालेन लंघयामास हनूमानेष सागरम् ॥^१

यहाँ 'तमालश्यामल' आदि के ग्रहण न करने पर भी प्रकृत अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा न होने से उक्त दोष है।

व्यहृतार्थत्व—पूर्वापर अर्थ का घातक। यथा—

जहि शत्रुकुलं कृत्स्नं जय विश्वंभरामिमाम् ।

न च ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥^२

यहाँ विद्वेष के अभाव में शत्रुवध पूर्वापर विरुद्ध होने से उक्त दोष है।

ग्राम्यत्व—अविदग्धता (चातुर्य का अभाव)। यथा—

स्वपिति यावदयं निकटो जनः स्वपिमि तावदहं किमपेति ते ।

इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा ॥^३

यहाँ अविदग्धतापूर्ण अर्थ की प्रतीति होने से दोष है।

अश्लीलता—लज्जा आदि का व्यञ्जक अर्थ। यथा—

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥^४

खल व्यक्ति में प्रयुक्त यह वाक्य पुरुष जननेन्द्रिय की प्रतीति कराता है। यहाँ अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की ही अश्लीलता है।

१. काव्यानुशासन, पृ० २६१।

२. वही, पृ० २६२।

३. वही, पृ० २६२।

४. वही, पृ० २६२।

साकांक्षता—यथा—

अथित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो ! प्रत्युत,
दुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तथा कन्यया ।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विश्रंसनं चात्मनः,
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥^१

यहाँ 'स्त्रीरत्न' के पश्चात् 'उपेक्षितुं' इस पद की आकांक्षा रहती है । 'परस्य' का 'स्त्रीरत्न' से सम्बन्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि 'परस्य' का सम्बन्ध 'उत्कर्ष' के साथ पहले ही हो चुका है । और जैसे—

गृहीतं येनासी : परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यास्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥^२

यहाँ शस्त्र त्याग में हेतु की आकांक्षा बनी रहने से दोष है । मम्मट ने निर्हेतु नामक एक पृथक् अर्थदोष माना है तथा उसी के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत पद्य को स्वीकार किया है । हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ विवेक टीका में लिखा है कि साकांक्षा में ही अन्तर्भाव हो जाने से निर्हेतु दोष को पृथक् नहीं कहा है ।

संदिग्धता—जहाँ संशय का हेतु उपस्थित हो । यथा—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
रम्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥^३

यहाँ प्रकरण के अभाव में सन्देह होने से दोष है । शान्त अथवा शृंगार किसी एक का कथन करने पर निश्चय हो सकता है ।

अक्रमत्व—प्रधान अर्थ का पूर्व निर्देश करना क्रम है और उसका अभाव अक्रमत्व दोष । यथा—

‘तुरगमथवा मातङ्गं मे प्रयच्छ मदालसम् ॥^४

यहाँ 'मातङ्ग' का पहले निर्देश करना उचित था । अथवा क्रम के अनुष्ठान का अभाव अक्रमत्व है । यथा—

काराविक्रुण खउरं गामउडो मज्जिऊण जिमिऊण ।
नक्खत्तं तिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ ॥^५

१. काव्यानुशासन, पृ० २६२ ।

२. वही, पृ० २६३ ।

३. वही, पृ० २६३ ।

४. वही, पृ० २६४ ।

५. वही, पृ० २६४ ।

पुनरुक्तत्व—एक ही अर्थ का दो बार कथन करना । यथा—

प्रसाधितस्याथ मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।

वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकाम्या ह्युरसीतरा तु ॥^१

इस प्रकार कहकर एक ही अर्थ को पुनः कहते हैं—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।

आनन्दिता शेषजना बभूव सर्वाङ्गसंङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ॥^२

यहाँ एक ही अर्थ का दो बार कथन होने से दोष है । कहीं पुनरुक्तता गुण हो जाती है । हेमचन्द्र ने गुण का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।

संप्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥^३

यह निर्वेद के वशीभूत (उदासीन) व्यक्ति का कथन होने से शान्त रस की पुष्टि करता है, अतः यहाँ पुनरुक्तता गुण है, यह हेमचन्द्र का मत है ।^४ किन्तु मम्मट ने अनवीकृतत्व नामक एक अन्य अर्थदोष माना है तथा उसीके उदाहरण में यह पद्य प्रस्तुत किया है ।^५ यतः यहाँ एक ही अर्थ का पुनः-पुनः कथन किया गया है, अतः कोई नवीनता न होने से मम्मट के अनुसार अनवीकृतत्व दोष है ।

भिन्नसहचरत्व—उचित सहचर की भिन्नता । यथा—

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।

निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन वालंक्रियते नरेन्द्रता ॥^६

यहाँ श्रुति-बुद्धि आदि उत्कृष्ट सहचरों से व्यसन-मूर्खता रूप निकृष्ट सहचर की भिन्नता भिन्नसहचरत्व दोष है ।

विरुद्धव्यंग्यत्व—विरुद्ध व्यंग्य का भाव । यथा—

१. काव्यानुशासन, पृ० २६४ ।

२. वही, पृ० २६४ ।

३. वही, पृ० २६७ ।

४. वही, पृ० २६७ ।

५. देखिये—काव्यप्रकाश, पृ० २३३ ।

६. काव्यानुशासन, पृ० २६७ ।

‘लग्नं रागावृताङ्गचा.....।’^१ यहाँ ‘विदितं तेऽस्तु’ (तुम्हें मालूम होना चाहिए) इससे ‘लक्ष्मी उसको छोड़ रही है’ इस विरुद्ध व्यंग्य की प्रतीति होने से दोष है।^२

प्रसिद्धिविरुद्धत्व—प्रसिद्धि के विरुद्ध कथन करना। यथा—

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने,
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तददुःसाध्यक्रमणपरमास्त्रं स्मृतभुवा,
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्॥^३

यहाँ काम का चक्र लोक में अप्रसिद्ध होने से दोष है।

विद्याविरुद्धत्व—कला, चतुर्वर्ग और शास्त्र विद्या हैं। गीत, नृत्य और चित्रकर्म आदि कलाएँ हैं। गीतविरुद्ध—यथा—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः,
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः,
परिणतिमिति रात्रेर्मगिधा माघवाय॥^४

यहाँ संगीतशास्त्रविरुद्ध कथन होने से गीतविरुद्ध (विद्याविरुद्ध) दोष है। उपर्युक्त के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने धर्मशास्त्रविरुद्ध, अर्थशास्त्रविरुद्ध, कामशास्त्र-विरुद्ध और मोक्षशास्त्रविरुद्ध दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।^५

त्यक्तपुनरात्तत्व—यथा—

‘लग्नं रागावृताङ्गचा.....।’ यहाँ ‘विदितं तेऽस्तु’ इस प्रकार उपसंहार होने पर भी ‘तेन’ इत्यादि के द्वारा पुनः ग्रहण करने से दोष है।^६

१. लग्नं रागा वृताङ्गचा सुदृढमिह ययैवासि यष्टचारिकण्ठे,
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्ति दत्ता,
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधि यस्य कीर्तिः॥

—काव्यानुशासन, पृ० २११ से उद्धृत।

१. काव्यानुशासन, पृ० २६७।
३. वही, पृ० २६९।
५. वही, पृ० २७१।

२. वही, पृ० २६७।
४. देखिये—वही, पृ० २७०।
६. वही, पृ० २७१।

परिवृत्त-नियम—नियम के बिना वर्णन करना । यथा—

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।

याताः प्राणभृतां मनोरथगतोरुल्लङ्घ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥^१

यहाँ छाया मात्र से मणि बने हुए पत्थरों में उस मणि को पत्थर रूप में ही गणना करना उचित था, यह नियम होने पर उसका आभास यह अनियम कहा है, अतः परिवृत्तनियम दोष है ।

परिवृत्त-अनियम—नियम करते हुए वर्णन करना । यथा—

वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चत्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥^२

यहाँ शोण यह अनियम वाच्य होने पर, 'शोण एव' यह नियम कहा है । अतः परिवृत्त-अनियम दोष है ।

परिवृत्त सामान्य—सामान्य की अपेक्षा विशेष वाचक शब्द का प्रयोग । यथा—

कल्लोलवेल्लितदृषत्पुरुषप्रहारैः

रत्नान्यमूनि मकराकर ! मावमंस्थाः ।

किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम,

याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥^३

यहाँ 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इस सामान्य के वाच्य होने पर 'कौस्तुभेन' इस विशेष का कथन होने से परिवृत्तसामान्य दोष है ।

परिवृत्तविशेष—विशेष की अपेक्षा सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग । यथा—

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः,

मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां स्मितम् ।

चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके,

येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किता ॥^४

१. काव्यानुशासन, पृ० २७१ ।

२. वही, पृ० २७१-२७२ ।

३. वही, पृ० २७२ ।

४. वही, पृ० २७२ ।

यहाँ 'ज्योत्सनाम्' इस विशेष के वाच्य होने पर 'श्यामाम्' इस सामान्य का कथन करने से उक्त दोष है।

परिवृत्तविधि—विधि की अपेक्षा अनुवाद का कथन करना। यथा—

अरे रामाहस्ताभरण ! मधुपश्रेणिशरण !
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन !।
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥^१

यहाँ विधि के वाच्य होने पर 'विरहिप्राणदमन' रूप अनुवाद का कथन होने से परिवृत्तविधि दोष है।

परिवृत्त अनुवाद—अनुवाद की अपेक्षा विधि का कथन करना। यथा—

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशां,
अकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यो रणकथाऽद्य दोःशालिनां,
अपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥^२

यहाँ 'शयित' इस अनुवाद के वाच्य होने पर 'शेषे' इस विधि का कथन करने से परिवृत्त-अनुवाद दोष है।

मम्मट ने २३ अर्थदोष माने हैं और हेमचन्द्र ने २०। मम्मट ने जिन अन्य तीन दोषों को माना है, उनके नाम हैं—निर्हेतु, अनवीकृतत्व और अपदयुक्तता। इनमें से हेमचन्द्र ने निर्हेतु का अन्तर्भाव साक्षात् दोष में किया है। मम्मट ने अनवीकृतत्व का जो उदाहरण दिया है उस उदाहरण को हेमचन्द्र ने 'पुनरुक्त-दोष जहाँ गुण हो जाता है' का उदाहरण स्वीकार किया है।

नरेन्द्रप्रभसूरी ने मम्मटोल्लिखित २३ अर्थदोषों का ही विवेचन किया है।^३ उनके उदाहरण भी प्रायः काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से गृहीत हैं। विजय-वर्णी ने २१ अर्थदोष माने हैं^४, इन्होंने मम्मट-सम्मत अनवीकृतत्व को नहीं माना है तथा विध्यनुवादविवृत्त को एक ही दोष माना है, जब कि मम्मट और हेमचन्द्र आदि ने परिवृत्तविधि एवं परिवृत्त-अनुवाद ये दो पृथक्-पृथक् दोष माने हैं।

१. काव्यानुशासन, पृ० २७२।

२. वही, पृ० २७३।

३. देखिये—अलंकारमहोदधि, ५/११-१४।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५/२३७।

अजितसेन ने १८ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) एकार्थ (पुनरुक्त), (२) अपार्थ, (३) व्यर्थ, (४) भिन्नार्थ, (५) अपक्रम (दुष्क्रम), (६) परुषार्थ, (७) अलंकाररहित, (८) अप्रसिद्धसादृश्य (प्रसिद्धिविरुद्ध), (९) हेतुशून्य (निर्हेतु), (१०) विरस, (११) सहचरभ्रष्ट, (१२) संशयादय (संदिग्ध), (१३) अश्लील, (१४) अतिमात्र, (१५) विसदृश, (१६) समताहीन, (१७) सामान्य साम्य और (१८) लोकादि-उक्तिविरुद्ध। इनमें से अपार्थ, व्यर्थ, भिन्नार्थ, परुषार्थ, अलंकारहीनता, विरस, अतिमात्र, विसदृश, समताहीन और सामान्य साम्य विशेष हैं, अतः इनके लक्षणोदाहरण इस प्रकार हैं—

अपार्थ—वाक्यार्थ से रहित। यथा—

दाराः के मेरुस्तुङ्गो नद्यः शुक्रास्तु के गजाः ।^१

यहाँ समुदाय रूप में कोई भी अर्थ पुष्ट न होने से दोष है। इसे मम्मट-सम्मत अपुष्टार्थ-दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

व्यर्थ—प्रयोजन रहित वाक्यार्थ। यथा—

‘शौर्याब्धिस्ते महान् बंग किमु चक्री न सेव्यते ।’

यहाँ हे बंगदेशाधिपति ! तुम्हारा शौर्यसागर महान् है, यह स्तुति है और चक्री की सेवा क्यों नहीं करते ? यह उपदेश होने से उक्त दोष है।

भिन्नार्थ—परस्पर सम्बन्ध से रहित अर्थ वाला। यथा—

सत्यं नाराधितो धर्मो यदब्धिर्मणिभिश्चितः ।^२

यहाँ धर्मारोपना के अभाव और समुद्र की रत्न पूर्णता का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः भिन्नार्थ दोष है।

पुरुषार्थ—अत्यन्त क्रूरता पूर्ण वाक्यार्थ। यथा—

‘इमेऽपूपार्थिनो बालाः क्षिप्यन्तां दाववह्निषु’ ।^३

यहाँ ‘अपूप माँगने वाले इन बच्चों को दावानल में फेंक दो’ यह क्रूरतापूर्ण वाक्यार्थ होने से दोष है।

अलंकारहीनता—अलंकार रहित वाक्य। यथा—

दीर्घेणोत्थाप्यमानेन मेहेनेन तुरङ्गमः ।

पृथ्वग्रग्रन्थिनारुह्य वडवां क्लेशयत्यरम् ॥^४

यहाँ प्रशंसनीय विशेषण का अभाव होने से स्वभावोक्ति अलंकार भी नहीं है। अतः अलंकारहीनता नामक दोष है।

१. अलंकारचिन्तामणि, ५/२३८ ।

३. वही, ५।२४१ ।

२. वही, ५।२३९ ।

४. वही, ५।२४२ ।

विरस—जहाँ अप्रस्तुत रस का कथन हो। यथा—

‘गच्छत्सशोककामिन्यश्चुम्बिताः शवरैर्वने ।’^१

यहाँ अपने पति से वियुक्त शोकातुर चक्रवर्ती के शत्रुओं की कान्ताओं का चुम्बन करना विरसोत्पादक होने से दोष है।

अतिमात्र—सम्पूर्ण लोक में असम्भव। यथा—

‘वैरिस्त्रीनयनाम्भोभिरसंख्याः सागराः कृताः ।’^२

यहाँ ‘शत्रु-स्त्रियों के नयनाश्रुओं से असंख्य समुद्रों का भरना’ असम्भव होने से उक्त दोष है।

विसदृश—जहाँ असमान उपमान हो। यथा—

‘वडवानलदग्धोऽब्धिशारदेन्दुरिव व्यभात् ।’^३

यहाँ वडवाग्नि से दग्ध समुद्र की उपमा शरत्कालीन चन्द्रमा से देने के कारण विसदृश दोष है।

समताहीन और सामान्यसाम्य—जहाँ हीन अथवा उत्कृष्ट उपमान का प्रयोग किया गया हो, वहाँ क्रमशः समताहीन और सामान्यसाम्य दोष होते हैं।

‘विद्या शुनीव ते भाति, बको मुनिरिव व्यधात् ।’^४

यहाँ विद्या की तुलना कुतिया (हीन उपमान) से की गई है तथा बगुला की मुनि (उत्कृष्ट उपमान) से तुलना करने के कारण क्रमशः समताहीन और सामान्यसाम्य दोष हैं।

अजिनसेन-सम्मत शेष अर्थदोष हेमचन्द्राचार्य-सम्मत तथा नामानुरूप लक्षण वाले हैं, अतः यहाँ उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

वाग्भट-द्वितीय ने १४ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) कष्ट, (२) अपुष्ट, (३) व्याहत, (४) ग्राम्य, (५) अश्लील, (६) साकांक्ष, (७) संदिग्ध, (८) अक्रम, (९) पुनरुक्त, (१०) सहचरभिन्न, (११) विरुद्धव्यंग्य, (१२) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१३) विद्याविरुद्ध और (१४) निर्हेतु।^५ इसके अतिरिक्त उन्होंने लिखा है कि परिवृत्तनियम, परिवृत्त-अनियम, परिवृत्तसामान्य, परिवृत्त-विशेष, परिवृत्तविधि और परिवृत्त-अनुवाद आदि दोष काव्यप्रकाश में कहे

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।२४५।

२. वही, ५।२५०।

३. वही, ५।२५१।

४. वही, ५।२५२।

५. काव्यानुशासन-वाग्भट, १० २७।

जाने पर भी पूर्वोक्त दोषों में उनका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः हमने (वाग्भट द्वितीय ने) उनका उल्लेख नहीं किया है ।^१

भावदेवसूरि ने ८ अर्थदोषों का उल्लेख किया है—(१) अपुष्टार्थ, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) विरुद्ध, (५) अनुचित, (६) ग्राम्य, (७) संदिग्ध और (८) पुनरुक्त ।^२ यहाँ इन्होंने 'अनुचितार्थ' को भी अर्थदोष माना है, जबकि पूर्वाचार्यों ने अनुचितार्थ को पदगत दोष ही माना है ।

उपर्युल्लिखित अर्थदोषों पर सम्यक् विचार करने से प्रतीत होता है कि सभी जैनाचार्यों ने प्रायः आचार्य मम्मट को ही आधार मानकर दोष-निरूपण किया है, परन्तु विवेचन और उदाहरणों के क्षेत्र में उनकी विचार सूक्ष्मता और व्यापक पाण्डित्य परिलक्षित होता है ।

रसदोष :

आचार्य मम्मट आदि रसवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है, जिसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'^३ यह काव्य का लक्षण किया है । यह धारणा न केवल मम्मट और विश्वनाथ की ही, अपितु बहुतेरे आचार्यों की है । रस का दूषित हो जाना काव्य के लिए महा अनर्थकारी है । अतः रसदोषों के परिहार हेतु उनका ज्ञान कर लेना आवश्यक है ।

मम्मट ने १० प्रकार के रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) व्यभिचारि-भावों, रसों और स्थायिभावों का स्वशब्द से कथन करना (स्वशब्द वाच्यता), (२) अनुभाव और विभाव की कल्पना पूर्वक अभिव्यक्ति, (३) रस के प्रतिकूल विभावाद का ग्रहण, (४) एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति, (५) अनवसर में रस का विस्तार, (६) अनवसर में रस का विच्छेद, (७) अंग (रस) का अति-विस्तार, (८) अंगी (रस) का भूल जाना, (९) प्रकृतियों का विपर्यय और (१०) अंग (अनुपयोगी रस) का कथन ।^४

१. परिवृत्तनियमानियमसामान्यविशेषविध्यनुवादादयः काव्यप्रकाशादावुक्तावपि पूर्वोक्तेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यस्माभिर्नोक्ताः ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, स्वोपज्ञ-अलंकारतिलकटीका, पृ० २९ ।

२. काव्यालंकारसारसंग्रह, ३।१९ ।

३. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद ।

४. काव्यप्रकाश, ७।६०-६२ ।

हेमचन्द्र ने ८ रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति, (२) एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति, (३) अनवसर में रस का विस्तार, (४) अनवसर में रस का विच्छेद, (५) अंग का अति विस्तार से वर्णन, (६) अंगी (रस) की विस्मृति (अननुसन्धान), (७) अनंग का वर्णन और (८) प्रकृति व्यत्यय ।^१ इनका विवेचन निम्न प्रकार है—

विभावानुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति—विभाव यथा—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलिततरां परिवर्तते च भूयः ।

इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥^२

यहाँ वेचैनी आदि अनुभाव करुण रस में भी सम्भव होने से कामिनी रूप विभाव की अभिव्यक्ति कष्टपूर्वक हो रही है । अनुभाव यथा—

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधूतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।

लोलाशिरोऽंशुकनिवेशविशेषकृत्पित्तव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनी सा ॥^३

यहाँ उद्दीपन (चन्द्रमा) और आलम्बन रूप (नायिका) शृंगार योग्य विभाव, अनुभाव में पर्यवसित रूप में स्थित न होने से कष्टपूर्वक अभिव्यक्ति हो रही है ।

रस की पुनः पुनः दीप्ति—यथा—‘कुमारसम्भव’ में रति विलाप के अवसर पर । उपभुक्त रस अपनी सामग्री प्राप्त कर पुष्टि को प्राप्त पुनः पुनः उद्दीपित करने वाला मुरझाये कुसुम के समान वैरस्योत्पादक होता है ।^४

अनवसर में रसका विस्तार—यथा—‘वेणीसंहार’, के द्वितीय अङ्क में । उस प्रकार भीष्म आदि प्रमुख अनेक वीरों के युद्ध में नष्ट हो जाने पर धीरोद्धत प्रकृति वाले दुर्योधन का शृंगारवर्णन अनवसर में रस का विस्तार है ।^५

अनवसर में रस का विच्छेद—यथा—‘रत्नावली’ के चतुर्थ अंक में वत्सराज का । विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में रत्नावली के नाम को भी ग्रहण न करना । अथवा ‘वीरचरित’ के द्वितीय अंक में—राम और परशुराम के संवाद में वीररस के चरमोत्कर्ष पर ‘मैं कंकण मोचन के लिए जाता हूँ’—इस प्रकार रामचन्द्र की उक्ति अनवसर में रस का विच्छेद होने से दोष है ।^६

१. विभावानुभावकलेशव्यक्तिपुनःपुनर्दीप्त्यकाण्डप्रथाछेदाङ्गातिविस्ताराङ्ग्यननु-
सन्धानानङ्गाभिधानप्रकृतिव्यत्यासश्च ।

—काव्यानुशासन, ३।३ ।

२. वही, पृ० १६९ ।

३. वही, पृ० १७० ।

४-६. वही, पृ० १७०-१७२ ।

अंग का अति विस्तार से वर्णन—यथा—‘हयग्रीववध’ में हयग्रीव (अंग) का विस्तार से वर्णन दोष है। इस प्रसंग में हेमचन्द्र ने अन्य अनेक ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत कर दोष दिखलाए हैं।^१

अंगी की विस्मृति—यथा—‘रत्नावली’ के चतुर्थ अंक में वाञ्छव्य के आगमन पर सागरिका (अंगी) की विस्मृति दोष है, क्योंकि स्मृति सहृदयता का सर्वस्व है। यथा—‘तापसवत्सराज’ में छः अंकों में भी वासवदत्ता विषयक प्रेम-सम्बन्ध कथावशात् विच्छेद की आशंका होने पर भी निबद्ध किया गया है।^२

अनंग का वर्णन—यथा—‘कर्पूरमंजरी’ में राजा द्वारा नायिका और अपने द्वारा किए गए वसन्त वर्णन की उपेक्षा कर बन्धियों द्वारा वर्णित वसन्त की प्रशंसा करना।^३

प्रकृतिव्यत्यय—प्रकृति सात प्रकार की होती है—(१) दिव्या, (२) मानुषी, (३) दिव्यमानुषी, (४) पातालीया, (५) मर्त्यपातालीया, (६) दिव्यपातालीया (७) दिव्यमर्त्यपातालीया।^४

वीर, रौद्र, शृंगार और शान्तरस प्रधान काव्यों में क्रमशः धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक होते हैं, ये चारों उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। वहाँ रति, हास्य, शोक और अद्भुत मानुषोत्तम प्रकृति की तरह दिव्यादि प्रकृतियों में भी निबद्ध करना चाहिए, किन्तु संभोगशृंगार रूप उत्तम देवता विषयक रति का वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका वर्णन पिता के संभोगवर्णन की तरह अत्यन्त अनुचित है। कुमार-संभव में जो शंकर और पार्वती के संभोग का वर्णन किया गया है, वह कवित्व शक्ति के तिरस्कार से अधिक दोषों से युक्त प्रतिभासित नहीं होता है।^५ क्रोध भी भ्रुकुटि आदि विकार से रहित शीघ्र ही फल देने वाला निबन्धन करना चाहिए। यथा—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।

तावत् स बह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥^६

स्वर्ग-पाताल गमन, समुद्र लंघन आदि के उत्साह का वर्णन मनुष्यों से भिन्न दिव्यादि प्रकृतियों में वर्णन करना चाहिए। मनुष्यों में जितना पूर्व चरित्र प्रसिद्ध है, अथवा उचित है, उतना ही वर्णन करना चाहिए। इससे अधिक (जो मनुष्यादि में संभव न हो) वर्णन करने पर असत्यता की प्रतीति होती है और

१-३. काव्यानुशासन, पृ० १७०-१७२ । ४. वही, पृ० १७३-१७४ ।

५. वही, पृ० १७६-१७७ ।

६. वही, पृ० १७७ ।

‘नायक की तरह व्यवहार करना चाहिए, प्रतिनायक की तरह नहीं’ इस उपदेश में पर्यवसित नहीं होता है। इस प्रकार कही गई प्रकृतियों का अन्यथा रूपेण वर्णन प्रकृतिव्यत्यय है।^१

तथा तत्रभवन्, भगवन् इन सम्बोधनों का उत्तम नायक के द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए, अधम के द्वारा नहीं, वह भी मुनि आदि में, राजा आदि में नहीं। भट्टारक सम्बोधन का प्रयोग (उत्तम के द्वारा) राजा-आदि में नहीं करना चाहिए। परमेश्वर सम्बोधन का प्रयोग मुनि प्रभृति में नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से प्रकृतिव्यत्यय नामक दोष होता है। इसी प्रकार देश, काल और जाति आदि के वेष-व्यवहार आदि का समुचित रूप से ही गुम्फन करना चाहिए।^२

यद्यपि हेमचन्द्र ने उक्त ८ रसदोषों का उल्लेख किया है, जिनमें मम्मट-सम्मत रसादि की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूलविभावादि का ग्रहण—इन दो रसदोषों का कथन नहीं किया गया है, तथापि उनके अन्य उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उन्हें उक्त दो रसदोष भी मान्य थे, जिसके समर्थन में निम्न सूत्रा उल्लेखनीय हैं—

रसादेः स्वशब्दोक्तिः क्वचित्संचारिवर्जं दोषः।^३

अबाध्यत्वे आश्रयैक्ये नैरन्तर्येऽनंगत्वे च विभावादिप्रातिकूल्यम्।^४

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने ५ रसदोषों का उल्लेख किया है—(१) रसों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन, (२) अङ्गौघ्रय (अप्रधान रस का विस्तारपूर्वक विवेचन) (३) प्रधान रस की अपुष्टता (पुष्टि का अभाव), (४) प्रधान रस का आवश्यकता से अधिक विस्तार और (५) अंगी (प्रधान) रस को भुला देना।^५ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसदोष के प्रथम भेद ‘रसों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन’ के विभावादि की प्रतिकूलता आदि अनेक प्रकारों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है, पुनः अन्य चार भेदों के लक्षणोदाहरण। इस प्रसंग में उनका कहना है कि शेष अङ्गौघ्रय आदि ४ रसदोष यथार्थ में अनौचित्य के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु केवल सहृदयों को अनौचित्य के अनेक भेदों का ज्ञान कराने के लिए सोदाहरण प्रतिपादन किया

१. काव्यानुशासन, पृ० १७७-१७८।

२. वही, पृ० १७८-१७९।

३. वही, ३।१।

४. वही, ३।२।

५. दोषोऽनौचित्यमङ्गौघ्रयं अपोषोऽत्युक्तिरङ्गिभित्।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२३।

है ।^१ इसके साथ ही उन्होंने व्यभिचारिभाव, रस और स्थायिभाव को नामतः ग्रहण करने को दोष मानने वाले मम्मटादि के मत का खंडन करते हुए यह व्यवस्था दी है कि विभावादि की पुष्टि होने पर व्यभिचारिभावादि को नामतः ग्रहण करने पर भी दोष नहीं होता है ।^२ यहाँ यह उल्लेखनीय है कि—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।

इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥

इस पद्य में बेचैनी आदि अनुभाव शृङ्गार की तरह कृष्णादि में भी सम्भव हैं, अतः कामिनी रूप विभाव की प्रतीति यत्नपूर्वक होने से मम्मट ने विभाव की कष्टकल्पना रूप रसदोष माना है ।^३ किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र उक्त पद्य में वाक्य दोष मानते हैं । उनका कहना है कि दो रसों में समान रूप से होने वाले विभावादि वाचक पदों की किसी एक नियत रस में विभावादि की कष्ट पूर्वक प्रतीति संदिग्धता रूप वाक्यदोष है ।^४ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह कथन एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है ।

नरेन्द्रप्रभसूरि^५ और विजयवर्णी^६ ने मम्मट-सम्मत ही १० रसदोषों का उल्लेख किया है । यद्यपि अजितसेन ने रसदोषों का विशेष उल्लेख नहीं किया है तथापि उनकी ओर संकेत अवश्य किया है । उन्होंने रस और भाव का स्वशब्द से ग्रहण दोष माना है ।^७ इसी प्रकार अनुभाव की कष्टकल्पना अथवा प्रतिकूल अनुभाव आदि का ग्रहण करना भी दोष माना है ।^८ पद्मसुन्दरगणि ने निम्न ५

१. अङ्गीग्रयादयश्च दोषाः परमार्थतो अनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयाना-
मनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः ।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२८ ।

२. केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम् ।
व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ-‘दूरादुत्सुकमागते’” ।
इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम् ।

—वही, पृ० ३२८-३२९ ।

३. काव्यप्रकाश, पृ० ३६० ।

४. उभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधिगमोऽपि
संदिग्धत्वलक्षणे वाक्यदोष एव ।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२९ ।

५. अलंकारमहोदधि, ५।१८-२० ।

६. शृंगारारणवचन्द्रिका, १०।१७७-१८० ।

७. अलङ्कारचिन्तामणि, ५।२५७ ।

८. वही, ५।२६०-२६१ ।

रसदोषों का सलक्षण उल्लेख किया है—(१) प्रत्यनीक, (२) विरस, (३) दुस्संधान, (४) नीरस और (५) पात्रदुष्ट ।^१

उपर्युल्लिखित रसदोषों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निरूपित यह प्रकरण भी आचार्य मम्मट से पूर्ण प्रभावित है। हेमचन्द्र ने ८ रसदोषों का विवेचन किया है। शेष रसादि की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण रूप मम्मट-सम्मत दो अन्य रसदोषों को न मानने में कोई विशेष हेतु प्रस्तुत नहीं किया है। साथ ही उन्होंने अन्य प्रकार से उन दो दोषों को स्वीकार भी किया है, जिनका यथास्थान विवेचन किया जा चुका है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल ५ रसदोषों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी मूल मान्यता यही है कि रसदोषों के प्रथम भेद अनौचित्य में ही अन्य सभी रसदोषों का अन्तर्भाव हो जाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह मत निश्चय ही आनन्दवर्धन का प्रबल समर्थक है। क्योंकि आनन्दवर्धन भी—अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्' इत्यादि के द्वारा रसदोषों के मूल में अनौचित्य को ही स्वीकार करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि और विजयवर्णी मम्मट के उपजीव्य हैं। पद्मसुन्दरगणि का रसदोष विवेचन कोई विशेष नहीं है। अजितसेन ने रसादि की स्वशब्दवाच्यता और अनुभावादि की प्रतिकूलता रूप मात्र दो रसदोषों का उल्लेख किया है। शेष वाग्भट-प्रथम, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि आदि जैनाचार्यों ने रसदोषों का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि उन्हें रसदोष मान्य नहीं थे, उनके साथ अन्याय ही होगा।

इस प्रकार अब तक पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगतदोषों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार जैनाचार्यों ने सामान्यतः पूर्वाचार्यों को आधार मानकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों का खण्डन करते हुए अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा स्वमत का मण्डन भी किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया दोष विषयक यह प्रयास स्तुत्य है। अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

दोष-परिहार :

उपर्युक्त दोषों में से कुछ दोष वक्ता आदि के औचित्य से दोषाभाव रूप या गुण बन जाते हैं। इसी को दोष-परिहार कहा गया है। यदि विस्तृत विवेचन किया जाए तो इसका कलेवर उक्त दोष विवेचन के लगभग ही होगा। क्योंकि

१. द्रष्टव्य, अकबरसाहिष्णुंगारदर्पण, ४।९२-९७।

जितने दोषों की गणना की गई है, उनमें से अधिकतर के प्रत्युदाहरणों का भी हेमचन्द्रादि आचार्यों ने समावेश किया है। अतः यहाँ दोष-परिहार के सम्बन्ध में उनकी सामान्य मान्यताओं पर ही प्रकाश डालना उचित होगा।

आचार्य मम्मट ने दोष-परिहार विवेचन किया है, जिसमें उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता दोष नहीं होता है और अनुकरण में सभी श्रुतिकटु आदि दोषों की अदोषता संभव है। इसी प्रकार वक्ता आदि के औचित्य से दोष कहीं गुण हो जाते हैं तथा कहीं न दोष होते हैं और न गुण।^१

जैनाचार्यों ने प्रायः मम्मट को आधार मानकर अपना दोष-परिहार विवेचन किया है। इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि अनुकरण करने पर निरर्थक आदि शब्द-अर्थ दोष नहीं होते हैं।^२ इसी प्रकार वक्ता, प्रतिपाद्य विषय, व्यंग्य, वाच्य और प्रकरण आदि की विशेषता के कारण दोष कहीं-कहीं न गुण होते हैं और न दोष^३ तथा कहीं वक्ता आदि की विशेषता होने पर दोष गुण हो जाते हैं।^४

नरेन्द्रप्रभसूरि ने लिखा है कि वक्ता आदि के औचित्य से दोष कहीं-कहीं गुण भी हो जाते हैं।^५ उन्होंने उदाहरणों द्वारा असंस्कार, निरर्थक, भग्न-प्रक्रम, अक्रम, न्यूनता, संकीर्णता, गभितता, सन्धिकष्टता, पतत्प्रकर्षता, त्यक्त-प्रसिद्धि, पुनरुक्तपदन्यास, पदाधिक्य, ग्राम्यता, सन्दिग्धता, दुःश्रवता, अप्रतीत, अयोग्यादि, अप्रयुक्त और निहतार्थ, अश्लील, संवीत, विरुद्धमति और क्लिष्टता इन शब्ददोषों की गुणता^६; दुष्क्रम, पुनरुक्त, अश्लील और विमुक्तपुनरादृत इन अर्थदोषों की गुणता^७ तथा समाप्तिपुनरारब्ध, न्यूनता एवं दुःश्रवता इन अर्थ-दोषों की दोषाभावता^८ को प्रदर्शित किया है।

इसी प्रकार रसदोषों के परिहार प्रसंग में नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि विरुद्ध संचारिभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन, विरुद्ध रसोंका भिन्न आश्रय में वर्णन, मध्य में रस का समावेश, स्मृति रूप में वर्णन अथवा अंगांगिभाव रूप में वर्णन आदि होने पर रसदोषों का निराकरण हो जाता है।^९ इस विवेचन में मम्मट का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

१. काव्यप्रकाश, ७।५९।

२. काव्यानुशासन, ३।८ सवृत्ति।

३. काव्यानुशासन, ३।९ सवृत्ति।

४. वही, ३।१० सवृत्ति।

५. अलंकारमहोदधि, ५।१७।

६. द्रष्टव्य, वही, पृ० १६६-१७५।

७. वही, पृ० १७५-१७६।

८. वही, पृ० १७७।

९. वही, ५।२१-२३।

विजयवर्णी ने लिखा है कि—पद, वाक्य और अर्थदोष कहीं-कहीं गुण हो जाते हैं।^१ पुनः उन्होंने श्रुतिकटु, कष्ट, नेयार्थ, समर्थ, निरर्थक, दुष्टसंधि, अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, न्यूनपद, अधिकपद, पुनरुक्त, गर्भित, प्रत्यक्षविरुद्ध, प्रसिद्धिविरुद्ध और निहंतु दोषों के गुण हो जाने का सोदाहरण विवेचन किया है।^२ इस विवेचन में भी कोई विशेषता नहीं है।

अजितसेन ने भी कहीं-कहीं दोषों के गुण हो जाने का उल्लेख किया है, उन्होंने यमक, श्लेष और चित्र आदि काव्यों में तथा द्व्यक्षर आदि के निबन्धन होने पर क्लिष्ट, नेयार्थ, असमर्थ आदि दोषों को दोष नहीं माना है।^३ इसी प्रकार कामशास्त्र में लज्जा-अश्लील, वैराग्य में जुगुप्सा-अश्लील को तथा विस्मयादि में 'अहो' आदि पदों की पुनरावृत्ति को दोष नहीं माना है।^४

वाग्भट-द्वितीय ने दोष-परिहार का पृथक् विवेचन नहीं किया है, अपितु दोष-विवेचन के प्रसंग में जहाँ उन्होंने आवश्यक समझा, वहाँ विवेचन किया है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों में सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने दोष-परिहार का विवेचन किया है, जो एक स्थान पर न होकर यत्र-तत्र समाहित है। यह आचार्य मम्मट का अनुकरण मात्र है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी दोष-परिहार के प्रसङ्ग में मम्मट के ही मूल भावों को ग्रहण किया है, साथ ही उदाहरणों का भी प्रायः समान रूप से उल्लेख किया है। विजयवर्णी का दोष-परिहार विवेचन अपने ढंग का निराला है तथा उदाहरण स्वरचित हैं, किन्तु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि की अपेक्षा अपूर्ण है। अजितसेन और वाग्भट-द्वितीय का विवेचन सामान्य है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों का दोष-परिहार विवेचन परम्परा का निर्वाह मात्र होते हुए भी उनके अलंकारशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की पूर्णता को सिद्ध करता है।

गुण-विचार :

काव्यशास्त्र में गुण शब्द का विशेष महत्त्व है और यहाँ उसका एक विशिष्ट अर्थ है। गुणों की नित्यता और अनित्यता को लेकर प्रारम्भ में काफी मतभेद रहा है। उद्भट जैसे आचार्य गुण और अलंकार में प्रायः भेद नहीं

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।१४३।

२. वही, १०।१४४-१६६।

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।२६३।

४. द्रष्टव्य, वही, ५।२६४-२६६।

मानते हैं ।^१ जबकि उनके परवर्ती आचार्यों ने नित्यता और अनित्यता को लेकर गुण और अलंकारों में भेद प्रदर्शन किया है तथा निष्कर्ष स्वरूप गुणों की कसौटी नित्यता और अलंकारों की कसौटी परिवर्तनशीलता स्वीकार की है । आचार्य वामन ने स्पष्ट लिखा है कि—काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उनमें चमत्कार (अतिशय) पैदा करने वाले अलंकार हैं ।^२ अर्थात् काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है, उनके अभाव में काव्य नहीं रह सकेगा, किन्तु अलंकारों के अभाव में भी काव्य रह सकता है । अग्निपुराणकार ने ठीक ही लिखा है कि—सौन्दर्यादि ललित गुणों के अभाव में स्त्रियों के शरीर पर जिस प्रकार हार भार स्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अलंकारों से युक्त, गुणरहित काव्य प्रीतिवर्धक नहीं होता है ।^३

आनन्दवर्धन ने गुणों को रस का धर्म स्वीकार किया है^४ तथा मम्मट ने उद्भट और वामन से पृथक् गुणों को रस के स्थिर (अचल) धर्म माना है । अतः उन्होंने गुण का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—आत्मा के शौर्यादि धर्मों की तरह काव्य में जो प्रधान रस के उत्कर्षाधायक तथा अचल स्थिति वाले होते हैं वे गुण कहलाते हैं ।^५ ये हैं मम्मट और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की गुण-स्वरूप विषयक सामान्य मान्यताएँ । आगे जैनाचार्यों द्वारा गुण-स्वरूप के विषय में किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन किया जा रहा है ।

१. उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् ।

—अलंकारसर्वस्व, पृ० १९ ।

‘समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः ।

—काव्यप्रकाश, पृ० ३८४ ।

२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।

—काव्यालंकारसूत्र, ३।१।१-२ ।

३. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १०।१ ।

४. ध्वन्यालोक, २।६ ।

५. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

—काव्यप्रकाश, ८।६६ ।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने रस का उत्कर्ष करने वाले कारणों को गुण कहा है। ये गुण उपचार से शब्द और अर्थ के भी उत्कर्षाधिक होते हैं।^१ उपचार से बीभत्स आदि रसों में कष्टत्वादि दोष गुण न हो सकेंगे। इसी प्रकार हास्य आदि रसों में अश्लीलत्व आदि दोष गुण न हो सकेंगे, क्योंकि गुणों का आश्रय रस ही है।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि ने इस प्रसंग में लिखा है—जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के आश्रित रहते हैं, अकृत्रिम हैं, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के उत्पादक हैं, वे गुण कहलाते हैं।^३ इसी को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—जिस प्रकार प्राणी के शौर्य-स्थैर्य आदि गुण आत्मा के ही आश्रित रहते हैं (स्थूल अथवा कृशादि शरीर रूप) आकार में नहीं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस (रूप आत्मा) के ही आश्रित रहते हैं। ये गुण रस के ही घर्म हैं, वर्ण समूह के नहीं। यही अलंकारों से गुण का भेद है,^४ क्योंकि गुणों के अभाव में अलंकारों से युक्त रचना भी काव्य न हो सकेगी। कहा भी है—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरपि यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥^५

अर्थात् यदि यौवनशून्य स्त्री के शरीर की तरह गुणों से शून्य काव्यवाणी हो, तो निश्चय ही लोकप्रिय अलंकार भी धारण करने पर अच्छी नहीं लगती है।

विजयवर्णी, अजितसेन और वाग्भट-द्वितीय आदि ने गुण-स्वरूप पर विचार नहीं किया है। विजयवर्णी ने केवल गुणों की महत्ता प्रकट करते हुए लिखा है

१. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतु गुणदोषो भक्त्या शब्दार्थयोः ।

—काव्यानुशासन, ११२२ ।

२. यदि हि तयोः (शब्दार्थयोः) स्युस्तर्हि बीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुः,

हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः । रस एवाश्रयः ।

—वही, ११२२ वृत्ति ।

३. शौर्यादय इवात्मानं रसमेव श्रयन्ति ये ।

गुणास्ते सहजा काव्ये नित्यवैचित्र्यकारिणः ॥

—अलंकारमहोदधि, ६११ ।

४. वही, ६११ वृत्ति ।

५. वही, पृ० १८७ ।

कि—जिस प्रकार (शीलादि) गुणों से रहित रमणी संसार में सज्जनों द्वारा पूज्य नहीं होती है, उसी प्रकार निर्गुण काव्यप्रबन्ध भी महाकवियों द्वारा आदृत नहीं होता है ।^१

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक भरतादि आचार्यों ने गुणों का उल्लेख करने पर भी गुण-स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं किया है। काव्यनिष्ठ गुणों का प्रारम्भिक तथा व्यापक विवेचन आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में हुआ है और उस परम्परा को सुदृढ़ बनाने का श्रेय आचार्य वामन को प्राप्त है। आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में गुणों को काव्य का शोभाजनक और अलंकारों को शोभातिशय हेतु माना है। यह दृष्टि परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन और मम्मट को अभीष्ट नहीं है। आनन्दवर्धन का ही अनुसरण करते हुए मम्मट ने रस के उत्कर्षजनक तथा काव्य में स्थिर रूप से रहने वाले धर्मों को गुण माना है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र यहाँ मम्मट से प्रभावित ज्ञात होते हैं। मम्मट ने जो 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' और पुनः 'हतिरपकर्षः' कह कर दोष स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसी से प्रभावित होकर हेमचन्द्र ने अपकर्ष के विपरीत उत्कर्षाधायक तत्त्वों को गुण-स्वरूप का आधार मान लिया है। नरेन्द्रप्रभसूरि का गुण-स्वरूप यद्यपि आनन्दवर्धन और मम्मट के गुण-स्वरूप का मेल है तथापि यह बहुत सुन्दर बन पड़ा है। यदि यह कहा जाय कि गुण के लिए आवश्यक और पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत सभी उत्कृष्ट तत्त्वों को ग्रहण कर नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण-स्वरूप का निरूपण किया है तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि इनका प्रतिपादन अनूठा है। शेष अन्य परवर्ती जैनाचार्यों ने गुणों का विवेचन तो किया है, किन्तु गुण-स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुण को आत्मभूत रस के धर्म के रूप में ही इन सभी आचार्यों ने माना है और रस की मुख्यता मानने पर स्वभावतः शब्द और अर्थ में गुण की स्थिति औपचारिक ही सिद्ध होती है। इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र के विचार मम्मट के ही समान गम्भीर तथा प्रौढ़ हैं।

१. निर्गुणा रमणी लोके यथा सदिभर्न पूज्यते ।

निर्गुणः काव्यबन्धोऽपि तथा नाचर्यः कवीश्वरैः ॥

—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ५।२ ।

गुण-भेद :

भरत मुनि ने सर्वप्रथम दस गुणों का उल्लेख किया है—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) पदसौकुमार्य, (८) अर्थाभिव्यक्ति, (९) उदारता और (१०) कान्ति।^१ इन्हीं का अनुसरण करते हुए दण्डी^२ और वामन^३ ने भी दस गुणों का उल्लेख किया है, जिनके नाम भरत निर्दिष्ट ही हैं। इनके अतिरिक्त वामन ने १० अर्थगुणों का भी उल्लेख किया है, जिससे उनके मतानुसार गुणों की संख्या २० है। इन १० अर्थगुणों के नाम तो वही हैं, जो शब्दगुणों के हैं, किन्तु इनके स्वरूप में अन्तर है। इस प्रकार दण्डी को पूर्णरूपेण एवं वामन को आंशिक रूप में भरत का अनुयायी कहा जा सकता है। दूसरी परम्परा में वे आचार्य हैं, जिन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का उल्लेख किया है। इन तीन गुणों का सर्वप्रथम संकेत सम्भवतः भामह ने किया है,^४ किन्तु यह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह इतना संक्षिप्त है कि इससे भामह क्या कहना चाहते हैं, यह भी स्पष्ट नहीं होता है। आनन्दवर्धन ने तीन गुणों का विवेचन किया है,^५ जो स्पष्ट और युक्तिपूर्ण हैं। अतः तीन गुणों के विवेचन का सम्पूर्ण श्रेय आनन्दवर्धन को मिलता है। आचार्य मम्मट ने न केवल तीन गुणों का उल्लेख ही किया है, अपितु वामन-सम्मत शब्द और अर्थगुणों का खण्डन कर तीन गुणों में उक्त गुणों का समावेश भी किया है, जिसमें कहा गया है कि (वामनादि सम्मत १० गुणों में से) कुछ गुण दोषाभाव रूप हैं, कुछ दोषरूप हैं और शेष का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन गुणों में ही हो जाता है, अतः गुणों की संख्या तीन है, दस नहीं।^६ तीसरी परम्परा^७ में वे समस्त आचार्य आते हैं,

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमीजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥

—नाट्यशास्त्र, १७।९६ ।

२. काव्यादर्श, १।४१ ।

३. काव्यालंकारसूत्र ३।१।४ ।

४. काव्यालंकार-भामह, २।१-३ ।

५. ध्वन्यालोक, २।७-१० ।

६. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥

—काव्यप्रकाश, ८।७२ ।

७. डॉ० राजवंश सहाय हीरा ने गुण भेदक संस्कृत आचार्यों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है ।

—देखिए, भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ० ४९१-४९३ ।

जिन्होंने १० अथवा ३ से हीनाधिक गुणों का उल्लेख किया है। इनमें अग्नि-पुराणकार, भोज तथा हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा उल्लिखित अज्ञात आचार्य हैं। अग्निपुराणकार ने गुणों की संख्या १८ मानी है,^१ जो शब्द, अर्थ और उभयगुणों में विभाजित है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त उभय गुणों की अग्निपुराणकार की अपनी कल्पना है। भोज ने सामान्यतः गुणों की संख्या २४ मानी है^२ जिनमें उक्त भरत सम्मत १० गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, समितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढ़ि ये १४ गुण हैं। पुनः प्रत्येक को बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक में विभाजित कर भोज ने गुणों की कुल संख्या ७२ स्वीकार की है, जो अन्य आचार्यों की अपेक्षा सर्वाधिक है। हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित अज्ञातनामा आचार्य के अनुसार गुणों की संख्या ५ है—ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य।^३ इसी प्रकार जयदेव ने जिन अज्ञातनामा आचार्य का उल्लेख किया है, उनके अनुसार गुणों की संख्या छः है—न्यास, निर्वाह, प्रौढ़ि, औचिति, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह।^४

जैनाचार्यों में सर्वप्रथम वाग्भट-प्रथम ने दस गुणों का विवेचन किया है,^५ जो भरत मुनि सम्मत हैं। प्रत्येक का सोदाहरण स्वरूप निम्न प्रकार है।

औदार्य—अर्थ-सौन्दर्य के सूचक पदों के साथ वैसे ही अन्य पदों का मेल।^६ यथा—

गन्धेमविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्।

क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार॥^७

यहाँ इभ, कमल और गिरि शब्दों का क्रमशः गन्ध, लीला और क्रीड़ा शब्दों के साथ मेल होने से अर्थसौन्दर्य बढ़ जाता है, अतः औदार्य नामक गुण है।

समता और कान्ति—रचना की अविषमता (अनुकूलता) समता है और रचना की उज्ज्वलता कान्ति।^८ समता यथा—

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १०।५-६; १२।१८-१९।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण, १।६०-६५। ३. काव्यानुशासन, ४।१ विवेकवृत्ति।

४. चन्द्रालोक, ४।१२।

५-८. वाग्भटालंकार ३।२-४।

कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारा-

मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्ली ।

असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां

कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥^१

यहाँ कुच के साथ कलश और विसारि के साथ स्फार आदि अविषम पदों का प्रयोग होने से समता गुण है । कान्ति यथा—

फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-

दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुरा जन्मनि कृती ।

तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-

रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादार्चनमनसौ ॥^२

यहाँ विसंधि न होने तथा विसर्ग का लोप न होने से समास रहित रचना उज्ज्वलता की प्रतीक है, अतः कान्ति नामक गुण है ।

अर्थव्यक्ति—अन्य पदों के अध्याहार आदि के बिना ही अर्थ की अभिव्यक्ति । यथा—

त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्वा^३ ।

यहाँ सूर्यास्त होने पर रात्रि के आगमन रूप अर्थ की अभिव्यक्ति बिना प्रयास के ही होने से अर्थव्यक्ति नामक गुण है ।

प्रसन्नता—शीघ्र ही अर्थ का बोध होना । यथा—

‘कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ।’^४

यहाँ भगवान् जिनेन्द्रदेव कल्पवृक्ष की भाँति इच्छित वस्तु को प्रदान करने वाले सुशोभित होते हैं । इस अर्थ का बोध शीघ्र ही होने से प्रसन्नता नामक गुण है ।

समाधि—अन्य का गुण अन्यत्र स्थापित करना । यथा—

‘यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राज्ञः पल्लवितं यशः ।’^५

शत्रु की स्त्रियों के आँसुओं से राजा का यश पल्लवित हो गया । यहाँ वृक्षादि के (पल्लवन रूप) गुण का राजा के यश में सन्निवेश किया गया है, अतः समाधि गुण है ।

श्लेश और ओज—अनेक पदों का परस्पर गुम्फित होना श्लेष है और समास का बाहुल्य ओज । ओज गद्य निबन्धन में अति सुन्दर मालूम होता है ।^१
श्लेष यथा—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।
दरोद्गच्छद्भङ्गुरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥^२

यहाँ समस्त पद एक सूत्र में गूँथी गई मणियों के सदृश परस्पर गुम्फित हैं, अतः श्लेष गुण है । ओजो यथा—

समराजिरस्फुरदरिनरेशकरनिकरशिरः सरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकर-
तलो देव ।^३

यहाँ समास बाहुल्य होने से ओजोगुण है ।

माधुर्य और सौकुमार्य—सरस अर्थ के बोधक पदों का प्रयोग माधुर्य गुण है और कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग सौकुमार्य गुण ।^४ माधुर्य यथा—

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोलः
कुचकलशनिघानस्येव रक्षाधिकारी ।
उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः
किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥^५

यहाँ शृंगाररस के अनुकूल सरस अर्थ के बोधक पद होने से माधुर्य गुण है ।
सौकुमार्य यथा—

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव ! त्वदीयः करवाल एषः ।
नो चेदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥^६

यहाँ कोमल-कान्त-पदावली होने से सौकुमार्य गुण है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने केवल तीन गुणों का उल्लेख किया है—माधुर्य, ओज और प्रसाद ।^७ इन्होंने भरत और वामन आदि सम्मत दस गुणों का स्वोपज्ञ

१-२. वाग्भटालंकार, ३।११-१२ ।

४. वही, ३।१४ ।

६. वही, ३।१६ ।

३. वाग्भटालंकार, ३।१३ ।

५. वही, ३।१५ ।

७. काव्यानुशासन, ४।१ ।

विवेक टीका में विस्तार पूर्वक खण्डन किया है^१ तथा किन्हीं अज्ञातनामा आचार्य-सम्मत ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य नामक पाँच गुणों का भी खण्डन किया है।^२ इसी प्रकार जो कुछ लोग छन्द विशेष के आधार पर गुणों की शोभा मानते हैं, यथा—स्रग्धरादि छन्दों में ओजोगुण आदि,^३ इसका भी खण्डन किया है। हेमचन्द्र के अनुसार गुणों का विवेचन निम्न प्रकार है—

माधुर्य—यह (संभोग) शृंगार में द्रुति का हेतु है। शृंगार के अङ्गभूत हास्य और अद्भुत आदि रसों में भी माधुर्य गुण होता है। यह शान्त, करुण और विप्रलम्भशृंगार में अत्यन्त द्रुति का कारण होने से चमत्कारोत्पादक होता है। इसमें अपने वर्ग के अन्तिम (पञ्चम) वर्ण से युक्त, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ) रहित, ह्रस्व रकार और णकार से युक्त, समास रहित अथवा अल्प समास वाली और मृदु रचना माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती है।^४ यथा—

शिञ्जानमञ्जुमञ्जीराश्चारुकाञ्चनकाञ्चयः ।

कङ्कणाङ्कभुजा भान्ति जितानङ्ग तवाङ्गनाः ॥^५

प्रस्तुत रचना में अधिकतर वर्ग के पञ्चम वर्णों का प्रयोग किया गया है। अतः यह रचना माधुर्य-गुण की व्यञ्जक है, किन्तु इससे भिन्न टवर्गादि से युक्त रचना माधुर्यगुण की व्यञ्जक नहीं होती है। यथा—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।

कम्बुकण्ठयाः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥^६

१. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, ४।१। विवेक टीका ।

२. ओजः प्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पञ्चेत्यपरे । तथा हि—यददर्शित-विच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहतरङ्गिणि पाठे माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति । तदिदमलीकं कल्पनातन्त्रम् । यद्विषयविभागेन पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति ।

—वही, ४।१। टीका ।

३. छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसंपत्तिरिति केचित् । तथा हि । स्रग्धरादिष्वोजः ।

—वही, ४।१। विवेक टीका ।

४. वही, ४।२-४ ।

५. वही, पृ० २८९ ।

६. वही, पृ० २९० ।

यहाँ शृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्णों की समायोजना होने से माधुर्य गुण नहीं है। इसी प्रकार—

वाले मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां ।
किं त्वं पक्षमान्तवान्तैर्मलिनयसि मुधा वक्त्रमश्रुप्रवाहैः ॥
एषा प्रोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णवन्ध्योपलाभा ।
दावान्नेव्योस्मि लग्ना मलिनयति दिशां मण्डलं धूमलेखा ॥^१

यहाँ दीर्घ समास से युक्त, परुष वर्णों वाली रचना विप्रलम्भ शृङ्गार के विरुद्ध है।

ओजस्-चित्त की दीप्ति (विस्तार) में हेतु ओजोगुण कहलाता है। यह वीर की अपेक्षा बीभत्स और बीभत्स की अपेक्षा रौद्ररस में क्रमशः अधिक दीप्तिकारक होता है। वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों का क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के साथ योग, नीचे-ऊपर अथवा दोनों जगह किसी भी वर्ण के साथ रेफ का संयोग, समान वर्णों का संयोग, णकार रहित टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ), श, ष का संयोग और दीर्घ समास वाली कठोर रचना ओजोगुण की व्यञ्जक है।^२ यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा—
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सपिदर्पोद्दुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥^३

यहाँ उक्त प्रकार के वर्णों की संरचना और दीर्घ समास आदि के होने से ओजोगुण की अभिव्यक्ति हो रही है, किन्तु इससे विपरीत वर्णों वाली रचना ओजोगुण की व्यञ्जक नहीं होती है। यथा—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्लुदाः पूरिताः ।
अत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ॥
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरुण्यस्त्राणि भास्वन्ति नो ।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥^४

यहाँ उक्त प्रकार के वर्णों का अभाव है तथा समास-रहित अनुद्धत-रचना होने से ओजोगुण विरुद्ध है।

१. काव्यानुशासन, पृ० २९० ।

२. वही, ४।५ ।

३. वही, पृ० २९१ ।

४. वही, पृ० २९१ ।

प्रसाद—चित्त में सहसा व्याप्त होने वाला प्रसादगुण है, यह समस्त रसों में पाया जाता है। इसमें सुनने मात्र से अर्थ का ज्ञान कराने वाले वर्णों अथवा समास से युक्त रचना प्रसादगुण की व्यञ्जक होती है^१। यथा—

दातारो यदि कल्पशाखिभिरलं यद्यर्थिनः किं तृणैः,
सन्तश्चेदमृतेन किं यदि खलास्तत्कालकूटेन किम्।
किं कर्पूरशलाकया यदि दृशोः पन्थानमेति प्रिया,
संसारोऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम्॥^२

नरेन्द्रप्रभसूरि ने वामन-सम्मत दस शब्दगुणों^३ और दस अर्थगुणों^४ का खण्डन करके मम्मट और हेमचन्द्रादि सम्मत माधुर्यादि तीन गुणों की स्थापना

१. काव्यानुशासन, ४।७-८।

२. वही, पृ० २९२।

३. गाढबन्धत्वमोजः।—काव्यालंकारसूत्र ३।१।५।

शैथिल्यं प्रसादः।—वही, ३।१।६।

मसृणत्वं श्लेषः।—वही, ३।१।११।

मार्गाभिदः समता।—वही, ३।१।१२।

आरोहावरोहक्रमः समाधिः।—वही, ३।१।१३।

पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—वही, ३।१।२१।

अजरठत्वं सौकुमार्यम्।—वही, ३।१।२२।

विकटत्वमुदारता।—वही, ३।१।२३।

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः।—वही, ३।१।२४।

ओज्ज्वल्यं कान्तिः।—वही, ३।१।२५।

४. अर्थस्य प्रौढिरोजः।—वही, ३।२।२।

अर्थवैमल्यं प्रसादः।—वही, ३।२।३।

घटना श्लेषः।—वही, ३।२।४।

अवैषम्यं समता।—वही, ३।२।५।

अर्थदृष्टिः समाधिः।—वही, ३।२।७।

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।—वही, ३।२।११।

अपारुध्यं सौकुमार्यम्।—वही, ३।२।१२।

अग्राम्यत्वमुदारता।—वही, ३।२।१३।

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।—वही, ३।२।१४।

दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वही, ३।२।१५।

की है'। उनका कहना है कि वामन ने जो समासरहित पदों वाली रचना को माधुर्य गुण कहा है, वह 'अस्त्युत्तरस्याम्' इत्यादि पद्य में विद्यमान है, पुनः उसे अर्थश्लेष का उदाहरण प्रस्तुत कर अर्थश्लेष को अलग से गुण मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार रचना की अंकठोरता रूप शब्दसौकुमार्य, कोमलकान्त-पदावली रूप अर्थसौकुमार्य, अर्थ का दर्शन रूप अर्थसमाधि और घटना का श्लेष रूप अर्थ-श्लेष नामक जो गुण हैं, इनका हमें जो माधुर्य गुण का स्वरूप अभीष्ट है, उसमें अन्तर्भाव हो जाता है।^२ अतः उक्त गुणों को पृथक्-पृथक् मानना ठीक नहीं है।

रचना की गाढ़ता ओज नामक शब्दगुण, अर्थ की प्रौढ़ि ओज नामक अर्थ-गुण, अनेक पदों का एक पद के समान दिखाई देना शब्दश्लेष, आरोह और अवरोह का क्रम शब्दसमाधि, बन्ध की विकटता उदारता नामक शब्दगुण, बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति नामक शब्दगुण और रचना में रसों की दीप्ति कान्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। (इन गुणों के मूल में चित्त के विस्तार रूप दीप्ति विद्यमान है, जो ओजोगुण का स्वरूप है अतः) इनका अन्तर्भाव ओजोगुण में हो जायेगा।^३

ओजोगुण मिश्रित रचना की शिथिलता प्रसाद नामक शब्दगुण, अर्थ स्पष्टता रूप प्रसाद नामक अर्थगुण, शीघ्र ही अर्थ का बोध कराने वाली रचना अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण और जो रचना वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट रूप से विवेचन करायें वह अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। इनका अन्तर्भाव हमें अभीष्ट (शीघ्र ही अर्थ प्रकाशन रूप) लक्षण वाले प्रसादगुण में हो जाता है।^४

काव्य में निबद्ध रचना शैली का अन्त तक परित्याग न करना समता नामक शब्दगुण, प्रक्रम का अभेद रूप अविषमता नामक अर्थगुण और रचना में ग्राम्यता का अभाव उदारता नामक अर्थगुण कहलाता है। समता और उदारता ये दोनों क्रमशः भग्नप्रक्रम और ग्राम्यदोष का अभाव मात्र हैं।^५ इस प्रकार वामन ने जो दस शब्दगुण और दस अर्थगुण माने हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनका माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः नरेन्द्रप्रमसूरि ने स्वसम्मत माधुर्यादि तीन गुणों का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है, इन्होंने जहाँ प्रत्येक गुण का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वहीं हेमचन्द्र की तरह उसका प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही रसों में गुणों की तरतमता तथा गुणों

१. गुणांश्चान्ये जगुः शब्दगतान् दश दशार्थगान् ।

माधुर्योजः प्रसादास्तु सम्मतास्त्रय एव नः ॥—अलंकारमहोदधि, ६।३ ।

२-५. वही, ६।४-१४ ।

के व्यञ्जक वर्ण-विशेषों का भी निर्देश किया है।^१ इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण विषयक सभी अङ्गों पर सूक्ष्म रीति से विचार किया है।

विजयवर्णी ने सुकुमारत्व आदि भरत-सम्मत दस गुणों का उल्लेख किया है।^२ पुनः प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया है।^३ अजितसेन ने भोज-समस्त २४ काव्यगुणों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्लेष, (२) भाविक, (३) सम्मितत्व, (४) समता, (५) गाम्भीर्य, (६) रीति, (७) उक्ति, (८) माधुर्य, (९) सुकुमारता, (१०) गति, (११) समाधि, (१२) कान्ति, (१३) और्जित्य, (१४) अर्थव्यक्ति, (१५) उदारता, (१६) प्रसदन, (१७) सौक्ष्म्य, (१८) ओज, (१९) विस्तार, (२०) सूक्ति, (२१) प्रौढ़ि, (२२) उदात्तता, (२३) प्रेयान् और (२४) संक्षेपक है।^४ इनमें दस गुण तो भरत-सम्मत ही हैं, शेष १४ गुणों के लक्षणोदाहरण निम्न प्रकार है

भाविक—वाक्य का भाव (श्रद्धा) से युक्त होना। यथा—

तात नाथ रथाङ्गेश विनीतानगरीपते।

लवणाम्बुधिमेतं त्वं पश्य पश्य महामते ॥^५

यहाँ प्रीतिवशात् तात और नाथ आदि की आवृत्ति होने से भाविक गुण है। सम्मितत्व—जिसमें जितने पद हों, उसमें उतने ही अर्थों का होना। यथा—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवत्रये।

तावन्ति सततं भक्त्या त्रिः परीत्य नमाम्यहम् ॥^६

इस गुण की कल्पना न्यूनाधिक पदों की निवृत्ति हेतु की गई है।

गाम्भीर्य—व्यंग्यार्थ से युक्त होना। यथा—

चन्द्रस्य निष्फलस्याब्धेर्गाढस्य कुलभूभृताम्।

नीचैः किं करणेनेति सृष्टश्चक्री विरञ्चिता ॥^७

यहाँ मुख्यार्थ से पृथक् प्रतीयमान व्यंग्यध्वनि है।

रीति—प्रारब्ध का निर्वाह। यथा—

समस्तदुःपटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे।

जिनेन्द्रांशुमते तन्वत्प्रभाभाभारभासिने ॥^८

इस गुण की कल्पना पतत्प्रकर्षदोष के परिहार हेतु की गई है।

१. अलंकारमहोदधि, ६।१५-२८।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ५।४।

३. वही, ५।६-३०।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५।२६९।

५. वही, ५।२७३।

६. वही, ५।२७४।

७. वही, ५।२७८।

८. वही, ५।२७९।

१९८

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

उक्ति—विदग्धों की कथन शैली । यथा—

राज्ञस्ते कमलासक्तिश्चित्तवृत्तेः समोक्षिता ।

भास्वकाऽपि त्वया चारुकुमुदाभासनं कृतम् ॥^१

इसकी कल्पना अश्लील दोष के परिहारार्थ की गई है ।

गति—जहाँ स्वर के आरोह (चढ़ाव) और अवरोह (उतार) दोनों सुन्दर हों । यथा—

सारा वाणी पुरुजिनपतेर्नाकिनाथाभिपूज्या

हीना दोषैरुत्थययुता मोक्षमार्गविभासा ।

चंचच्छर्मप्रकटनमयप्रस्फुरच्छुद्धमुक्तिं

तत्त्वज्ञप्तिं नयतु सकलं भव्यवृन्दं विगर्वम् ॥^२

यहाँ पूर्वार्ध में दीर्घाक्षरों का प्राचुर्य होने से स्वर का आरोह है और उत्तरार्ध में ह्रस्वाक्षर होने से स्वर का अवरोह है, अतः गतिनामक गुण है ।

और्जित्य—रचना की गाढ़ बन्धता । यथा—

वन्दारवृन्दपरिघट्टविलोलिताक्ष वृन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णैः ।

मन्दारपुष्पनिवहैर्विहितोपहारं वन्दामहे जिनपतेः पदपद्मयुग्मम् ॥^३

इस गुण की कल्पना विसन्धि की निवृत्ति हेतु की गई है ।

सौक्ष्म्य—शब्दों का अन्दर ही अन्दर वार्तालाप सा होना । अर्थात् एक अर्थ का ज्ञान होने के बाद भी दूसरे गूढार्थ की प्रतीति होना । यथा—

णूश्रीवपूज्जन्मः कर्मण्यत्र वृत्ता न कर्तरि ।

जिने णिज्ञाभिदः कर्तर्येव कर्मणि नो मताः ॥^४

व्याकरण के नियमानुसार णू (स्तवने), श्रीव् (श्रयणे), पूज् (पूजायाम्) और नम् (स्तवने) धातुएं कर्मवाच्य का ज्ञान कराने के लिए प्रत्ययों का ग्रहण करती हैं, कर्तृवाच्य में नहीं । इसी प्रकार णि (प्रापणे), ज्ञा (अवगमने) और भिद् (विदारणे)—ये धातुएं कर्तृवाच्य में ज्ञान कराने हेतु प्रत्ययों को ग्रहण करती हैं, कर्मवाच्य में नहीं ।

भगवान् जिनेन्द्रदेव स्तवन करने योग्य हैं आश्रय ग्रहण करने योग्य हैं, पूजा करने योग्य हैं, नमस्कार करने योग्य हैं, अर्थात् उनका स्तवन करना चाहिए,

१. अलङ्कारचिन्तामणि, ५।२८१ ।

२. वही, ५।२८७ ।

३. वही, ५।२९१ ।

४. वही, ५।३०० ।

आश्रय ग्रहण करना चाहिए, पूजा करनी चाहिए और नमस्कार करना चाहिए । इस प्रकार नहीं कि वे दूसरे का स्तवन करते हैं, आश्रय ग्रहण करते हैं, पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं । वे तत्त्वों का उपदेश देते हैं, सब कुछ जानते हैं और कर्मरूपी पर्वत का भेदन करते हैं । यहाँ इस गूढ़ अर्थान्तर का ज्ञान कराने से सौक्ष्म्य गुण है ।

विस्तार—कहे गये अर्थ के समर्थन हेतु विस्तार से विवेचना करना ।
यथा—

अभिषेक्तुं पुरं दृष्टुमिन्द्र एकः क्षमो जिनम् ।

यद्बाहवः सहस्रं यन्नेत्राण्यपि महोत्सवे ॥^१

सूक्ति—सुप् और तिङ् प्रत्ययों का उत्तम ज्ञान सुशब्दता अथवा सूक्ति है । यथा—

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि ।

यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥^२

यहाँ कवि, गमक, वादि और वाग्मी में कवि ने कुशलता के साथ आम् (सुप्) प्रत्यय तथा चूडामणि में त (तिङ्) प्रत्यय का प्रयोग किया है, अतः यहाँ सूक्ति (सुशब्दता) नामक गुण है । इसकी कल्पना च्युतसंस्कार नामक दोष के परिहारार्थ की गई है ।

प्रौढ़ि—स्वकथन का परिपाक । यथा—

कल्पद्रोर्विभवो विधेः कुशलता भानोः सुतेजोगणो

हेमाद्रेः प्रतिबिम्बनं गुणगणः स्वायम्भुवोक्तेः स्फुटः ।

गाम्भीर्यं जलधेर्विधोर्विलसनं चिन्तामणेदित्सनं

जैनश्रीकरुणागणः शमरसश्चेत्येष त्वर्यो निधीट् ॥^१

उदात्तता—जहाँ प्रशंसनीय विशेषणों से युक्त पदों का प्रयोग किया गया हो । यथा—

पठद्बन्दिकुलाकीर्णं चलाच्चमरसंचयम् ।

विनमद्भूपसंघट्टं निधीशास्थानमाबभौ ॥^४

इस गुण की कल्पना अनुचितार्थता नामक दोष के परिहारार्थ की गई है ।

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।३०२

२. वही, ५।३०४

३. वही, ५।३०६

४. वही, ५।३०८

प्रेयान्—जहाँ चाटूक्तिपूर्ण वचनों से प्रियतर वस्तु का कथन किया गया हो । यथा—

कारुण्यं त्वयि धीरता त्वयि शमस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
प्रागल्भ्यं त्वयि धीरता त्वयि महैश्वर्यं त्वयि प्राभवम् ।
गाम्भीर्यं त्वयि सत्कला त्वयि यशस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
क्षेमं श्रीस्त्वयि चक्रभृद्भुवमिमां रारक्ष्यतां ब्रह्मवत् ॥^१

इस गुण की कल्पना पारुष्य दोष के परिहारार्थ की गई है ।

संक्षेपक—जहाँ पर किसी भी कथन को संक्षेप में कहा गया हो । यथा—

कुरुवंशोद्भवाज्जाता बहवो भूमिपाः पुरा ।
तेषां सौभाग्यसंदर्शी ज्ञानचन्द्रो विभात्ययम् ॥^२

उपर्युक्त गुणों का स्वरूप-निरूपण भोज (सरस्वतीकण्ठाभरण) से पूर्ण प्रभावित है अथवा यह कहा जाए कि भोज के भावों को अजितसेन ने अपनी शब्दावली में प्रस्तुत किया है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । इस प्रकार अजितसेन भोज के ऋणी हैं । इन्होंने गुणानुरूप उदाहरणों को प्रस्तुत करने में अवश्य अथक परिश्रम किया है, इनमें सन्देह नहीं ।

वाग्भट-द्वितीय ने सर्वप्रथम भरत-सम्मत दस काव्यगुणों के नामोल्लेख पूर्वक लक्षण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु इन्होंने स्वयं केवल माधुर्यादि तीन गुणों को ही स्वीकार किया है तथा शेष का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में माना है ।^३ भावदेवसूरि ने गुण-वर्णन प्रसंग में पहले भरतादि-सम्मत श्लेष, प्रसाद आदि १० गुणों का नामोल्लेख किया है, पुनः प्रत्येक का लक्षण और संक्षेप में उदाहरण भी प्रस्तुत किया है ।^४ इसी क्रम में माधुर्यादि तीन गुणों का भी 'परैः' पद से उल्लेख किया है ।^५ यहाँ 'परैः' पद अन्य मत का द्योतक है, अतः इनके अनुसार १० गुण ही मानना चाहिए । इस प्रसंग में भावदेवसूरि ने शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, युक्ति, कार्य और प्रसिद्धि—इन आठ काव्य-चिह्नों (काव्य-

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।३१० ।

२. वही, ५।३११ ।

३. दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्यगुणाः । वयं तु माधुर्यौजः प्रसादलक्षणां-
स्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे । शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, अलंकारतिलकटीका, पृ० ३९ ।

४. काव्यालंकारसारसंग्रह-भावदेवसूरि, ४।२-७ ।

५. वही, ४।८ ।

लक्षणों) का भी उल्लेख किया है,^१ जिनके लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार हैं^२—

शोभा—दोष का निषेध । यथा—

जहाँ तुम हो वहाँ कलियुग भी शुभ है ।

अभिमान—वस्तु विषयक ऊहापोह । यथा—

यदि वह चन्द्रमा है तो उष्णता कैसे ?

प्रतिषेध—निषेध । यथा—

तुमने युद्ध से नहीं, भौंह (टेढ़ी भौंह) से ही शत्रुओं को जीत लिया ।

निरुक्त—निर्वचन । यथा—

उन दोनों को मैं इस प्रकार से समझता हूँ, किन्तु आप दोषाकर (दोषों के समुद्र या चन्द्रमा) हैं ।

युक्ति—विशिष्टता । यथा—

तुम नवीन जलद हो, जो सोने की वर्षा करते हो ।

कार्य—फलकथन । यथा—

रात्रि रूपी स्त्री से विशिष्ट यह चन्द्रमा (आप दोनों के) अच्छेद (संयोग) के लिए उदित हो रहा है ।

प्रसिद्धि—प्रसिद्ध वस्तुओं में तुल्यता का कथन । यथा—

समुद्र जल से महान् है और आप बल से महान् हैं ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इनके पूर्ववर्ती आचार्य पीयूषवर्ष जयदेव ने भी दस काव्यचिह्नों का उल्लेख किया है, जिनमें से आठ तो उक्त भावदेवसूरि उल्लिखित ही हैं, शेष दो के नाम हैं—अक्षरसंहति और मिथ्याध्यवसाय ।^३

अक्षरसंहति—थोड़े शब्दों से अधिक चमत्कारी अर्थ की प्रतीति । यथा—

उषा के पति (अनिरुद्ध) से अनुगत यह शूर (यादव अथवा वीर) श्रीकृष्ण ही हैं ।^४

मिथ्याध्यवसाय—कार्य और कारण की मिथ्याकल्पना करके कार्य-सिद्धि का वर्णन । यथा—

चन्द्रमा के किरण-रूपी सूत्र (धागे) में गुंथी हुई आकाश-पुष्पों की माला को आप धारण करें ।^५

१. काव्यालंकारसारसंग्रह—भावदेवसूरि, ४।९ । २. वही, ४।१०-१३ ।

३. चन्द्रालोक, ३।१-१० ।

४. वही, ३।१ ।

५. वही, ३।७ ।

उपर्युल्लिखित विवेचन से स्पष्ट है कि सभी जैनाचार्यों ने पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत किसी एक धारा को ग्रहण कर उसका अन्त तक निर्वाह किया है और शेष का संयुक्त खण्डन किया है। वाग्भट-प्रथम, विजयवर्णी और भावदेव-सूरि—ये तीन जैनाचार्य भरत और वामन आदि के अनुयायी हैं, क्योंकि इन्होंने दस गुणों का समर्थन किया है। हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि और वाग्भट-द्वितीय—ये तीन जैनाचार्य आनन्दवर्धन और मम्मटादि के समर्थक हैं, इन्होंने माधुर्यादि तीन गुणों को ही स्वीकार किया है तथा शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है। अजितसेन २४ गुणों के समर्थक है, अतः ये आचार्य भोज के अनुयायी हैं। हेमचन्द्राचार्य ने परमत-खण्डन हेतु पूर्वपक्ष के रूप में स्वोपज्ञ विवेक टीका में किन्हीं अज्ञातनामा आचार्य द्वारा समर्थित पाँच काव्यगुणों का उल्लेख किया है, जिसका निर्देश किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया है, अतः उल्लेखनीय है। भावदेवसूरि ने काव्यगुणों के अतिरिक्त काव्यचिह्नों पर भी प्रकाश डाला है, जो अन्य जैनाचार्यों की अपेक्षा विशिष्ट है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्य रूप से जैनचार्यों द्वारा किया गया काव्य-गुण विवेचन शास्त्रीय परम्परा का सर्वथा अनुगामी है। सभी आलंकारिकों ने अलंकारशास्त्र की परम्परा का अक्षुण्णरूप से निर्वाह करते हुए अपनी विशिष्ट शैली में गुण-स्वरूप, गुणालंकार-विवेक आदि सभी विषयों पर विवेचन प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र के द्वारा अतिरिक्त पाँच गुणों का उल्लेखपूर्वक खण्डन साहित्यक्षेत्र में उनके व्यापक अध्ययन का परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार विजयवर्णी के द्वारा प्रस्तुत स्वरचित उदाहरण संस्कृत अलंकारशास्त्र की बहुस्वीकृत पद्धति का ही अनुसरण है। अजितसेन का प्रयास भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने विशेषतया जैन-काव्यों से उदाहरण चुने हैं। परम्परा के निर्वाह के साथ नवीन दृष्टिकोण का दर्शन इन सभी ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है।



अलंकार : स्वरूप और महत्त्व

भरत-मुनि ने अलंकारशास्त्र सम्बन्धी प्रत्येक विषय का विवेचन किया है। अलंकारों के प्रसङ्ग में उन्होंने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है— उपमा, रूपक, दीपक और यमक।^१ जैसे-जैसे अलंकारशास्त्र का विकास होता गया, अलंकार विषयक मान्यताएँ दृढ़ होती गईं तथा अलंकारों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। भरत-मुनि ने अलंकार का कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों की दृष्टि काव्यगत अलंकारों के लक्षण पर केन्द्रित हुई और उन्होंने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कीं।

कुछ लोग अलंकार शब्द की “अलंकरोति इति अलंकारः” इस व्युत्पत्ति के आधार पर काव्य में शोभावर्द्धक तत्त्वों को अलंकार कहते हैं। कुछ लोग “अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः” इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके द्वारा काव्य अलंकृत किया जाये उसे अलंकार कहते हैं। अर्थात् प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य के स्वाभाविक धर्म हैं, जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार साधन मात्र हैं, स्वाभाविक धर्म नहीं। अतः जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि लौकिक अलंकार कामिनी के शरीर को सुशोभित करते हैं, उसी प्रकार यमकोपमादि अलंकार काव्य-शरीर को सुशोभित करते हैं।

कालान्तर में अलंकारशास्त्र कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय प्रमुख हैं। ये सम्प्रदाय अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रस इनमें से किसी एक को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। अलंकार-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भामह थे। इसीलिये इनकी अलंकारवादी आचार्यों में गणना की जाती है। आचार्य भामह ने अलंकार को इतनी महत्ता प्रदान की कि सम्पूर्ण काव्यशास्त्र ही अलंकारशास्त्र इस संज्ञा से अभिहित होने लगा, किन्तु अलंकारों का महत्त्व विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में विभिन्न प्रकार से निरूपित हुआ। आचार्य भामह के समय तक अलंकार शब्द

१. नाट्यशास्त्र, १७।४३।

का अर्थ व्यापक होकर काव्य सौन्दर्य के समस्त तत्त्वों का बोधक हो चुका था। दण्डी ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सभी धर्मों को अलंकार कहा है।^१ इसी प्रकार वामन ने काव्य में सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों को अलंकार स्वीकार किया है।^२ इतना ही नहीं दण्डी ने अलंकारों का विवेचन करने के पश्चात् स्पष्ट लिखा है कि दूसरे ग्रन्थों में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्यङ्ग तथा उनके लक्षणों आदि का वर्णन किया है, उन्हें हम अलंकारों के अन्तर्गत ही मानते हैं।^३ अलंकारों की इससे विस्तृत व्याख्या और क्या हो सकती है? लेकिन दण्डी की इस विस्तृत व्याख्या की मान्यता धीरे-धीरे घटने लगी और आनन्दवर्धन ने अलंकारों को कटकादि आभूषणों की तरह अङ्गों (शब्द और अर्थ) के आश्रित स्वीकार किया है।^४ इस प्रसंग में अलंकारदम्पणकार का कहना है कि अत्यन्त सुन्दर होने पर भी अलंकाररहित काव्य जनसमूह में पढ़ने पर उसी प्रकार सुशोभित नहीं होता, जिस प्रकार अलंकार विहीन अत्यन्त सुन्दर स्त्री का मुख विमल होने पर भी सुशोभित नहीं होता है।^५ इसी प्रकार मम्मट ने रमणी के हार आदि आभूषणों की तरह काव्य में शब्द और अर्थ का अङ्गरूपेण कभी-कभी उपकार करने वाले क्रमशः अनुप्रास (शब्दालंकार) और उपमा (अर्थालंकार) आदि को अलंकार स्वीकार किया है।^६

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने लिखा है कि जिस प्रकार अलंकारों के अभाव में स्त्री का रूप सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकारों से रहित काव्य भी सुशोभित नहीं होता है।^७ हेमचन्द्र ने काव्य में अङ्गों (शब्द और अर्थ) के आश्रित रहने वालों को अलंकार स्वीकार किया है।^८ नरेन्द्रप्रभसूरी शौर्यादि की तरह आत्मा के आश्रित रहने वाले गुणों से विपरीत हारादि अलंकारों की तरह आहार्य (ग्रहण करने और त्यागने योग्य) अनुप्रास और उपमादि को अलंकार

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते । —काव्यादर्श, २।१ ।

२. काव्यालंकारसूत्र, १।१।२-३ ।

३. काव्यादर्श, २।३६७ ।

४. ध्वन्यालोक, २।६ ।

५. अचंचत् सुन्दरं पि ह्यनिरलंकारं जणम्मि कीरंतं ।

कामिणि मुहं व कव्वं होइ पसणं पि विच्छाअं ॥— अलंकारदम्पण, ३ ।

६. काव्यप्रकाश, ८।६७ ।

७. स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् । —वाग्भटालंकार, ४।१ ।

८. अङ्गाश्रिता अलंकारा ।

—काव्यानुशासन, १।१३ ।

मानते हैं।^१ विजयवर्णी ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि जैसे संसार में अलंकारविहीन स्त्री का रूप सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकार से रहित काव्य भी सुशोभित नहीं होता है। उनके अनुसार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले तथा काव्य में चास्त्व के हेतु चित्रोपमादि अलंकार कहलाते हैं।^२ इसी प्रसङ्ग में अजितसेन ने लिखा है कि जिस प्रकार चास्त्व के हेतुभूत हार, करधनी आदि से अङ्ग सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले तत्त्व अलंकार हैं।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्डी काव्य में शोभावर्धक तत्त्वों को अलंकार मानते हैं और वामन सौन्दर्यमात्र को। किन्तु कालान्तर में आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने रमणी के कटक-कुण्डलादि आभूषणों की तरह अनुप्रासादि शब्दालंकारों और उपमादि अर्थालंकारों को क्रमशः शब्द और अर्थ के आश्रित काव्य का शोभाधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जिसे पश्चाद्वर्ती जैनाचार्य अलंकार-दण्णकार और मम्मट ने प्रतिष्ठा प्रदान की है। जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी और अजितसेन आदि अलंकार और उसके महत्त्व के प्रसङ्ग में अपने पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन और मम्मट के पूर्णतः श्रुणी हैं। अलंकारों के भेद :

आचार्य भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है और भामह ने अड़तीस। किन्तु उक्त दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार जैसा कोई उल्लेखनीय भेद नहीं किया है। जबकि परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को मापदण्ड मानकर शब्दों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को

१. श्रयन्तोऽपि रसं सन्तं जातु तेभ्यो विपर्ययम् ।

ये तु विभ्रत्यलंकास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ —अलंकारमहोदधि, ६।२।

२. स्त्रीरूपं निरलंकारं न विभाति यथा भुवि ।

तथा काव्यं॥

काव्याङ्गभूतो शब्दार्थौ श्रिताश्चित्रोपमादयः ।

अलंकाराः प्रकीर्त्यन्ते काव्यचास्त्वहेतवः ॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ९।१-२।

३. चास्त्वहेतुना येन वस्त्वलंक्रियतेऽङ्गवत् ।

हारकाञ्च्यादिभिः प्रोक्तः सोऽलंकारः कवीशिभिः ॥

—अलंकारचिन्तामणि, ४।१।

शब्दालंकार और अर्थों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को अर्थालंकार माना है। कुछ आचार्यों ने उक्त दो के अतिरिक्त शब्द और अर्थ पर समान रूप से आश्रित रहने वाले अलंकारों को उभयालंकार कहा है। आचार्य मम्मट ने अलंकारों के विभाजन का मापदण्ड अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार किया है।^१ जिसके विद्यमान रहने पर जो विद्यमान रहे वह अन्वय और जिसके विद्यमान न रहने पर जो विद्यमान न रहे वह व्यतिरेक कहलाता है। अर्थात् जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने पर अलंकारत्व नष्ट हो जाये वहाँ शब्दालंकार और जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने पर तदर्थक शब्दनिवेश से अलंकारत्व नष्ट न हो वहाँ अर्थालंकार होता है। इसी मान्यता को शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व और शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व कहा जाता है।

आचार्य भरत और भामह के अलंकारों पर परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत विभाजन-रेखा को मान लिया जाए तो भरतसम्मत चार अलंकारों में से यमक और भामह सम्मत ६८ अलंकारों में से अनुप्रास और यमक शब्दालंकार की कोटि में आते हैं, जिसका विस्तृत विवेचन अलंकार-वर्गीकरण के प्रसंग में किया जायेगा।

शब्दालंकार :

जहाँ शब्दगत चमत्कार पाया जाए वह शब्दालंकार है। शब्दालंकार में शब्दों की विशेष महत्ता होती है। शब्दों का परिवर्तन होने पर काव्यगत सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। अतः इसमें शब्द परिवर्तन सम्भव नहीं है। सम्प्रति विभिन्न आलंकारिकों की शब्दालंकार विषयक मान्यताओं का आकलन किया जा रहा है।

आचार्य भरत का 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'^२ यह कथन यमक के शब्दालंकार की पुष्टि करता है। आचार्य भामह ने केवल दो शब्दालंकारों का उल्लेख किया है—अनुप्रास और यमक। दण्डी ने यमक और चित्रालंकार का 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में निबन्धन कर इन्हें निश्चित ही अन्य उपमा-रूपकादि अलंकारों से पृथक् (शब्दालंकार) स्वीकार किया है। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार कहा है।^३

जैनाचार्य अलंकारदप्पणकार, भरत-भामह आदि पूर्वाचार्यों की तरह

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४२३।

२. नाट्यशास्त्र, १७।६२।

३. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।

शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ —काव्यालंकार २।१३।

शब्दालंकार और अर्थालंकार जैसे विभाजन के विषय में मौन हैं, किन्तु उन्होंने अनुप्रास और यमक का उल्लेख किया है,^१ जो शब्दालंकार की कोटि में आते हैं ।

आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार स्वीकार किया है ।^२ पुनरुक्तवदाभास उनके मत में उभयालंकार है ।^३

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है ।^४ उन्होंने चित्र के एकस्वरचित्र आदि अनेक भेद प्रस्तुत किए हैं ।^५ वक्रोक्ति के केवल दो ही भेद किए हैं—सभंगश्लेष-वक्रोक्ति और अभंगश्लेषवक्रोक्ति ।^६ उन्होंने मम्मट-सम्मत काकु-वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है । इन्हें अनुप्रास के दो भेद मान्य हैं—छेकानुप्रास और लाटानुप्रास^७ तथा यमक के २४ भेद, जिनका सोदाहरण विवेचन किया है ।^८

आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट-प्रथम सम्मत उक्त चार शब्दालंकारों के अतिरिक्त श्लेष और पुनरुक्ताभास—इन दो अलंकारों को भी शब्दालंकारों की कोटि में स्थान दिया है । उन्होंने अनुप्रास का सामान्य विवेचन किया है, जिसमें व्यञ्जनों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा है ।^९ यमक के सम्बन्ध में हेमचन्द्र की धारणा पूर्वाचार्यों के समान है, किन्तु उन्होंने यमक के जिन पादज १५ भेदों का उल्लेख किया है,^{१०} वे महत्त्वपूर्ण हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने पाद को दो भाग में बांट देने पर २८ भेद,^{११} तीन भागों में बांट देने पर ४२ भेद, चार भागों में बांट

१. अलंकारद्वय, गाथा, ५, ९ । २. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास ।

३. वही, पृ० ४३९ ।

४. चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रिया । —वाग्भटालंकार ४।२ ।

५. वही, ४।९-१३ ।

६. वही, ४।१५-१६ ।

७. वही, ४।१७ ।

८. वही, ४।२३-४६ ।

९. व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः ।

—काव्यानुशासन, ५।१ ।

१०. यमकं पादे तस्य च भागे भवति । तत्र पादजं पञ्चदशधा । तथा हि—
प्रथमो द्वितीयादावावर्तते द्वितीयस्तृतीयादौ । तृतीयश्चतुर्थ इति षट् ।
प्रथमो द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोर्द्वितीयस्तृतीयचतुर्थयोरिति
चत्वारः । प्रथमस्त्रिष्वप्यपीत्येकः । प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे इति ।
प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयतृतीय इति द्वौ । अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति ।
द्वे इति ।

—काव्यानुशासन, ५।३। वृत्ति ।

११. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, पृ० ३०२ ।

देने पर ५६ भेद तथा अन्य अनेक यमक-भेदों की कल्पना की है।^१ चित्रालंकार का उन्होंने जो लक्षण^२ प्रस्तुत किया है, उससे उनकी चित्रालंकार भेद विषयक मान्यता भी स्पष्ट होती है। उनका यह लक्षण भोज से प्रभावित है।^३ हेमचन्द्र ने श्लेष के प्रसंग में सर्वप्रथम रुद्रट-सम्मत^४ वर्ण, पद, लिंग आदि आठ भेदों का उल्लेख किया है।^५ पुनः भाषाश्लेष के ५७ भेदों का कथन है,^६ जो अन्य-भाचार्यों द्वारा मान्य भेदों से सर्वाधिक है। वक्रोक्तिलक्षण^७ प्रसंग में हेमचन्द्र ने काकु-वक्रोक्ति को अलंकार स्वीकार नहीं किया है, अपितु उसे मात्र पाठधर्म कहा है^८ तथा इसके समर्थन में उन्होंने राजशेखर की पंक्ति को उद्धृत किया है।^९ पुनरुक्ताभास^{१०} हेमचन्द्र के मत में शब्दालंकार है। इस पर उन्होंने कोई विशेष टीका-टिप्पणी नहीं की है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास—इन छः शब्दालंकारों को स्वीकार किया है। इनका अनुप्रास-विवेचन भोज से प्रभावित है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्व प्रथम अनुप्रास के चार भेद किये हैं—

१. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, पृ० ३०४-३०५।

२. स्वरव्यञ्जनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम्। वही, ५१४।

३. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धाप्रतीह यः।

नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१०९।

४. वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।

अत्रार्य मतिमदिभिविधीयमानोऽष्टधा भवति ॥ —काव्यालंकार, ४।२।

५. काव्यानुशासन, ५।५। वृत्ति।

६. संस्कृतप्राकृतमागधपिशाचसूरसेनापञ्चशभाषाणां द्वियोगे पञ्चदश, त्रियोगे विंशतिः, चतुर्योगे पञ्चदश, पञ्चयोगे षट्, षट्योगे एकः। सर्वमीलने भाषा-श्लेषस्य सप्तपञ्चाशद्भेदाः। —वही, ५।६ वृत्ति।

७. उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्ति। —काव्यानुशासन, ५।६ वृत्ति।

८. काकुवक्रोक्तिस्त्वंलंकारत्वेन न वाच्या। पाठधर्मत्वात्।

—वही, पृ० ३३३।

९. अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः स कथमलंकारीस्यादिति यायावरीयः।

—काव्यानुशासन, पृ० ३३३; काव्यमीमांसा, पृ० ८३।

१०. भिन्नाकृतेः शब्दस्यैकार्थत्वेन पुनरुक्ताभासः। —काव्यानुशासन, ५।८।

श्रुति, छेक, वृत्ति और लाट ।^१ पुनः श्रुति के शुद्ध, संकीर्ण और नागर—ये तीन भेद किये हैं ।^२ छेक चार प्रकार का होता है—क्रमशाली, विपर्यस्त, वेणिका और गर्भित ।^३ वृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला । नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार जिसमें समान वर्गों के अक्षरों की आवृत्ति हो वह वृत्यनुप्रास है, यह कवित्व का प्राणभूत है^४ तथा यह बारह प्रकार का होता है—कर्णाटी, कौन्तली, कौंगी, कौंकणी, वानवासिका, त्रावणी माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, उंड्री और पीण्ड्री ।^५ वृत्यनुप्रास के ये बारह भेद भोज-सम्मत हैं ।^६ इसी प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्वभावतः, उपचारवशात्, वीप्सा से, आभीक्ष्ण्य से, कपादि धातुओं से णमुल् प्रत्यय करने पर उसी धातु के उपपद रहने से और सम्भ्रम से जो पदों की आवृत्ति होती है, उन्हें लाटानुप्रास के भेद कहा है ।^७ इन्हें भोज ने नामद्विरुक्ति अनुप्रास कहा है ।^८ नरेन्द्रप्रभसूरि ने सभङ्गश्लेष के वर्ण-पदादि आठ भेदों की तरह अभङ्गश्लेष के भी आठ भेदों की सम्भावना की है^९ तथा श्लेष को अर्थगत भी स्वीकार किया है । पुनरुक्तवदाभास को उन्होंने शब्दालंकार भी कहा है और शब्दार्थालंकार भी ।^{१०} शेष शब्दालंकार-विवेचन सामान्य है ।

विजयवर्णी ने यमक, चित्र, वक्रोक्ति और अनुप्रास—इन चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है ।^{११}

१. अलंकारमहोदधि, ७।२ ।

२. वही, ७।४।

३. क्रमशाली विपर्यस्तो वेणिका गर्भितस्तथा ।

क्रमशाली क्रमोपेतः, विपर्यस्तः क्रमात्ययो ॥

आवाक्यान्तगतानेकवर्णावृत्तिस्तु वेणिका ।

गर्भितस्तपहरो वर्णस्तोमो यत्रान्यगर्भितः ॥

—वही, ७।८-९ ।

४. यदि वा यत्र वर्ग्याणां वर्ग्यैरावर्तते निजैः ।

वृत्यनुप्रासमिच्छन्ति तं कवित्वैकजीवितम् ॥

—वही, ७।१४ ।

५. वही, पृ० २१२-२१३ । ६. द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, १।७९-८० ।

७. अलंकारमहोदधि, ७।१७-१८ ।

८. द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, २।९९ ।

९. अभंगश्लेषोऽप्य टच्चैव यथासंभवं ज्ञेयः । अलंकारमहोदधि, पृ० २२२ ।

१०. शब्दानामामुखे यस्मिन्नेकार्थत्वावभासनम् ।

पुनरुक्तवदाभासं शब्द-शब्दार्थगामि तत् ॥—अलंकारमहोदधि, ७।२४ ।

११. यमकं चित्रवक्रोक्तिरनुप्रासश्चतुर्विधः ।

शब्दालंक्रतयः प्रोक्ताः.....॥—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ९।४-५ ।

अजितसेन ने भी उक्त विजयवर्णी-सम्मत चार अलंकारों को शब्दालंकार स्वीकार किया है।^१ उनका शब्दालंकार-विवेचन विस्तृत है। अलंकार-चिन्तामणि के द्वितीय-परिच्छेद में लगभग दो सौ पद्यों में मात्र चित्रालंकार का विवेचन किया है। शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन तीन शब्दालंकारों का विवेचन तृतीय परिच्छेद में है।

अजितसेन ने चित्रालंकार के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—व्यस्त, समस्त, द्विव्यस्त, द्विसमस्त, व्यस्त-समस्त, द्विव्यस्त-समस्त, द्विसमस्तकसुव्यस्त, एकालाप, प्रभिन्नक, भेद्यभेदक, ओजस्वी, सालंकार, कौतुक, प्रश्नोत्तरसम, पृष्ठप्रश्न, भग्नोत्तर, आद्युत्तर, मध्योत्तर, अन्तोत्तर, अपहृत, विपम, वृत्त, नामाख्यात, तात्पर्य, सौत्र, शाब्दिक, शास्त्रार्थ, वर्णोत्तर, वाक्योत्तर, श्लोकोत्तर, खण्डोत्तर, पादोत्तर, सुचक्रक, पद्म, काकपद, गोमूत्र, सर्वतोभद्र, गत-प्रत्यागत, वर्द्धमानाक्षर, हीयमानाक्षर, शृङ्खल और नागपाश।^२ इनके अतिरिक्त प्रहेलिका, मुरजबन्ध, अर्धभ्रमगूढ़, एकाक्षर, द्व्यक्षर, दर्पणबन्ध, पट्टकबन्ध, तालवृन्त, निःसाल-बन्ध, ब्रह्मादीपिका, पशुबन्ध, यानबन्ध, चक्रवृत्तक, भृङ्गारबन्ध, निगूढ़पाद, छत्रबन्ध, और हारबन्ध आदि भेदों का भी सलक्षणोदाहरण विवेचन किया है।^३ शेष वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन तीन अलंकारों का सामान्य विवेचन किया है।^४

वाग्भट-द्वितीय^५ और भावदेवसूरि^६ ने चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास—इन छः को शब्दालंकार स्वीकार किया है। सिद्धिचन्द्रगणि ने शब्दालंकारों के विषय में कोई विशेष ऊहापोह नहीं किया है,^७ अपितु आचार्य मम्मट की सरणि को ही अपनाया है।

१. द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, २।१।

२. वही, २।३-८।

३. द्रष्टव्य, वही, २।१२५-१९०।

४. द्रष्टव्य, वही, तृतीय परिच्छेद।

५. चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ४६।

६. स्याद् वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेष इत्यपि।

चित्रं पुनरुक्तवदाभास शब्देष्वालंकृतिः ॥—काव्यालंकारसारसंग्रह, ५।१।

७. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाशखण्डन, नवम उल्लास।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त शब्दालंकार-विवेचन से ज्ञात होता है कि अलंकारदप्पणकार ने अलंकारों का शब्द-अर्थ जैसा विभाजन न करते हुए भरत-भामह आदि पूर्वाचार्यों का अनुगमन किया है। वाग्भट-प्रथम, विजय-वर्णी और अजितसेन ने केवल चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—इन चार अलंकारों को शब्दालंकार माना है। शेष आचार्य हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि ने श्लेष और पुनरुक्तवदाभास—इन दो अन्य अलंकारों का भी वाग्भट-प्रथम आदि सम्मत उक्त चार अलंकारों में समावेश कर छः शब्दालंकारों को स्वीकार किया है। वाग्भट-प्रथम और विजयवर्णी ने पुनरुक्त-वदाभास का उल्लेख ही नहीं किया है तथा श्लेष को अर्थालंकार माना है। हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि ने श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों स्वीकार किया है।

जैनाचार्यों ने चित्रादि अलंकारों के जिन भेदों का उल्लेख किया है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जहाँ आचार्य मम्मट ने यमक के ग्यारह भेदों का उल्लेख किया है^१, वहीं आचार्य हेमचन्द्र ने यमक के पन्द्रह भेदों का उल्लेख कर अपनी तार्किक बुद्धि का परिचय दिया है। इसी प्रकार मम्मट ने पाद को दो भागों में विभक्त करने पर बीस, तीन भागों में विभक्त करने पर तीस, और चार भागों में विभक्त करने पर यमक के चालीस भेदों का उल्लेख किया है^२, किन्तु हेमचन्द्र ने क्रमशः अट्ठाइस, बयालीस और छप्पन भेदों का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने भाषाश्लेष के जिन सत्तावन भेदों को स्वीकार किया है, वे महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने काकु-वक्रोक्ति को मात्र पाठधर्म स्वीकार किया है, जबकि आचार्य मम्मट ने काकुवक्रोक्ति को अलंकार कहा है।^३ हेमचन्द्र ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना है, उभयालंकार नहीं।^४

नरेन्द्रप्रभसूरि का अनुप्रास-विवेचन भोज से प्रभावित है, उन्होंने सभङ्गश्लेष के वर्ण-पदादि आठ भेदों की तरह अभङ्गश्लेष के भी आठ भेदों की सम्भावना

१. प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त । प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे । तदेवं पादजं नवभेदम् । अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे ।

—काव्यप्रकाश, पृ० ४१० ।

२. द्रष्टव्य, वही, पृ० ४११ ।

३. द्रष्टव्य, वही, ९।७८ ।

४. आचार्य मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार माना है ।

—वही, पृ० ४३९ ।

की है, जो विचारणीय है। नरेन्द्रप्रभसूरि का पुनरुक्तवदाभास-विवेचन मम्मट से प्रभावित है।

अजितसेन ने चित्रालंकार के जिन महत्वपूर्ण भेदों का उल्लेख किया है, वे आश्चर्यचकित करने वाले हैं। शेष शब्दालंकार-विवेचन परम्परानुकूल है।

अर्थालंकार :

जहाँ अर्थगत चमत्कार पाया जाए वह अर्थालंकार है, इसमें अर्थ की प्रधानता रहती है। अर्थालंकार में शब्द-परिवर्तन होने पर भी अर्थ के कारण चमत्कार विद्यमान रहता है। यही इसका प्रमुख वैशिष्ट्य है।

भरत-भामह से लेकर अद्यावधि सभी आलंकारिकों ने अर्थालंकारों का विवेचन किया है। आचार्य भरत द्वारा उल्लिखित चार अलंकारों में से यमक को छोड़कर शेष तीन अलंकारों में अर्थगत सौन्दर्य होने से अर्थालंकार हैं। आचार्य भामह ने ३८ अलंकारों को स्वीकार किया है^१, जिनमें अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेष ३६ अर्थालंकार हैं। दण्डी ने ३५ अलंकारों का उल्लेख किया है^२ तथा मम्मट ने ६१।^३ अप्य दीक्षित के समय तक इनकी संख्या शताधिक हो गई थी।^४ प्रस्तुत में जैनाचार्यों द्वारा मान्य अर्थालंकारों का विवेचन किया जा रहा है।

जैनाचार्य अलंकारदम्पणकार ने कुल ४० अलंकारों का उल्लेख किया है— उपमा, रूपक, दीपक, रोघ, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जाति-व्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, (अगूढ-) भाव अर्थान्तरन्यास, परिकर, सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्लाति, प्रेमातिशय (उद्वर्त, परिवृत्त द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर) बहुश्लेष, व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा संसिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शना,

१. द्रष्टव्य, काव्यालंकार-भामह।

२. काव्यादर्श, २।४-७।

३. काव्यप्रकाश, विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका, पृ० ४४१।

४. अप्यदीक्षित ने १२३ अलंकारों का विवेचन किया है।

उपेक्षावयव, उद्भिद्, वलित, अभेद-वलित और यमक ।^१ इनमें से अनुप्रास और यमक को छोड़कर शेष ३८ अर्थालंकार हैं । अलंकारदप्पणकार ने प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर और समज्योति नामक नवीन अलंकारों का उल्लेख किया है ।

वाग्भट-प्रथम ने अर्थालंकारों को संख्या पैंतीस स्वीकार की है—जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेश, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या प्रश्नोत्तर और संकर ।^२ ये सभी अलंकार पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य हैं । इनमें जाति अलंकार स्वभावोक्ति का पर्यायवाची है । वाग्भट-प्रथम ने उपमा के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, अनेकोपमेयमूलोपमा और अनेकोपमानमूलोपमा ।^३ इनमें से अनेकोपमेयमूलोपमा को छोड़कर शेष उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, और अनेकोपमानमूलोपमा क्रमशः आचार्य मम्मटादि-सम्मत उपमेयोपमा, अनन्वय और मालोपमा अलंकार हैं ।

१. उपमा-रूपक-दीव्य-रोहाणुप्पास-अइसअ-विसेसं ।

अक्खेव-जाइवइरेअ-रसिअ-पज्जाअ भणिआओ ॥

जहासंख (खं) समाहिअ-विरोह-संसअ-विभावणा भावा ।

अत्थन्तरणासो-अण्णपरिअरो तह सहोत्ती अ ॥

उज्जा अवण्हवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता ।

दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा बहुसिलेसा अ ।

ववअस-थुई (इ) समजोइआइअ-अपत्थुअपसंसा अ ॥

अणुमाणं आअरिसो उपेक्खा तह अ संसिद्धी ॥

आसीसा उवमा-रूपअं च जाणइ णिअरिसिणं तह अ ।

उपेक्खा च अ (ओ)भेअ वलिअ जमअेहि संजुत्ता ॥

अेतिअ-मित्ता एए कव्वेसु पडिदिठआ अलंकारा ।

अहिआ उवक्कमेणं वीसाओ दोणिणं संखाओ ॥

—अलंकारदप्पण, गाथा ५-१० ।

२. वाग्भटालंकार, ४।२-६ ।

३. द्रष्टव्य, वही, ४।५४-५७ ।

अनेकोपमेयमूलोपमा नामक भेद उनकी स्वतंत्र कल्पना न होकर आचार्य भरत का एक देश अनुगमन है। क्योंकि भरत ने एक उपमेय का एक अथवा अनेक उपमानों से तथा अनेक उपमेयों का एक अथवा अनेक उपमानों से होने वाले सादृश्य वर्णन को उपमा के भेद मानने की ओर संकेत किया है।^१

वाग्भट-प्रथम ने अन्य जिन अलंकारों का स्वरूप-विवेचन किया है, उनके मूल में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, स्य्यक और मम्मट आदि आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने किसी एक आचार्य को आधार नहीं माना है, अपितु जिस आचार्य का जो लक्षण उन्हें उचित प्रतीत हुआ है, उसे उन्होंने अपने शब्दों में उल्लिखित किया है। वाग्भट-प्रथम द्वारा प्रतिपादित किसी-किसी अलंकार का लक्षण अन्याचार्यों के किसी एक उपभेद के स्वरूप को लेकर भी हुआ है। यथा सहोक्ति का लक्षण।^२ यह लक्षण स्य्यक के सहोक्ति के एक उपभेद 'कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा सहोक्ति' पर आधारित है, जिसका लक्षण उन्होंने कार्यकारण का तुल्यकालत्वेन निबन्धन किया है।^३ वाग्भट-प्रथम का सहोक्ति लक्षण इसी एक उपभेद पर प्रकाश डालता है। संक्षेप में कह जा सकता है कि वाग्भट-प्रथम के दीपकालंकार पर भरत और भामह; अग्रस्तुतप्रशंसा, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त पर भामह (अन्तिम दो पर उद्भट का भी); अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, हेतु और समाहित पर दण्डी; समुच्चय और अवसर पर रुद्रट; जाति और व्यतिरेक पर स्य्यक; रूपक, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, अतिशय (अतिशयोक्ति), आक्षेप, विरोध, विषम, परिसंख्या, संकर और एकावली पर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके अनुसार सङ्करा-

१. द्रष्टव्य—एकस्यैकेन सा कार्यानिकेनाऽप्यथवा पुनः ।

अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ॥

—नाट्यशास्त्र, १७।४५ ।

२. सहोक्तिः सा भवेद् यत्र कार्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ॥—वाग्भटालंकार, ४।११९ ।

३. स्य्यक ने कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा सहोक्ति का जो उदाहरण दिया है, उससे उसका लक्षण भी स्पष्ट होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

‘भवदपराधैः सार्धं संतापो वर्धतेतरामस्याः ।’

अत्रापराधानां संतापं प्रति हेतुत्वेऽपि तुल्यकालत्वेनोपनिबन्धः ।

—द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व, पृ० २९८ ।

लंकार वह है, जहाँ अनेक अलंकारों का सम्मेलन हो।^१ वाग्भट-प्रथम के इस कथन से संसृष्टि को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने २९ अर्थालंकारों का विवेचन किया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शन, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति), व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमाला और संकर।^२ इनमें से २४ अलंकार वाग्भट-प्रथम सम्मत हैं, शेष निदर्शना, व्याजस्तुति, स्मृति, सम और कारणमाला—ये पाँच अन्य अलंकार भी उन्हें अभीष्ट हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट-प्रथम सम्मत प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना, हेतु, समाहित, यथासंख्य, अवसर, सार, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली और प्रश्नोत्तर—इन ग्यारह अलंकारों को मान्यता प्रदान नहीं की है। वाग्भट-प्रथम ने जिस अलंकार को अप्रस्तुतप्रशंसा कहा है, उसे ही हेमचन्द्र ने अन्योक्ति के नाम से अभिहित किया है, अतः इन दोनों के लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है।^३ आचार्य मम्मट ने इसे अप्रस्तुतप्रशंसा ही कहा है।^४

आचार्य हेमचन्द्र ने उपमा के लक्षण में 'साधर्म्यम्' के साथ 'हृद्यम्' विशेषण लगाया है,^५ जिसका तात्पर्य यह है कि सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाले उपमान और उपमेय के सादृश्य का कथन उपमालंकार है। मम्मट ने उपमा के लक्षण में 'भेदे' पद का प्रयोग किया है,^६ जो अनन्वयालंकार को स्वतंत्र रूप से अलंकार मानने में सहायक होता है, किन्तु हेमचन्द्र अपने उपमा-लक्षण में

१. वाग्भटालंकार, ४।१४४।

२. काव्यानुशासन, विवेकटीका, पृ० ३३९।

३. द्रष्टव्य, (क) प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः।

अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा ॥

—वाग्भटालंकार, ४।१३४।

(ख) सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य
चोक्तिरन्योक्तिः।

—काव्यानुशासन, ६।८।

४. काव्यप्रकाश, १०।९८-९९।

५. हृद्यं साधर्म्यमुपमा।

—काव्यानुशासन, ६।१।

६. साधर्म्यमुपमा भेदे।

—काव्यप्रकाश, पृ० ४४३।

उक्त पद का समावेश नहीं करते हैं तथा मालोपमा, रशनोपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और उत्पाद्योपमा को उपमा से पृथक् नहीं मानते हैं।^१ हेमचन्द्र का उपमा विषयक यह दृष्टिकोण वाग्भट-प्रथम से मेल खाता है तथा इन दोनों का मूल में रुद्रट का प्रभाव है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अलंकारों की सीमित संख्या स्वीकार की है, इसलिए उन्होंने कहीं-कहीं दो-तीन अलंकारों के लक्षणों को मिलाकर किसी एक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निदर्शन के लक्षण को लिया जा सकता है। हेमचन्द्र ने निदर्शन का लक्षण करते हुए लिखा है कि—इष्टार्थ की सिद्धि के लिए जो दृष्टान्त का निर्देश किया जाता है, वह निदर्शनालंकार कहलाता है।^२ इसमें मम्मटादि सम्मत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और निदर्शन के लक्षणों का एकदेश समावेश किया गया है। यहाँ हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित निदर्शन और अर्थान्तरन्यास का अन्तर भी उल्लेखनीय है। उनके अनुसार जहाँ सामान्य अथवा विशेष का विशेष के द्वारा समर्थन किया जाता है, वह निदर्शनालंकार है और जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास है।^३ मम्मट उक्त दोनों ही स्थितियों में अर्थान्तरन्यास मानने के पक्ष में है।^४ आचार्य हेमचन्द्र सम्मत अर्थान्तरन्यास का सम्पूर्ण लक्षण इस प्रकार है—जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्यपूर्वक समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यासालंकार होता है।^५ यह मम्मट का एकदेश अनुकरण है।

आचार्य हेमचन्द्र-सम्मत अतिशयोक्ति का लक्षण पूर्वाचार्यों द्वारा अनुमोदित ही है। उन्होंने इसके चार भेद माने हैं—भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध

१. काव्यानुशासन, पृ० ३४६-३४७।

२. इष्टार्थसिद्धये दृष्टान्तो निदर्शनम्।—काव्यानुशासन, ६।६।

३. यत्र सामान्यस्य विशेषस्य वा विशेषेण समर्थनं तन्निदर्शनम्। यत्र तु विशेषस्य सामान्येन समर्थनं सोऽर्थान्तरन्यासः।

—काव्यानुशासन, विवेकटीका, पृ० ३५३।

४. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥—काव्यप्रकाश, १०।१०९।

५. विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्यभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः।

—काव्यानुशासन, ६।१९।

में असम्बन्ध और सम्बन्ध में सम्बन्ध ।^१ ससन्देहालंकार का लक्षण निरूपण करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि—स्तुति के लिए जो संशयपूर्ण कथन किया जाता है, वह ससन्देह है ।^२ अर्थात् स्तुति के द्वारा अलंकारान्तर के गर्भीकरण से प्रस्तुत वस्तु के वर्णन हेतु संशय पूर्ण कथन करना ससन्देह है । हेमचन्द्र को ससन्देह के तीन भेद अभीष्ट हैं, उनमें से दो तो वे ही हैं, जिन्हें मम्मट ने स्वीकार किया है अर्थात् भेद का कथन करने और भेद का कथन न करने रूप सन्देह । इसके अतिरिक्त उन्हें असन्देह में सन्देह नामक तीसरा भेद भी अभीष्ट है ।^३

आचार्य हेमचन्द्र ने अपह्नुति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जहाँ प्रस्तुत से प्रस्तुत अथवा प्रस्तुत से अप्रस्तुत का अपलाप किया जाए, वहाँ अपह्नुति नामक अलंकार होता है ।^४ मम्मट ने प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत की सिद्धि को अपह्नुति कहा है^५ तथा प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को छल पूर्वक छिपाने के वर्णन को व्याजोक्ति ।^६ किन्तु हेमचन्द्र ने अपने उक्त अपह्नुति के स्वरूप में मम्मटादि-सम्मत अपह्नुति और व्योजोक्ति—इन दोनों के स्वरूपों को स्थान दिया है । अतः व्याजोक्ति को पृथक् अलंकार न मानना स्वाभाविक है । हेमचन्द्र ने संकर और संसृष्टि—इन दो अलंकारों को मम्मटादि की तरह भिन्न-भिन्न नहीं माना है, अपितु मात्र संकर का ही लक्षण-निरूपण किया है^७, जिसमें संसृष्टि और सन्देहसंकर को अंगरूपेण स्वीकार किया है, इसकी पुष्टि दिये गये उदाहरणों से होती है ।^८

१. विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययोऽतिशयोक्तिः ।

—काव्यानुशासन ६।१० ।

२. स्तुत्यै संशयोक्तिः ससन्देहः ।—वही, ६।२० ।

३. स्तुत्यै अलंकारान्तरगर्भीकारेण प्रस्तुतवस्तुवर्णनाथं संशयस्योक्तिर्निर्णयान्ता-
ऽनिर्णयान्ता वा भेदकस्यानुक्तावुक्तौ वा ससन्देहः ।

—वही, वृत्ति, ६।२० ।

४. प्रकृताप्रकृताभ्यां प्रकृतापलापोऽपह्नुतिः । —वही, ६।२१ ।

५. प्रकृतं यन्निषिद्धान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति ।

—काव्यप्रकाश, १०।१६, पृ० ४७० ।

६. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् । —वही, १०।११८ ।

७. स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपक्षैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः ।

—काव्यानुशासन, ६।३९ ।

८. द्रष्टव्य, वही, पृ० ३९८-३९९ ।

इनके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने जिन अलंकारों का विवेचन किया है, उनमें प्रायः पूर्वाचार्यों की मान्यताओं को ही प्रमुख रूप से स्थान दिया है तथा जिन अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है, उन परिकर, यथासंख्य, विनोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवदादि, आशीः, प्रत्यनीक आदि अलंकारों का सयुक्ति खण्डन किया है।^१

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ७१ अर्थालंकारों को स्वीकार किया है—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपहृति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तुवमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त, रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि और संकर।^२ इन ७१ अलंकारों में से ६१ अलंकारों का उल्लेख मम्मट ने किया है तथा मालादीपक को दीपक का ही एक भेद स्वीकार किया है।^३ शेष जिन ९ अलंकारों का

१. अपुष्टार्थत्वलक्षणदोषाभावमात्रं साभिप्रायविशेषणोक्तिरूपः परिकरो भग्नप्रक्रमतादोषाभावमात्रं यथासंख्यं दोषाभिधानेनैव गतार्थम् । विनोक्तिस्तु तथाविधहृद्यत्वविरहात् । भाविकं तु भूतभाविपदार्थप्रत्यक्षीकारात्मकमभिनेय-प्रबन्ध एव भवति । यद्यपि मुक्तकादावपि दृश्यते तथापि न तत्स्वदत्ते । उदात्तं तु ऋद्धिमद्वस्तुलक्षणं अतिशयोक्तेर्जतिर्वा न भिद्यते । महापुरुषवर्णनारूपं च यदि रसपरं तदा ध्वनेर्विषयः । अथ तथाविधवर्णनीयवस्तुपरं तदा गुणीभूतव्यंग्यस्येति नालङ्कारः । रसवत्प्रेयसी ऊर्जस्विभावसमाहितानि गुणीभूतव्यंग्यप्रकारा एव । आशीस्तु प्रियोक्तिमात्रं, भावज्ञापनेन गुणीभूतव्यंग्यस्य वा विषयः । प्रत्यनीकं च प्रतीयमानोत्प्रेक्षाप्रकार एवेति नालंकारान्तरतया वाच्यम् ।

—काव्यानुशासन, पृ० ४०१-४०५ ।

२. द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि, अष्टम तरंग ।

३. मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

—काव्यप्रकाश, १०।१०४ ।

उल्लेख किया है, वे हैं—उल्लेख, परिणाम, विचित्र, विकल्प, अर्थापत्ति, रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि और समाहित । रसवदादि अलंकारों की कल्पना भामह आदि आचार्यों ने की है ।^१ अर्थापत्ति को अलंकार के रूप में सर्वप्रथम भोज ने स्वीकार किया है ।^२ शेष उल्लेख, परिणाम, विचित्र और विकल्प—इन चार अलंकारों का सर्वप्रथम रुय्यक ने उल्लेख किया है ।^३ इसलिए इतना तो निश्चित है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं की है तथा मम्मट-सम्मत अलंकारों के अतिरिक्त रुय्यकादि-सम्मत अलंकारों को भी ग्रहण किया है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम द्वारा उल्लिखित हेतु, अवसर और प्रश्नोत्तर नामक तीन अलंकारों को मान्यता प्रदान नहीं की है ।

आचार्यों ने अर्थालंकारों के प्रसंग में प्रायः सर्वप्रथम उपमालंकार का निरूपण किया है तथा उसके समर्थन में कहा है कि यतः उपमा अर्थालंकारों का मूल है, अतः सर्वप्रथम उसी पर विचार किया है ।^४ किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम अतिशयोक्ति का विवेचन किया है तथा उसे ही समस्त अलंकारों का प्राणभूत कहा है ।^५

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा प्रतिपादित अलंकारों पर प्रमुख रूप से मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है तथा जिन परिणाम-उल्लेख आदि अलंकारों को रुय्यक ने ग्रहण किया है, उन पर रुय्यक का ही प्रभाव है । अर्थापत्ति अलंकार पर भोज की अपेक्षा रुय्यक का प्रभाव अधिक है ।^६ रसवदादि अलंकारों को

१. द्रष्टव्य, काव्यालंकार-भामह, ३।१ ।

२. द्रष्टव्य, अलंकारानुशीलन, पृ० ४१८ ।

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १५८, १३५, ४९८, ५९१ ।

४. द्रष्टव्य, (क) मूलं चोपमा.....।—काव्यालंकारसूत्र, ४।२।१ उत्थानिका ।

(ख) उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्य ।

—अलंकारसर्वस्व, सूत्र १२ वृत्ति ।

५. सर्वालंकारचैतन्यभूतत्वात् प्रथममतिशयोक्ति विशेषतो लक्षयति ।

—अलंकारमहोदधि, पृ० २२७ ।

६. तुलना कीजिए : प्रस्तुतादितरस्माच्च दण्डापूपिकया बलात् ।

योऽर्थार्थान्तरापातः साऽर्थपत्तिर्द्विधा मता ॥

—अलंकारमहोदधि, ८।७२ ।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया है। यतः कुछ लोगों ने प्रतिपादन किया है, अतः उन्होंने भी रसवदादि का उल्लेख कर दिया है।^१

विजयवर्णी ने ४७ अर्थालंकारों का विवेचन किया है—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, आवृत्ति, हेतु, दीपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, आक्षेप, अतिशय, सूक्ष्म, समासोक्ति, लव (लेश), क्रम, उदात्त, अपह्लाति, प्रेय, विरोध, रसवत्, उर्जस्व, अप्रस्तुतप्रशंसा, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्त, सहोक्ति, परिवृत्ति, समाहित, श्लिष्ट, निदर्शन, व्याजस्तुति, आशीः, समुच्चय, वक्रोक्ति, अनुमान, विषम, अवसर, प्रतिवस्तूपमा, सार, भ्रान्तिमान् संशय, एकावली, परिकर, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और संकर।^२ इनमें से ३१ अलंकार दण्डी-सम्मत है। दण्डी ने समाधि, विशेष, संसृष्टि और भाविक—इन ४ अन्य अलंकारों को स्वीकार किया है, किन्तु विजयवर्णी ने उक्त ४ अलंकारों को मान्यता न देकर अन्य जिन ७ अलंकारों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—विशेषोक्ति, समाहित, समुच्चय, वक्रोक्ति, अनुमान, विषम, अवसर, प्रतिवस्तूपमा, सार, भ्रान्तिमान्, संशय, एकावली, परिकर, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और संकर।

आचार्य मम्मट ने जिन ६१ अलंकारों को स्वीकार किया है, उनमें से अनन्वय, उपमेयोपमा, दृष्टान्त, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्याय, व्याजोक्ति, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, असंगति, समाधि, सम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, स्मृति, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात और संसृष्टि—इन २५ अलंकारों को विजयवर्णी ने अलंकारत्व प्रदान नहीं किया है। किन्तु इन्होंने आवृत्ति, हेतु, लव (लेश), प्रेय, रसवत्, उर्जस्व, समाहित, आशीः, वक्रोक्ति, अवसर और प्रश्नोत्तर—इन ११ अन्य अलंकारों को स्वीकार किया है, जिनमें आवृत्ति का दण्डी तथा हेतु, लव, (लेश), प्रेय, रसवत्, उर्जस्व, समाहित, और आशीः—इन ७ अलंकारों का आचार्य भामह प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। इसी

प्रत्यक्षादि प्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते ।

अर्थान्तरञ्च गमयति अर्थापत्तिर्वदन्ति ताम् ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२१६ (अलंकारानुशीलन, पृ० ४१८)

दण्डापूपिकयार्थान्तरापत्तनमर्थापत्तिः ।

—अलंकारसर्वस्व, सूत्र ६४ ।

१. अलंकारमहोदधि, ८।८५-८६ ।

२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ९।८-९३ ।

प्रकार हेतु, अवसर और प्रश्नोत्तर का उल्लेख जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने किया है। अतः इतना तो निश्चित है कि विजयवर्णी ने किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं की है।

विजयवर्णी ने यथासंख्य अलंकार के लिए क्रमालंकार की संज्ञा दी है, यह इसके स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाता है^१, उन्होंने वक्रोक्ति अलंकार को शब्दालंकार भी स्वीकार किया है और अर्थालंकार भी।^२

विजयवर्णी ने उपमा के जिन ३२ भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है^३, वे सभी भेद दण्डी-सम्मत हैं।^४ इनके अतिरिक्त रूपक, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप आदि अलंकार-भेदों पर भी दण्डी का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि विजयवर्णी के अलंकार-विवेचन पर दण्डी का प्रभाव सर्वाधिक है।

आचार्य अजितसेन ने ७२ अर्थालंकारों का विवेचन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मृति, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशय, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, विरोध, विशेष, अधिक, विभाव (विभावना), विशेषोक्ति, असंगति, चित्र (विचित्र), अन्योन्य, विषम, सामान्य (सम), तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, परिकरांकुर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतस्तुति (अप्रस्तुतप्रशंसा), पर्यायोक्त, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या, उत्तर, विकल्प, समुच्चय, समाधि, भाविक, प्रेयस्, रसवद्, उर्जस्वी, प्रत्यनीक, व्याघात, पर्याय, सूक्ष्म, उदात्त, परिवृत्ति, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, संसृष्टि और संकर।^५ इनमें ६९ अलंकार तो वे ही हैं जिन्हें मम्मट ने स्वीकार किया है। शेष जिन अन्य ११ अलंकारों को अजितसेन ने मान्यता प्रदान की है, उनके

१. उक्तानां यत्र वाच्यानां योगो वाच्यान्तरैः सह ।

क्रमेण कथितः सोऽत्र क्रमालंकार उच्यते ॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।१८९।

२. द्रष्टव्य, वही, १।४, ११।

३. वही, १।२४-५६।

४. द्रष्टव्य, काव्यादर्श, २।१५-५०।

५. अलंकारचिन्तामणि, ४।७-१०।

नाम इस प्रकार हैं—परिणाम, उल्लेख, वक्रोक्ति, विचित्र, परिकरांकुर, अर्थापत्ति, विकल्प, प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी और मालादीपक । मम्मट ने मालादीपक को दीपक का ही एक प्रकार माना है ।^१ अजितसेन ने वक्रोक्ति को विजयवर्णी के समान शब्दालंकार भी स्वीकार किया है और अर्थालंकार भी^२, जब कि आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालंकार माना है ।^३

आचार्य अजितसेन^४ का उपमा-लक्षण विद्यानाथ^५ से प्रभावित है । उन्होंने पूर्णोपमा के जिन भेदों का उल्लेख किया है, वे मम्मट-सम्मत हैं,^६ किन्तु लुप्तोपमा के भेदों पर आचार्य मम्मट का प्रभाव तो है ही, साथ ही उन्हें उपमा के दण्डी-सम्मत भेद भी स्वीकार हैं, जिनका उन्होंने सोदाहरण विवेचन किया है ।^७ इसी प्रकार रूपक आदि अलंकारों की भेद-व्यवस्था भी मम्मट से गृहीत है ।^८

अजितसेन द्वारा प्रतिपादित अर्थान्तरन्यास का लक्षण मम्मट से भिन्न है । मम्मट ने साधर्म्य और वैधर्म्यपूर्वक सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास कहा है ।^९ किन्तु अजितसेन ने सामान्य का निशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन के अतिरिक्त कारण से कार्य के

१. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, १०।१०४ ।

२. अलंकारचिन्तामणि, ३।१, १० ।

३. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, ९।७७ ।

४. वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतःसिद्धेन धर्मतः ।

भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपसैकदा ॥—अलंकारचिन्तामणि, ४।१८ ।

५. तुलना कीजिए,

स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः ।

साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदैकदोपमा ॥—प्रतापरुद्रीय, पृ० २५४ ।

६. द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, ४।३०-३१ ।

७. द्रष्टव्य, वही, ४।३८-३९ ।

८. द्रष्टव्य, वही, पृ० १४३ ।

९. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

समर्थन को भी अर्थान्तरन्यास कहा है ।^१ इसके अतिरिक्त अजितसेन ने परिणाम, उल्लेख, विचित्र, विकल्प और मालादीपक—इन अलंकारों का विवेचन रुच्यक को आधार मानकर किया है^२ तथा परिकरांकुर और अर्थापत्ति—इन

१. ससामान्यविशेषत्वात् कार्यकारणभावतः ।

प्रकृतं यत्समर्थेतार्थान्तरन्यसनं मतम् ॥

—अलंकारचिन्तामणि, ४।२७४ ।

२. तुलना कीजिए—

आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।

—अलंकारसर्वस्व, सू० १७ ।

आरोपविषयत्वेनारोप्यं यत्रोपयोगि च ।

प्रकृते परिणामोऽसौ द्विवैकार्थेतरत्वतः ॥—अलंकारचिन्तामणि, ४।१२५ ।

एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।

—अलंकारसर्वस्व, सू० २० ।

एकस्य शेषरुच्यर्थयौगैरुल्लेखनं बहु ।

गृहीतृभेदादुल्लेखालंकारः स मतो यथा ॥—अलंकारचिन्तामणि, ४।१३८ ।

स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।—अलंकारसर्वस्व, सू० ४८ ।

स्वविरुद्धफलाप्त्यर्थमुद्योगो यत्र तन्यते ।

विचित्रालंक्रुतिं प्राहुस्तां विचित्रविदो यथा ॥

—अलंकारचिन्तामणि, ४।२०८ ।

तुल्यबलविरोधो विकल्पः ।

विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वात्तुल्यबलयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव योगपद्यासंभवे विकल्पः ।

—अलंकारसर्वस्व, सू० ६५ सवृत्ति ।

विरोधे तु द्वयोर्यत्र तुल्यमानविशिष्टयोः ।

औपम्यादुगपत्प्राप्तौ विकल्पालंक्रुतिर्यथा ॥

—अलंकारचिन्तामणि, ४।२९३ ।

पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।

—अलंकारसर्वस्व, सू० ५६ ।

यत्रोत्तरोत्तरं प्रत्युत्कृष्टत्वावहता भवेत् ।

पूर्वपूर्वस्य वै चैतन्मालादीपकमिष्यते ॥

—अलंकारचिन्तामणि, ४।३३० ।

दो अलंकारों के लक्षण क्रमशः जयदेव^१ और विद्यानाथ^२ के लक्षणों से प्रभावित हैं। शेष रसवदादि अलंकारों में भामह का अनुकरण है।^३

वाग्भट-द्वितीय ने ६३ अर्थालंकारों का विवेचन किया है—जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, विरोध, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, अन्य, अपर, परिसंख्या, कारणमाला, निदर्शन, एकावली, यथासंख्य, परिकर, उदात्त, समाहित, विभावना, अन्योन्य, मीलित, विशेष, पूर्व, हेतु, सार, सूक्ष्म, लेश, प्रतीप, पिहित, व्याघात, असंगति, अहेतु, श्लेष, मत, उत्तर, उभयन्यास, भाव, पर्याय, व्याजोक्ति, अधिक, प्रत्यनीक, अनन्वय, तद्गुण, अतद्गुण, संकर और आशीः।^४ उन्होंने उक्त अलंकार गणना के अन्त में 'प्रभृतयः' पद का प्रयोग किया है।^५ इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट-द्वितीय को ऊपर कहे गये अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य अलंकार अभीष्ट थे, किन्तु उनका उन्होंने कहीं भी संकेत नहीं किया है। मम्मट ने जिन ६१ अर्थालंकारों को स्वीकार किया है, उनमें से उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विशेषोक्ति, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, समाधि, सामान्य और संसृष्टि—इन ११ अलंकारों का वाग्भट-द्वितीय ने उल्लेख नहीं किया है तथा अन्योक्ति, अन्य, अपर, समाहित, पूर्व, हेतु, लेश, पिहित, अहेतु, मत, उभयन्यास, भाव और

१. तुलना कीजिए—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः ।—चन्द्रालोक, ५।४० ।

विशेष्ये साभिसंधौ तु मतः परिकराङ्कुरः ।—अलंकारचिन्तामणि, ४।२४६ ।

२. तुलना कीजिए—

एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत् ।

कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थपत्तिरलङ्क्रिया ॥—प्रतापरुद्रीय, पृ० ३२५ ।

यत्र कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावन्यदापतेत् ।

वस्तु कैमुत्यसंन्यायादर्थपत्तिरियं यथा ॥—अलंकारचिन्तामणि, ४।२८१ ।

३. द्रष्टव्य, काव्यालंकार, ३।५-७; अलंकारचिन्तामणि, ४।३०६-३०९ ।

४. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३२ ।

५. आशीः प्रभृतयोऽर्थालंकाराः ।—वही, पृ० ३२ ।

आशीः—इन १३ अन्य अलंकारों का उल्लेख किया है ।^१

वाग्भट-द्वितीय का उपमा-लक्षण उद्भट से प्रभावित है^२ तथा उसके भेद ढण्डी सम्मत हैं ।^३ उन्होंने सामान्य से विशेष के समर्थन को अर्थान्तरन्यास कहा है,^४ यह हेमचन्द्र का अनुकरण है । इसी प्रकार व्याजस्तुति, परिवृत्ति, अनुमान, भ्रान्ति, विषम, सम, परिसंख्या, कारणमाला, श्लेष और संकर आदि अलंकारों के लक्षण भी हेमचन्द्र से प्रभावित हैं ।^५

भावदेवसूरि ने ५२ अर्थालंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, जाति, व्यतिरेक, दीपक, आपेक्ष, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, समाधि, परिवृत्ति, तुल्ययोगिता, श्लेष, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति,

१. इन अलंकारों का लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

उपमेयस्यैवोक्तावन्यप्रतीतिरन्योक्तिः—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३५ ।
अनेकेषामेकत्र निबन्धस्त्वन्यः ।—वही, पृ० ४१ ।

गुणक्रियायां युगपदभिधानमपरः ।—वही, पृ० ४१ ।

कार्यमारभमाणस्य दैवादुपायसंपत्तिः समीहितम् ।—वही, पृ० ४२ ।

अर्वाचीनस्यार्थस्य पृथगभिधानं पूर्वम् ।—वही, पृ० ४३ ।

कार्यकारणयोरभेदो हेतुः ।—वही, पृ० ४३ ।

कार्यतो गुणदोषविपर्ययो लेशः ।—वही, पृ० ४३ ।

एकत्राधारे यत्राधेयद्वयस्यैकेनैकं पिधीयते तत्पिहितम् ।—वही, पृ० ४३ ।

विकारहेतावप्यविकृतिरहेतुः ।—वही, पृ० ४४ ।

प्रकृतमुत्क्षिप्य वक्ता यदन्यथा मन्यते तन्मतम् ।—वही, पृ० ४४ ।

सामान्यं सामान्येन यत्समर्थ्यते स उभयन्यासः ।—वही, पृ० ४४ ।

यत्र प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपयोगी स भावः ।—वही, पृ० ४४ ।

इष्टार्थस्याशंसनमाशीः ।—वही, पृ० ४६ ।

२. तुलना कीजिए—

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।

मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह-उद्भट, १।१५, पृ० २८० ।

चमत्कारि साम्यमुपमा ।—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३३ ।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३३ ।

४. विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः । साधर्म्येण वैधर्म्येण च ।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३८ ।

५. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ३९-४५ ।

विनोक्ति, सहोक्ति, पर्यायोक्ति, हेतु, विरोध, असंगति, दृष्टान्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, भ्रान्ति, स्मृति, सन्देह, अपह्नुति, विषम, दैवक, उत्तर, उदात्त, सार, अन्योन्य, समुच्चय, कारणमाला, आशिष्, यथासंख्य, तद्गुण, एकावली, रसवत्, प्रेय, परिसंख्या, सूक्ष्म, उल्लेख, विशेष, प्रतीप, संसृष्टि और भाविक ।^१ उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत भावदेवसूरि ने मम्मट-सम्मत अनन्वय, उपमेयोपमा, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, विशेषोक्ति, काव्यालिंग, पर्याय, अनुमान, परिकर, सम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, सामान्य, अतद्गुण, व्याघात और संकर—इन १७ अलंकारों को स्थान नहीं दिया है तथा हेतु, अत्युक्ति, दैवक, आशिष्, रसवत्, प्रेय और उल्लेख—इन ७ अलंकारों का प्रतिपादन किया है । वक्रोक्ति का उल्लेख उन्होंने शब्दालंकारों में भी किया है और अर्थालंकारों में भी ।^२ यतः उनका अलंकार-विवेचन अति संक्षिप्त है, अतः कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता है ।

जैनाचार्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त अलंकार-विवेचन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने किसी प्राचीन आचार्य विशेष को पूर्ण मान्यता प्रदान नहीं की है, अपितु जिस आचार्य की जिस युक्ति को श्रेष्ठ समझा, उसे तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार किया है और अलंकारों की संख्या को लेकर किन्हीं भी दो आचार्यों में साम्य नहीं है। यहाँ तक कि किन्हीं दो जैनाचार्यों की संख्या में भी साम्य नहीं है । फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जैनाचार्यों द्वारा निरूपित अलंकार-लक्षणों और भेदों पर आचार्य भामह, दण्डी, रुय्यक, भोज, और मम्मट आदि आचार्यों का पुष्कल प्रभाव है, जिनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण से तत्-तत् स्थानों पर आवश्यकतानुसार उल्लेख किया गया है ।

अलंकारों का वर्गीकरण :

अलंकारों के वर्गीकरण का मूलस्रोत भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है, किन्तु शब्दकृत वर्गीकरण करने वाले प्रथम आचार्य भामह हैं । उन्होंने अलंकारों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उसे आकृतिमूलक-वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है, जिसका अनुकरण बहुतेरे परवर्ती आचार्यों ने किया है । प्रारम्भ में यह वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार तक ही सीमित था, पुनः दोनों के एक सम्मिलित रूप उभयालंकार नामक तृतीय वर्ग की कल्पना की गई है । तत्पश्चात् संसृष्टि और संकर जैसे दो अलंकारों के मिश्रण को लेकर चतुर्थ मिश्रालंकार

१. काव्यालंकारसारसंग्रह-भावदेवसूरि, ६।१-५ ।

२. द्रष्टव्य, वही, ५।१, ६।२ ।

को कल्पना भी सामने आई, जो तर्क संगत है। इनका विवेचन प्रारम्भ में किया जा चुका है।

कालान्तर में अर्थालंकारों के वर्गीकरण को लेकर एक अन्य दृष्टि सामने आई, जिसमें अलंकारों के स्वरूप को ध्यान में रखकर उसके मूल में विद्यमान सादृश्य, विरोध, शृङ्खला आदि को आधार मानकर अलंकार-वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया, जिसे प्रकृतिमूलक वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। इस नवीन दृष्टि से विचार करने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य रुद्रट को है। उन्होंने अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभाजित किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।^१

वास्तवमूलक वर्ग—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।^२

औपम्यमूलक वर्ग—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनोक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।^३

अतिशयमूलक वर्ग—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, अतद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, विहित, व्याघात और अहेतु।^४

श्लेषमूलक वर्ग—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उचित, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास।^५

श्लेषमूलक वर्ग में आये हुए ये दस अलंकार रुद्रट के टीकाकार जैनाचार्य नमिसाधु के अनुसार शुद्धश्लेष के अन्तर्गत आते हैं तथा संसृष्टि और संकर को संकीर्ण के भेद कहा है।^६

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।

एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालंकार-रुद्रट, ७।९।

२. वही, ७।११-१२।

३. वही, ८।२-३।

४. वही, ९।२।

५. वही, १०।२।

६. एवं शुद्धानलंकारान्सप्रभेदानाख्यायाधुना पूर्वकविलक्ष्यसिद्धयर्थं संकीर्णास्ता-
नाह।

—वही, १०।२४ की नमिसाधुकृत उत्थानिका।

आचार्य रुद्रट ने उपर्युक्त जिन चार वर्गों में अलंकारों का वर्गीकरण किया है, उनका आधार अलंकारों के स्वरूप के मूल में पाई जाने वाली समानता है। अर्थात् जिन अलंकारों के मूल में वस्तु के स्वरूप का कथन स्पष्ट है वे वास्तव-मूलक,^१ जिनके मूल में सादृश्य है वे सादृश्यमूलक^२, जिनके मूल में अतिशयता (लोकोत्तरता) है वे अतिशयमूलक^३ और जिनके मूल में अनेकार्थक पदों को लेकर वाक्य संयोजन किया गया है वे श्लेषमूलक^४ वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। रुद्रट ने निम्न अलंकारों को दो वर्गों में समान रूप से स्थान दिया है :

सहोक्ति	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
समुच्चय	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
उत्तर	वास्तवमूलक और औपम्यमूलक
हेतु	वास्तवमूलक और अतिशयमूलक
विषम	वास्तवमूलक और अतिशयमूलक
उत्प्रेक्षा	औपम्यमूलक और अतिशयमूलक
पूर्व	औपम्यमूलक और अतिशयमूलक

आचार्य रुद्रक^५ ने अर्थालंकारों को प्रमुख रूप से पाँच वर्गों में विभाजित किया है—(१) सादृश्यमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) शृङ्खलामूलक, (४) न्याय-मूलक और (५) गूढार्थप्रतीतिमूलक।

(१) सादृश्यमूलक :

(क) भेदाभेदतुल्यप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

१. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयश्लेषम् ॥—काव्यालंकार-रुद्रट, ७।१०।
२. सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥—वही, ८।१।
३. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिवाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥
—वही, ९।१।
४. यत्रैकमनेकार्थैर्विक्रियं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुस्ते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥ —वही, १०।१।
५. द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व ।

(ख) अभेदप्रधान—छपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अप-
ह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ।

(ग) गम्यमान-औपम्यमूलक—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा,
दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष,
अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप ।

(२) विरोधमूलक :

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम,
विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष और व्याघात ।

(३) शृङ्खलामूलक :

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार ।

(४) न्यायमूलक :

(क) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिङ्ग और अनुमान ।

(ख) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्था-
पत्ति, विकल्प, समुच्चय और समाधि ।

(ग) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण,
अतद्गुण और उत्तर ।

(५) गुणार्थप्रतीतिमूलक :

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति ।

इनके अतिरिक्त रुच्यक ने संसृष्टि और संकर को संश्लेष पर आधारित
माना है तथा भाविक, उदात्त, स्वभावोक्ति, रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी, समाहित,
भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को अवर्गीकृत रखा है । परिणाम, उल्लेख,
विकल्प और विचित्र—ये उनके द्वारा मान्य नवीन अलंकार हैं ।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि^१ ने अर्थालंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया
है—(१) अतिशयोक्तिमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) शृङ्खलामूलक, (विशिष्ट-
वाक्यसन्निवेशमूलक, (५) लोकन्यायमूलक और (६) रसवदादि ।

१. द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि ।

(१) अतिशयोक्तिमूलक—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमे-योपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति और श्लेष ।

(२) विरोधमूलक—विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य और विशेष ।

(३) शृङ्खलामूलक—कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिङ्ग और अनुमान ।

(४) विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक—यथासंख्या, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय और समाधि ।

(५) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ।

(६) रसवदादि—रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, संसृष्टि और संकर ।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अतिशयोक्ति वर्ग में आये हुए अलंकारों को कोई नाम नहीं दिया है, किन्तु भामह की तरह अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति को ही स्वीकार किया है।^१ इसके समर्थन में उन्होंने भामह के काव्यालंकार से एक कारिका^२ उद्धृत की है, जिससे स्पष्ट होता है कि नरेन्द्रप्रभसूरि प्रारम्भिक २८ अलंकारों को अतिशयोक्तिमूलक मानते हैं। शेष वर्गों का विभाजन उन्होंने नामोल्लेखपूर्वक किया है।

अजितसेन ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है—(१) प्रतीयमान शृङ्गार-रस-भावादिरूप, (२) स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप, (३) अस्फुटप्रतीयमान-वस्तुरूप और (४) प्रतीयमान औपम्यादिरूप।^३

१. तामेतां सर्वाभ्यतिशयोक्तिं वदन्ति विद्वांसो ब्रुवते ।

—अलंकारमहोदधि, पृ० २३१।

२. सैषा सर्वापि वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

—द्रष्टव्य, वही, पृ० २३१ ।

३. प्रतीयमानशृङ्गाररसभावादिका मता ।

स्फुटा प्रतीयमानाऽन्या वस्त्वौपम्यतदादिके ॥ —अलंकारचिन्तामणि, ४।४।

(१) प्रतीयमान शृङ्गारस-भावादिरूप—प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी, समाहित और भाविक ।^१

(२) स्फुटप्रतीयमानवस्तरूप—व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्य, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और अनुक्त-निमित्ता-विशेषोक्ति ।^२

(३) अस्फुटप्रतीयमानवस्तरूप—उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास, विभावना, उक्तिनिमित्त-विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र (विचित्र), अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, माला, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार, पर्याय, परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलन, सामान्य, असंगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ।^३

(४) प्रतीयमान औपम्यादिरूप—परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव (अपह्नुति), उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति ।^४

अजितसेन ने एक अन्य प्रकार से भी अलंकारों का वर्गीकरण किया है,^५ जो इस प्रकार है—

(१) अध्यवसायमूलक—अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा ।

(२) विरोधमूलक—विषम, विशेषोक्ति, विभावना, चित्र (विचित्र), असंगति, अन्योन्य, व्याघात, तद्गुण, भावि और विशेष ।

(३) वाक्यन्यायमूलक—परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, यथासंख्य और समुच्चय ।

(४) लोकव्यवहारमूलक—उदात्त, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम, समाधि, पर्याय, परिवृत्ति, प्रत्यनीक और तद्गुण ।

(५) तर्कन्यायमूलक—अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग और अनुमान ।

१-४ : अलंकारचिन्तामणि, पृ० ११२ ।

५. वही, पृ० ११४ ।

(६) शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक—दीपक, सार, कारणमाला, एकावली और माला ।

(७) अपह्नुवमूलक—मोलन, वक्रोक्ति और व्याजोक्ति ।

(८) विशेषणवैचित्र्यहेतुक—परिकर और समासोक्ति ।

उपर्युक्त अलंकार-वर्गीकरण के प्रसंग में रुद्रट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि और अजितसेन—इन चार आचार्यों के मतों को उद्धृत किया गया है, जिनमें अन्तिम दो जैनाचार्य हैं ।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकार-वर्गीकरण रुय्यक से प्रभावित है । अन्तर केवल इतना है कि रुय्यक ने जिन अलंकारों के मूल में सादृश्य को स्वीकार किया है, वहीं नरेन्द्रप्रभसूरि ने उनके मूल में अतिशयोक्ति माना है । रुय्यक ने रसवदादि अलंकारों को अवर्गीकृत रखा है, किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हें रसवदादि की संज्ञा से अभिहित किया है । शेष विवेचन में प्रायः समानता है ।

अजितसेन ने दो प्रकार से अलंकार-वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो विद्यानाथ से पूर्णतः प्रभावित है । जहाँ विद्यानाथ ने मालादीपक अलंकार का उल्लेख किया है, वहाँ अजितसेन ने माला और दीपक—इन दो अलंकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि अजितसेन ने 'माला' अलंकार की गणना नहीं की है ।

ध्वनि का स्रोत :

ध्वनि का मौलिक विवेचन व्याकरणशास्त्र में मिलता है, जिसे वैयाकरण स्फोट-सिद्धान्त के नाम से अभिहित करते हैं। वहीं से ध्वनि शब्द काव्यशास्त्र में गृहीत है, जिसका संकेत ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण में 'सूरिभिः' पद से किया है।^१ पुनः 'सूरिभिः' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—मुख्य रूप से प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वे सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं—

‘प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।’^२

वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने हैं—नित्य और अनित्य। वैखरी ध्वनि से व्यंग्य, बुद्धि ग्राह्य स्फोट रूप शब्द नित्य है और जिसकी सत्ता सुनने के द्वितीय क्षण में विनष्ट हो जाती है, वह अनित्य है। जैसे—जब 'रामः' आदि पदों का उच्चारण किया जाता है, तब सुनाई देने के साथ ही विनष्ट होने वाला शब्द अनित्य है और स्फोट रूप में गृहीत होने वाला शब्द नित्य है।

अलंकारशास्त्र अपने प्रारम्भिक काल में एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत आबद्ध था। तत्कालीन विद्वान् काव्य को शब्दार्थ साहित्य के रूप में प्रतिपादित कर शब्द और अर्थ के विषय में अपने-अपने ढंग से विवेचन करने में संलग्न थे। उसमें सर्वाधिक महत्ता अलंकारों को प्राप्त थी। यहाँ तक कि रस जैसे सहृदय-गम्य तत्त्व को अलंकारों का आवरण पहिनाकर रसवद् आदि अलंकारों की कल्पना की गई। उस समय तक काव्य की आत्मा 'ध्वनि' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की ओर किसी का विशेष ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। अगर किसी ने

१. ध्वन्यालोक, १।१३।

२. वही, १।१३ वृत्ति।

उस ओर भी ध्यान दिया तो उसका विचार शब्द और अर्थ की संघटना से ऊपर नहीं उठ पाया। आनन्दवर्धन के द्वारा काव्य में आत्मा के रूप में ध्वनि की स्थापना से पूर्व विद्वत्समाज में विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थीं। जिनका उल्लेख आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से किया है।^१

१—कुछ लोग ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते थे।

२—अन्य लोग लक्षणा में उसको गतार्थ करते थे।

३—शेष लोग ध्वनि को अनिर्वचनीय मानते थे।

ऐसी स्थिति में ध्वनि जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व की स्थापना करना आनन्दवर्धन जैसे समर्थ आचार्य के लिए ही सम्भव था। अतः उन्होंने एक ही विषय का पुनः पुनः उल्लेख और उसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर लोगों को उस ओर आकृष्ट किया। इसी कारण संस्कृत साहित्य में आनन्दवर्धन को ध्वनि-प्रतिष्ठापक के नाम से आज भी सम्मानित किया जाता है। ध्वनि-सिद्धान्त का उद्बोध कराने के लिए सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य आनन्दवर्धन का कृतज्ञ है।

जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है कि अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक काल में ध्वनि-सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त नहीं थी। अतः उसकी प्रतिष्ठा आचार्य आनन्दवर्धन ने की। पुनः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य महिम-भट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के लगभग चालीस उदाहरणों को प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया है तथा ध्वनि का सयुक्तिक खण्डन किया है। किन्तु परवर्ती आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र ने महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त को पुनः प्रतिष्ठा की है, जिससे ध्वनि-सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और उसका श्रेय निःसन्देह आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र को है।

-
१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावं जगदुरपरे भावतमाहुस्तमन्ये।
केचित् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥

—ध्वन्यालोक, १।१।

ध्वनि-स्वरूप :

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का प्रतीयमान अर्थ के नाम से भी उल्लेख किया है ।^१ उनके अनुसार व्यंग्य की प्रधानता ही ध्वनि है ।^२ अन्यत्र उन्होंने ध्वनि का लक्षण करते हुए लिखा है कि—जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को त्यागकर अन्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) की अभिव्यक्ति कराते हैं, उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं ।^३

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने ध्वनि का लक्षण करते हुए लिखा है कि—‘मुख्याद्य-तिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः’^४—अर्थात् मुख्य आदि (आदि पद से गौण और लक्ष्यार्थ) के अतिरिक्त प्रतीयमान व्यंग्यार्थ ध्वनि है । विजयवर्णी के अनुसार मुख्य, लक्ष्य और गौण से भिन्न जो व्यंग्य रूप अर्थ की प्रतीति होती है वह ध्वनि है ।^५ इसी प्रकार अजितसेन ने लिखा है कि—अनुगत वस्तुओं में वाक्यार्थ के उपकार के लिए भिन्नार्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-व्यापार व्यञ्जनावृत्ति (ध्वनि) है ।^६ निष्कर्ष यह है कि सभी आचार्यों को मुख्यादि से पृथक् प्रतीत होने वाला अर्थ ही ध्वनि के रूप में मान्य है ।

ध्वनि शब्द का प्रारम्भ से ही दो अर्थों में व्यवहार होता आ रहा है—सामान्यतः व्यंग्य अर्थ को समझाने के लिए और काव्यविशेष को समझाने के लिए । जैनाचार्यों ने प्रथम अर्थ को ही ध्यान में रखकर विवेचन किया है, जब कि आनन्दवर्धन ने द्वितीय अर्थ को ध्यान में रखकर ध्वनि-स्वरूप निरूपण किया है ।

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव.....॥ ध्वन्यालोक, १।४ ।

२. व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः ।—वही, पृ० ५६ ।

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥—वही, १।१३ ।

४. काव्यानुशासन, १।१९ ।

५. मुख्यार्थल्लक्ष्यतो गौणाद्भिन्नो योऽर्थः प्रतीयते ।

स व्यंग्यो ध्वनिरित्युक्तः कलाशास्त्रविशारदैः ॥

—शृंगारार्णवचन्द्रिका, २।२४ ।

६. अनुगतेषु वस्तुषु वाक्यार्थोपस्काराय भिन्नार्थगोचरः शब्दव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः ।

—अलंकारचिन्तामणि, पृ० २६८ ।

ध्वनि-वैविध्य—आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि के तीन भेदों को स्वीकार किया है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि ।^१ प्रथम दो भेद संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य हैं और अन्तिम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य । उन्होंने ध्वनि के प्रथम भेद वस्तु-ध्वनि के पांच भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) किस प्रकार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला होता है ।^२

जैनाचार्य हेमचन्द्र^३ और नरेन्द्रप्रभसूरि^४ ने भी सर्वप्रथम आनन्दवर्धन-सम्मत ध्वनि के वस्तु, अलंकार और रसध्वनि नामक उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है । हेमचन्द्र ने ध्वनि के प्रथम भेद वस्तुध्वनि के पृथक्-पृथक् तेरह भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ से भिन्न और विविध प्रकार का हो सकता है । उनके अनुसार कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है और प्रतीयमानार्थ निषेध रूप । यथा—

भम घम्मिय वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।

गोलाणइ कच्छकुडङ्गवासिणा दरियसीहेण ॥^५

‘हे पंडितजी महाराज ! अब निःशंक होकर धूमो, क्योंकि गोदावरी के किनारे कुंज में रहने वाले उन्मत्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है ।’ यहाँ ‘निःशंक होकर धूमो’ इस प्रकार विधिपरक वाक्य के होने पर भी वहाँ कुंज में सिंह है और तुम कुत्ते से भी डरते हो, इसलिए तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिए, इस प्रकार निषेध की प्रतीति हो रही है ।

कहीं वाच्यार्थ निषेधपरक होता है और प्रतीयमानार्थ विधिरूप । यथा—

अत्था एत्थ तु मज्जइ एत्थ अहं दियसयं पुलोएसु ।

मा पहिय रत्तिअंधय सेज्जाए महं नु मज्जिहसि ॥^६

‘हे रतौंधी आने वाले पथिक ! तुम दिन में ही अच्छी तरह से देख लो, यहाँ सास सोती है और यहाँ मैं । रात्रि में हम दोनों की शय्या पर मत गिर पड़ना ।’ यहाँ ‘हम दोनों की शय्या पर मत गिर पड़ना’ इस प्रकार निषेधपरक वाक्य

१. ध्वन्यालोक, पृ० २० ।

२. वही, पृ० २०-२५ ।

३. अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रेधा ।—काव्यानुशासन, पृ० ४७ ।

४. यद्यप्यनेकधा व्यंग्यं व्यंजकादिविभेदतः ।

तथापि वस्त्वलंकार-रसात्मत्वात् त्रिषैव तत् ॥—अलंकारमहोदधि, ३।६ ।

५. काव्यानुशासन, पृ० ४७ ।

६. काव्यानुशासन, पृ० ५३ ।

होने पर, यह सास की शय्या है और यह मेरी, इस प्रकार दिन में देखकर रात्रि में तुम्हें यहाँ मेरे पास आना चाहिए, इस विधिपरक अर्थ की प्रतीति हो रही है।
 कहीं मुख्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमानार्थ विध्यन्तर रूप। यथा—

बहलतमाहयराइं अज्ज पउत्थो पई घरं सुन्नं ।

तह जग्गिज्ज सयज्जय न जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥^१

‘यह रात्रि बड़ी दुःखदायिनी और अन्धकारपूर्ण है, पतिदेव परदेश गये हैं और घर सूना है, इसलिए हे पड़ोसी ! तुम जागते रहना, जिससे हमारी चोरी न हो जाये।’ यहाँ ‘हमारी चोरी न हो जाए, अतः तुम जागते रहना’ इस प्रकार विधि का कथन होने पर, रात्रि अन्धकार युक्त है, पतिदेव परदेश गये हैं, घर सूना है, अतः तुम निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ, इस प्रकार विध्यन्तर की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होता है और प्रतीयमानार्थ निषेधान्तर रूप। यथा—

आसाइयं अणाएण जेत्तियं तेत्तियण बंधदिहि ।

ओरमसु वसह ईण्ह रक्खिज्जइ गह्वईच्छित्तं ॥^२

‘हे वृषभ ! अन्याय पूर्वक जितना प्राप्त कर लिया है उतने से धैर्य धारण करो और निवृत्त हो जाओ। इस समय गृहपति के द्वारा खेत की रक्षा की जा रही है।’ इस प्रकार यहाँ गृहपति के क्षेत्र में दुष्ट वृषभ के निवारण (निषेध) रूप वाच्यार्थ से उपपत्ति के निवारण रूप निषेधान्तर की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ न विधि रूप है और न निषेध रूप, फिर भी विधि की प्रतीति होती है। यथा—

महुएहिं किं पथिय जइ हरसि नियंसणं नियंबामो ।

साहेमि कस्स रन्ने गामो दूरे अहं एक्का ॥^३

‘हे मधुक ! अथवा हे पथिक ! यदि तुम मेरे नितम्ब से सम्पूर्ण वस्त्र को हटाते हो, तो मैं इस जंगल में किससे कहूँ, गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ।’ यहाँ विधि और निषेध के न कहने पर भी मैं अकेली हूँ, गाँव दूर है, इस प्रकार

१. काव्यानुशासन, पृ० ५३।

२. वही, पृ० ५४।

३. वही, पृ० ५४।

निर्जन देश के उपदेश से 'मेरा नितम्ब-वस्त्र भी हरण कर लो' इस प्रकार विधि की प्रतीति हो रही है ।

कहीं विधि और निषेध के न होने पर भी निषेध की प्रतीति होती है ।
यथा—

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।

गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥^१

'जीने की इच्छा प्रबल है, धन प्राप्ति की इच्छा विशेष नहीं (दुर्बल) है । हे प्रिय ! अब चाहे तुम चले जाओ, अथवा रुक जाओ, मैंने अपनी अवस्था कह दी है ।' यहाँ 'चले जाओ अथवा रुक जाओ' इस प्रकार विधि और निषेध के न होने पर भी 'जीने की इच्छा प्रबल है, धन-प्राप्ति की इच्छा विशेष नहीं है'—इस वचन से तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ, इस प्रकार के उप-क्षेपण से गमन निषेध की प्रतीति हो रही है ।

कहीं विधि और निषेध के रहने पर भी विध्यन्तर की प्रतीति होती है ।
यथा—

नियदइयदंसणुक्खित्त पहिय अन्नेण वच्चसु पहेण ।

गहवइधूआ दुल्लंघवाउरा इह हयग्गामे ॥^२

'अपनी पत्नी को देखने में ही लगे रहने वाले हे पथिक ! अन्य मार्ग से जाओ । इस दुष्ट ग्राम में स्वामी की पुत्री के जाल से बचना कठिन है ।' यहाँ 'अन्य मार्ग से जाओ' इस प्रकार विधि और निषेध के कहने पर 'हे अपनी पत्नी के अनुकूल निरभिमानी पथिक ! इस ग्राम में आपको स्वामी की पुत्री के रूप को देखना चाहिए' इस प्रकार विध्यन्तर की प्रतीति हो रही है ।

कहीं विधि और निषेध से निषेधान्तर की प्रतीति होती है । यथा—

उच्चिणसु पडियकुसुमं मा धुण सेहालियं हलियसुण्हे ।

एस अवसाणविरसो ससुसेण सुओ वलयसद्दो ॥^३

'हे कृषक की पुत्रवधू ! नीचे गिरे हुए फूलों को ही चुन, शेफालिका के वृक्ष को मत हिला । यह अन्त में अप्रिय कंकण की आवाज ससुर जी ने सुन ली है ।' यहाँ 'गिरे हुए फूलों को ही चुन, शेफालिका के वृक्ष को मत हिला'—इस प्रकार विधि

१. काव्यानुशासन, पृ० ५४ ।

२. वही, पृ० ५५ ।

३. वही, पृ० ५५ ।

और निषेध के कहने पर 'हे सखि ! चौर्यरत में आसक्त तुम्हें कंकण की आवाज नहीं करना चाहिए' इस निषेधान्तर की प्रतीति हो रही है ।

कहीं वाच्यार्थ विधि रूप होने पर भी अनुभयरूप प्रतीत होती है ।
यथा—

सणियं वच्च किसोयरि पए पयत्तेण ठवसु महिवट्ठे ।

भज्जिहिसि वत्थयत्थणि विहिणा दुक्खेण निम्मविया ॥^१

'हे कृशोदरि ! धीरे चलो, उल्लास पूर्वक संसार में सुख से रहो, अपनी इच्छा-नुसार अभीष्ट का सेवन करो, विधाता ने तुम्हें दुःख से मुक्त कर दिया है ।' यहाँ 'धीरे चलो' इस प्रकार विधि का कथन होने पर भी न विधि और न निषेध, अपितु वर्णन मात्र की प्रतीति हो रही है ।

कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है ।
यथा—

दे आ पसिअ निअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमोनिवहे ।

अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाण वि हयासे ॥^२

'हे सुंदरो ! प्रसन्न हो जाओ, लौट चलो, मुखरूपी चन्द्रमा की चांदनी से अन्धकार समूह का विनाश करने वाली हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डाल रही हो ।' यहाँ 'लौट चलो' इस प्रकार निषेध का कथन होने पर भी, न निषेध और न विधि, अपितु नायिका के मुख सौन्दर्य का वर्णन मात्र अभीष्ट है ।

कहीं वाच्यार्थ के विधि और निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है । यथा—

वच्च महं चिअ एक्काए होंतु नोसासरोइअव्वाइं ।

मा तुज्झ वि तीए विणा दक्खिण्हयस्स जायंतु ॥^३

'जाओ ! मैं एकाकी ही निःश्वास और रोने को सह लूँगी, दाक्षिण्य (शिष्टाचार) से हत कहीं उसके बिना तुम्हें भी यह सब न सहना पड़े ।' यहाँ 'मैं ही निःश्वास और रोने को सह लूँगी, उसके बिना तुम्हें भी यह सब न सहना पड़े' इस प्रकार विधि और निषेध का कथन होने पर भी न विधि है और न

१. काव्यानुशासन, पृ० ५५ ।

२. वही, पृ० ५५ ।

३. वही, पृ० ५६ ।

निषेध, अपितु अनुचित आचरण करने वाले प्रियतम के प्रति उपालम्भन मात्र की प्रतीति हो रही है।

कहीं वाच्यार्थ के न विधि और न निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप होता है। यथा—

णहमुहपसाहिअंगो निहाधुम्मंतलोअणो न तहा ।

जह निव्वणाहरो सामलंग दूमेसि मह हिअयं ॥^१

‘हे श्यामलाङ्ग! नखाग्र से प्रसाधित (चिह्नित) अङ्ग तथा निद्रा से अधखुले नेत्रों वाली स्थिति से मेरा हृदय उतना कष्ट नहीं पा रहा है, जितना कि तुम्हारे व्रण (घाव) रहित (अथवा निर्वर्ण) अधर को देखकर।’ यहां पर नायक और प्रतिनायिका में घनिष्ट प्रेम की सूचना देने वाली नायिका का, नायक के प्रेम के विषय में नैराश्य व्यंग्य है। इस प्रकार प्रस्तुत में वाच्यार्थ न विधि रूप है और न निषेध रूप, फिर भी प्रतीयमानार्थ अनुभय रूप प्रतीत हो रहा है।

कहीं वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ विभिन्न विषय वाला भी हो सकता है। यथा—

कस्स व न होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं ।

सभमरपउमग्घाइरि वारिअवामे सहसु इण्हिं ॥^२

‘अथवा प्रिया के सत्रण अधर को देखकर किसको भला क्रोध नहीं आता है। मना करने पर भी न मानकर भ्रमर सहित कमल को सूंघने वाली अब सह। यहां वाच्यार्थ सखि विषयक है, किन्तु प्रतीयमानार्थ उसके पति और उपपति विषयक है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी ध्वनि (व्यञ्जना) की सिद्धि के लिए विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से विध्यन्तर, निषेध से निषेधान्तर, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय, संशय से निश्चय, निन्दा से स्तुति, और वाच्य से विभिन्न विषय रूप अनेक भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है।^३ इनके अधिकांश उदाहरण हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने वाच्य से भिन्न स्वरूप वाली वस्तुध्वनि के तेरह तथा नरेन्द्रप्रभसूरि ने नौ पृथक्-पृथक् उदाहरणों को प्रस्तुत कर ध्वनि का प्रबल समर्थन किया है, जबकि इसके प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन ने केवल

१. काव्यानुशासन, पृ० ५६ ।

२. वही, पृ० ५७ ।

३. अलंकारमहोदधि, पृ० ११६-११८ ।

विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय और वाक्य से विभिन्न विषय रूप पांच भेदों का ही सोदाहरण निरूपण किया है।^१ इसी प्रकार मम्मट ने भी इसके कुछ ही भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है।^२

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य :

सामान्यतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद माने जाते हैं—शब्दशक्तिमूलक-व्यंग्य, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य और उभयशक्तिमूलकव्यंग्य। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र को प्रथम दो भेद ही मान्य हैं,^३ उन्हें उभयशक्तिमूलकव्यंग्य शब्दशक्तिमूलक-व्यंग्य से पृथक् मान्य नहीं है, क्योंकि वहां पर प्रधान रूप से शब्द की ही व्यंजना होती है।^४ नरेन्द्रप्रभसूरि^५ और अजितसेन^६ ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उक्त तीनों भेदों को समान रूप से स्वीकार किया है।

शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र के अनुसार अनेकार्थक मुख्य शब्द का संसर्गादि नियामकों द्वारा अभिधा रूप व्यापार के नियंत्रित हो जाने पर मुख्य शब्द वस्तु और अलंकार का व्यंजक होता है, अतः शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य माना जाता है। इसी प्रकार अमुख्य अर्थात् गोण और लाक्षणिक का मुख्यार्थ-बाधा आदि के द्वारा लक्षणा रूप व्यापार के नियंत्रित हो जाने पर अमुख्य-शब्द वस्तु का व्यंजक होता है, अतः वहां भी शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य होता है। ये दोनों पद और वाक्य के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।^७ संसर्गादि का ज्ञान कराने हेतु हेमचन्द्र ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से निम्न दो कारिकाएं उद्धृत की हैं—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥^८

१. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, पृ० २०-२५ ।

२. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, पृ० २४३-२४४ ।

३. व्यंग्यः शब्दार्थशक्तिमूलः ।—काव्यानुशासन, १।२२ ।

४. वही, १।२२ वृत्ति ।

५. अलंकारमहोदधि, ३।५७ ।

६. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५४, पृ० २६८ ।

७. काव्यानुशासन, १।२३ ।

८. वही, १। २३ वृत्ति । वाक्यपदीय २।३१५-३१६ ।

संसर्ग—यथा—‘वनमिदमभयमिदानीं यत्रास्ते लक्ष्मणान्वितो रामः’
यहाँ लक्ष्मण के योग से दाशरथि राम और लक्ष्मण का ज्ञान हो रहा है ।^१

विप्रयोग—यथा—‘विना सीतां रामः प्रविशति महामोहसरणिम्’ यहाँ
सीता के वियोग से दाशरथि राम का ज्ञान हो रहा है ।^२

साहचर्य—यथा—‘बुधो भौमश्च तस्योच्चैरनुकूलत्वमागतौ’ यहाँ बुध और
भौम के परस्पर साहचर्य से ग्रह-विशेष का ज्ञान हो रहा है ।^३

विरोध—यथा—‘रामार्जुनव्यतिकरः साम्प्रतं वर्तते तयोः’ यहाँ परस्पर
विरोध से भार्गव और कार्तवीर्य का ज्ञान हो रहा है ।^४

अर्थ (प्रयोजन)—यथा—‘सैन्धवमानय, मृगयां चरिष्यामि’ यहाँ प्रयोजन से
अश्व का ज्ञान हो रहा है ।^५

प्रकरण—यथा—‘अस्माद्भ्राग्यविपर्ययाद्यदि पुनर्देवो न जानाति तम्’
यहाँ प्रकरण से अनेकार्थक देव शब्द युष्मद् (आप) अर्थ में नियन्त्रित है । प्रकरण
शब्द रहित होता है और अर्थ (प्रयोजन) शब्दवान्, यही इन दोनों में
अन्तर है ।^६

लिङ्ग (चिह्न)—यथा—‘कोदण्डं यस्य गाण्डीवं स्पर्धते कस्तमर्जुनम्’ यहाँ
गाण्डीव इस लिङ्ग (चिह्न) से अर्जुन का ज्ञान हो रहा है ।^७

शब्दान्तरसन्निधि—यथा—‘किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिणः’
यहाँ शृंगारी इस शब्दान्तर के संनिधान से देव का अर्थ कामदेव है ।^८

सामर्थ्य—यथा—‘क्वणति मधुना मत्तश्चेतोहरः प्रिय कोकिलः’ यहाँ
सामर्थ्य से मधु का अर्थ वसन्त प्रतीत हो रहा है ।^९

औचित्य—यथा—‘तन्व्या यत्सुरतान्तकान्तनयनं वक्त्रं रति व्यत्यये ।
तत्त्वां पातु चिराय.....’ यहाँ औचित्य के कारण पालन प्रसन्नता रूपी अनुकूलता
अर्थ में नियन्त्रित है ।^{१०}

देश—यथा—‘महेश्वरस्यास्य कापि कान्ति’ यहाँ राजधानी रूप देश से
राजा का बोध हो रहा है ।^{११}

१-९. काव्यानुशासन, पृ० ६४ ।

१०-११. काव्यानुशासन, पृ० ६५ ।

काल—यथा—‘चित्रभानुविभात्यद्विः’ यहाँ काल विशेष से सूर्य का ज्ञान हो रहा है ।^१

व्यक्ति—यथा—‘मित्रं हन्तितरां तमः परिकरं धन्ये दृशौ मादृशाम्’ यहाँ व्यक्ति विशेष से मित्र शब्द सुहृत् अर्थ में नियंत्रित है ।^२ उदात्त आदि स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान काव्य में अनुपयोगी है ।^३ परन्तु काकु रूपी स्वर अपना पृथक् महत्त्व रखता है । जैसे—‘मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्’ यहाँ काकु रूप स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान होता है ।

आदि पद से अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार को ग्रहण किया गया है ।^४

अभिनय—यथा—‘इतने बड़े स्तनों वाली, इतने बड़े नेत्रों से, मात्र इतने दिनों में, इस प्रकार हो गई ।’^५

अपदेश—यथा—‘यहाँ से सम्पत्ति को प्राप्त किया हुआ वह राक्षस यहाँ ही विनष्ट होने योग्य नहीं है । विषवृक्ष का भी पालन-पोषण कर उसे अपने द्वारा ही काटना उचित नहीं है ।’^६

निर्देश—यथा—‘राजकुमारीजी ! भाग्य से हम लोग ठीक हैं कि यहाँ पर ही कोई किसी का खड़ा है, यह हमको अंगुली के संकेत से कह रहे हैं ।’^७

संज्ञा—यथा—‘जब शिवजी वार्तालाप के प्रसंग में (पार्वतीजी से) इधर-उधर की बातों का उत्तर माँगते तो पार्वती जी दृष्टि घुमाकर तथा सिर हिलाकर उत्तर देती थीं ।’^८

१-४. काव्यानुशासन, पृ० ६५ ।

५. एद्दहमित्तत्थणिया एद्दहमित्तेहि अच्छिवत्तेहि ।

एयावत्थं पत्ता एत्तियमित्तेहि दियहेहि ॥—वही, पृ० ६५ ।

६. इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।

विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥—वही, पृ० ६५ ।

७. भर्तृदारिके दिष्ट्या वर्धामहे यदत्रैव कोऽपि कस्यापि तिष्ठतीति मामङ्गुली-विलासेनाख्यातवत्यः ।—वही, पृ० ६५ ।

८. अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम् ।

वीक्षितेन परिगृह्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥

—काव्यानुशासन, पृ० ६६

ईंगित—यथा—‘हम लोगों का मिलन कब होगा इस प्रकार जनाकीर्ण के कारण कहने में असमर्थ नायक को जानकर नायिका ने क्रीड़ा-कमल को सिकोड़ दिया ।’^१

आकार—यथा—आपने उष्ण निःश्वास पूर्वक जो निवेदन दिया है, उससे मेरा मन संशय को ही प्राप्त हो रहा है, क्योंकि तुम्हारे योग्य ही कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता है, पुनः जिसे तुम चाहती हो वह तुम्हें अलभ्य कैसे होगा ?’^२

इस प्रकार संसर्गादि से नियंत्रित अभिधा में जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना-व्यापार से ही होती है । अमुख्य शब्द में भी मुख्यार्थ-बाध आदि के नियंत्रित हो जाने पर प्रयोजन का बोध व्यञ्जना-व्यापार से ही होता है । इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि उस अर्थ में संकेत न होने के कारण अभिधा नहीं हो सकती है । मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षण के अभाव में गौणी अथवा लक्षणा नहीं हो सकती है । लक्ष्य नहीं होता है और न उसका बाध होता है और न ही कुछ निमित्त है, न शब्द स्खलद्-गतिक (असमर्थ) है और न कोई प्रयोजन है । प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ मानने पर प्रयोजनान्तर की आकांक्षा होती है, पुनः वहाँ भी प्रयोजनान्तर की आकांक्षा होने पर अनवस्था दोष हो जाता है और लाभ की इच्छा से मूल का ही विनाश हो जाता है । प्रयोजन सहित लक्ष्य लक्षणा का विषय है, ऐसा कहना संभव नहीं है, क्योंकि विषय और प्रयोजन में अत्यन्त भेद होता है । प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषय भी घटादि हैं । प्रयोजन तो (नैयायिकों के मत में) अर्थाधिगति, (कुमारिल्लभट्ट के मत में) प्रकटता अथवा (प्रभाकर के मत में) संवित्ति है । इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्य गौणी और लक्षणा का विषय न होने से प्रयोजन में व्यञ्जना-व्यापार ही है ।^३

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी भर्तृहरि की ‘संसर्गो विप्रयोगश्च.....।’ इत्यादि उक्त दो कारिकाओं को उद्धृत कर संसर्गादि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।^४ ये

१. कदा नो संगमो भावीत्याकीर्णं वक्तुमक्षमम् ।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥—वही, पृ० ६६ ।
२. निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न विद्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥—वही, पृ० ६६
३. काव्यानुशासन, पृ० ६६ ।
४. द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि, ३।३३-३४ सवृत्ति ।

उदाहरण काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से संगृहीत हैं।^१ इसी प्रकार विजयवर्णी ने संयोगादिकों का उल्लेख करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।^२

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने संयोगादिकों के उल्लेख में यद्यपि मम्मट का अनुसरण किया है तथापि उदाहरण उन्होंने स्व-संगृहीत ही प्रस्तुत किए हैं। इसके साथ ही उन्होंने आदि पद से गृहीत अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जो महत्वपूर्ण हैं।^३

हेमचन्द्र ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम तीन भेद किए हैं—मुख्य, गीण और लक्षक। पुनः मुख्यशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि—ये दो भेद कर दोनों के पृथक्-पृथक् पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। शेष दो गीणशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य और लक्षकशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य भेदों के प्रभेद वस्तुध्वनि के पदगत और वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।^४ नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। पुनः दोनों में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—ये दो-दो भेद किए हैं। ये चारों पद और वाक्यगत भी होते हैं।

अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र ने वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की भी व्यञ्जकता स्वीकार की है^५ तथा वक्ता, प्रतिपाद्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यासत्ति, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा के वैशिष्ट्य से ध्वनित होने वाले अर्थ की मुख्य, अमुख्य और व्यंग्य रूपी अर्थ की व्यञ्जकता का सोदाहरण निरूपण किया है।^६ इसी प्रकार वक्ता आदि दो (या अधिक) के योग से भी व्यञ्जकता स्वीकार की है।^७ नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्र के समान ही वक्ता और बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की व्यञ्जकता को स्वीकार करते हुए

१. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, पृ० ७८-७९। काव्यानुशासन, पृ० ६४-६५।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, २।३०-४०।

३. काव्यानुशासन, पृ० ६७-७२।

४. अलंकारमहोदधि, २।३९।

५. वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यापि व्यञ्जकत्वम्।

—काव्यानुशासन, १।२९।

६. वही, १।२१ वृत्ति, पृ० ५८-६३।

७. वही, पृ० ६२।

सोदाहरण प्रतिपादन किया है^१ तथा वक्ता आदि दो (या अधिक) के योग से भी अर्थ की व्यञ्जकता स्वीकार की है।^२

हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं—वस्तु और अलंकार। पुनः वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलंकार तथा अलंकार के अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार नामक दो-दो भेद किए हैं। उनके अनुसार ये चारों भेद पद, वाक्य और प्रबन्धगत भी होते हैं।^३ हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—इन तीन भेदों का कथन न्यायोचित नहीं माना है, क्योंकि प्रौढोक्तिनिष्पन्नमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। प्रौढोक्ति के अतिरिक्त स्वतःसम्भवी अकिञ्चित्कर (अर्थहीन) है और कविप्रौढोक्ति ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति है, अतः उन्हें अधिक प्रपञ्च अभीष्ट नहीं है।^४

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम स्वतःसिद्ध और कविप्रौढोक्तिसिद्ध—ये दो भेद किए हैं। पुनः प्रत्येक के वस्तु और अलंकार—ये दो-दो भेद किए हैं। तत्पश्चात् वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलंकार तथा अलंकार के अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार नामक दो-दो भेद किए हैं।^५ उनके अनुसार ये आठों भेद पद, वाक्य और प्रबन्ध में समान रूप से पाये जाते हैं।^६

१. अलंकारमहोदधि, ३।७-८ सवृत्ति।

२. वही, पृ० ५२।

३. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, १।२४ सवृत्ति।

४. इह चार्थः स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम्। प्रौढोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव साध्यसिद्धेः। प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वतःसम्भविनोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरिति किं प्रपञ्चेन।

—वही, १।२४ वृत्ति। पृ० ७२-७४।

५. अलंकारमहोदधि, ३।५९-६०।

६. अन्ये तु पदवाक्ययोः।—वही, ३।६१।

सिद्धिचन्द्रगणि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के नरेन्द्रप्रभसूरि के समान प्रथम आठ भेदों को ही स्वीकार किया है और शेष भेदों को बुद्धि-चातुर्य मात्र कहा है ।^१

उभयशक्तिमूलकव्यंग्य—हेमचन्द्र ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को शब्दशक्ति-मूलकव्यंग्य से अतिरिक्त नहीं माना है, क्योंकि वहाँ प्रधान रूप से शब्द की ही व्यञ्जकता होती है ।^२ नरेन्द्रप्रभसूरि ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का वाक्यगत एक ही भेद माना है ।^३ अजितसेन ने भी उस भेद को स्वीकार किया है ।^४

आचार्य मम्मट ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का केवल वाक्यगत भेद ही स्वीकार किया है,^५ किन्तु सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट के इस मत का खण्डन करते हुए उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को पदगत भी स्वीकार किया है ।^६

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य :

जिस व्यंग्य के क्रम की सम्यक् प्रकारेण प्रतीति न हो वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहलाता है । अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के मध्य में होने वाले समय का ज्ञान नहीं होता है । इसमें रसादि ही व्यंग्य होते हैं, अतः इसे रसध्वनि के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । यद्यपि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से होती है तथा उसमें उक्त विभावादि क्रम भी पाया जाता है, किन्तु इसकी प्रतीति इतनी झटिति (शीघ्रता से) होती है कि उसके क्रम का बोध ही नहीं हो पाता है । अतः इसे असंलक्ष्यक्रम-

१. स्वतःसम्भवी प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध इति द्विविधोऽपि प्रत्येकं वस्त्वलंकाररूपत्वेन चतुर्विधो व्यञ्जकः । तस्य प्रत्येकं वस्त्वलंकारो व्यंग्य इत्यष्टविधो ध्वनिः । अन्यत् तु सर्वं स्वबुद्धिसौष्ठवप्रकटनम् ।

—काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० २५ ।

२. उभयशक्तिमूलस्तु शब्दशक्तिमूलान्नातिरिच्यते शब्दस्यैव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वात् ।—काव्यानुशासन, १।२२ वृत्ति, पृ० ६३ ।

३. वाक्य एवोभयोत्थः स्यात्..... ।—अलंकारमहोदधि, ३।६१, पृ० १०४ ।

४. द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, ५।१५४, पृ० २६८ ।

५. काव्यप्रकाश, पृ० १६१ ।

६. उभयशक्तिमूलं बिना पदे स्युरिति प्राञ्चः । सोऽपि पदे भवतीति नवीनाः ।
—काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० ६२ ।

व्यंग्य कहा गया है। इसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए काव्यशास्त्रियों ने 'उत्पलशतपत्रभेदन्याय' का सहारा लिया है। अर्थात् जिस प्रकार सौ कमल-पत्रों के समूह में एक साथ सुई चुभाने से कमलपत्रों का क्रमेण ही भेदन होता है, किन्तु शीघ्रता के कारण पूर्वापर की प्रतीति नहीं होती है। उसी प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में क्रम के होने पर भी भेद की प्रतीति नहीं होती है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रस-भाव आदि के भेद से अनन्त भेद सम्भव हैं, किन्तु आचार्यों ने अगणनीय होने से प्रायः एक ही भेद माना है।^१ इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन ध्यातव्य है कि—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावस्थिति, भावसन्धि, भावशबलता आदि अर्थशक्ति-मूलकव्यंग्य हैं। 'रसादिश्च' इस सूत्र में चकार का ग्रहण पद, वाक्य और प्रबन्ध में समावेश के लिए किया गया है। रसादि सदा व्यंग्य ही होते हैं, वे कभी भी वाच्य नहीं होते हैं, इसलिए रसादि की प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् सूत्र कहा गया है। क्योंकि वस्तु और अलंकार तो वाच्य भी होते हैं।^२

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के ८ भेद और अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के १५ भेदों को मिलाकर ध्वनि के कुल २३ भेद संक्षेप में कहे गये हैं, जिनके स्पष्टीकरण हेतु इसी अध्याय के अन्त में संलग्न तालिका क्रमाङ्क १ द्रष्टव्य है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का अगणनीय एक ही भेद स्वीकार किया है।^३ पुनः यह पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदान्त, रचना और वर्ण के भेद से छः प्रकार का होता है।^४

इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार अब तक शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के ८ भेद, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के २४ भेद और उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का १ भेद मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कुल ३३ भेद हुए तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के छः भेद मिलाने पर ३९ भेद। इन ३९ भेदों की ३९ के साथ संसृष्टि होकर १५२१ भेद होते हैं। पुनः तीन प्रकार का संकर होकर ४५६३ भेद होते हैं।

१. काव्यप्रकाश, पृ० १६२। अलंकारमहोदधि, पृ० १०३-१०४।

२. काव्यानुशासन, १।२५ सवृत्ति।

३. एकैव हि रसादीनामगण्यत्वाद् भिधा भवेत्।

—अलंकारमहोदधि, ३।६१।

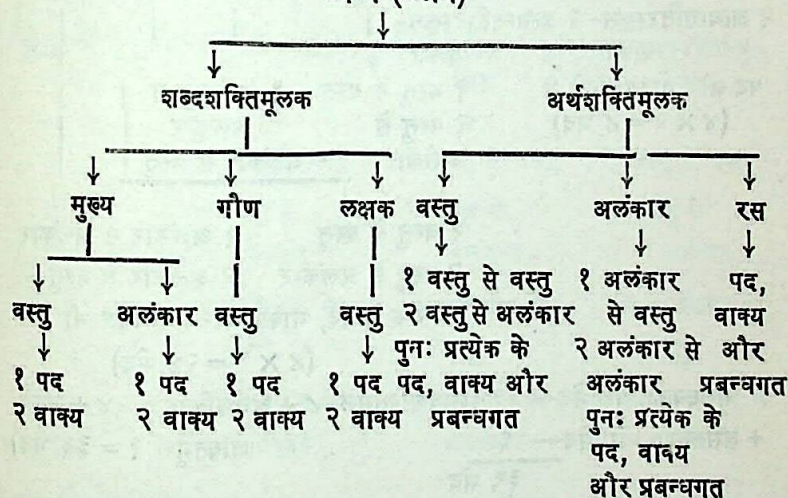
४. वही, ३।६२-६३।

इस प्रकार १५२१ संसृष्टि के और ४५६३ संकर के मिलाने पर ६०८४ मिश्रित भेद हुए। इनमें ३९ शुद्ध भेद मिला देने पर ध्वनि के कुछ ६१२३ भेद होते हैं।^१ इसके स्पष्टीकरण हेतु इसी अध्याय के अन्त में संलग्न तालिका क्रमाङ्क २ द्रष्टव्य है।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के कुल भेदों की संख्या १०४५५ कही है। आचार्य हेमचन्द्र ने संक्षेप में मात्र २३ भेदों का उल्लेख किया है और आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ६१२३ ध्वनि-भेदों की गणना की है। इन सभी आचार्यों के ध्वनि-भेदों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि के समान मम्मट के ध्वनि-भेदों की तालिका (क्रमाङ्क ३) भी संलग्न है।

आचार्य हेमचन्द्रकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका-१)

व्यंग्य (ध्वनि)



शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य ८ भेद

+ अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य १५ भेद

(वस्तु ६ + अलङ्कार ६

+ रस ३ = १५)

२३ कुल ध्वनि भेद

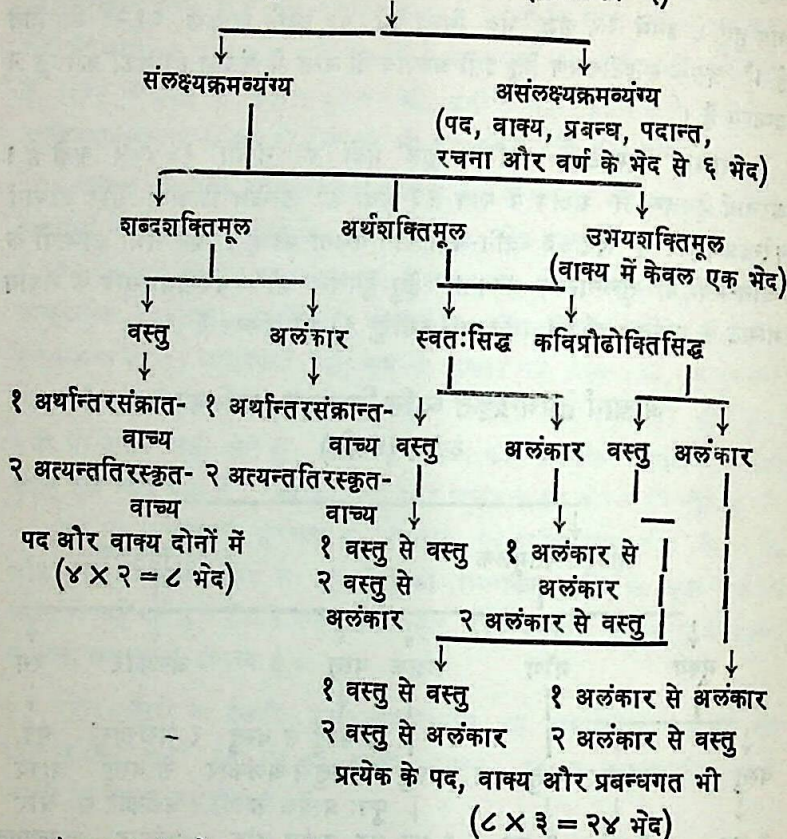
१. संसृष्टेरकरूपायास्त्रिरूपात् सङ्करादपि।

सिद्धभिन्मीलनाच्च स्युस्ता विश्वार्क-रसौमिताः ॥—बही, ३।६४।

२५०

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका-२)



संलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद— ३३ (शब्दशक्तिमूल ८ + अर्थशक्तिमूल २४ + उभय-
+ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद— ६
३९ भेद

संसृष्टि—३९ के साथ ३९ की, ३९ × ३९ = १५२१

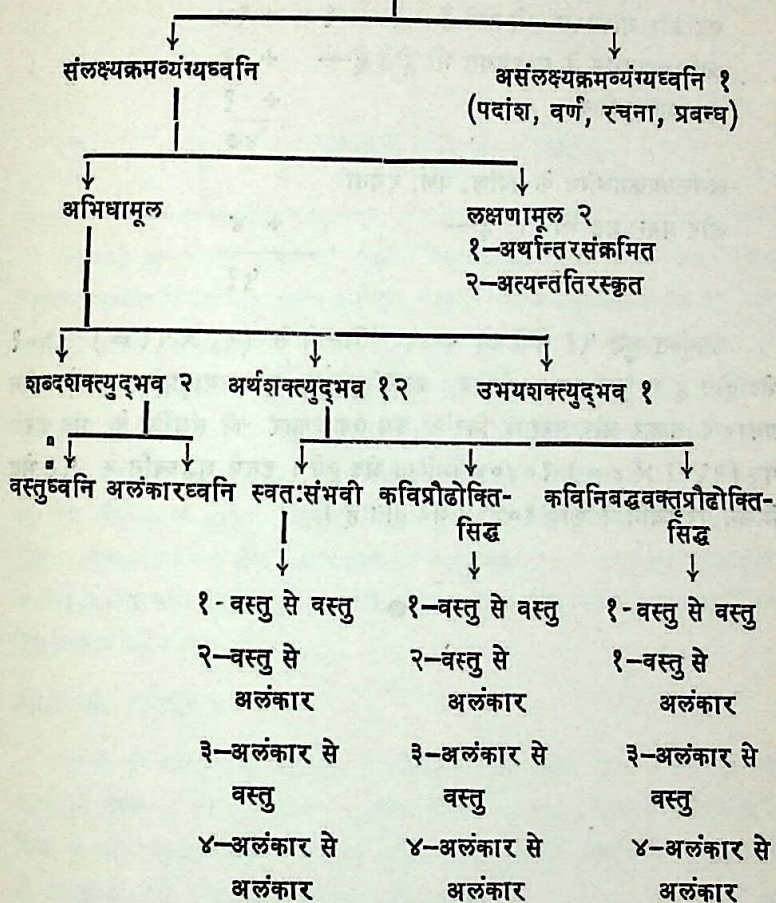
संकर—तीन प्रकार का, १५२१ × ३ = ४५६३

६०८४ मिश्रित भेद

+ ३९ शुद्ध भेद

६१२३ कुल ध्वनि के भेद

मम्मटकृत ध्वनि-विभाजन (तालिका-३)



अभिधामूलध्वनि

१५

शब्दशक्त्युद्भव २ }
 अर्थशक्त्युद्भव १ २ }
 उभयशक्त्युद्भव १ }

लक्षणामूलध्वनि

२

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि

१

१८

$$\begin{array}{rcl}
 \text{उभयशक्त्युद्भव को छोड़कर शेष १७ के} & & \\
 \text{पद और वाक्यगत भी होते हैं—} & १७ + १७ & = ३४ \\
 \text{अर्थशक्त्युद्भव के प्रबन्धगत भी होते हैं—} & + १२ & \\
 \text{उभयशक्त्युद्भव} & + १ & \\
 & \hline
 & ४७ &
 \end{array}$$

$$\begin{array}{rcl}
 \text{असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पदांश, वर्ण, रचना} & & \\
 \text{और प्रबन्धगत भी होते हैं—} & + ४ & \\
 & \hline
 & ५१ &
 \end{array}$$

उपर्युक्त शुद्ध ५१ भेदों को परस्पर मिलाने से $(५१ \times ५१ =)$ २६०१ भेद होते हैं। पुनः उनके (संदेह, अङ्गाङ्गिभाव, एकाश्रयानुप्रवेश रूप) तीन प्रकार के सङ्कर और परस्पर निरपेक्ष रूप एक प्रकार की संसृष्टि के भेद करने पर $(२६०१ \times ४ =)$ १०४०४ मिश्रित भेद हुये। इनमें शुद्धध्वनि के ५१ भेद मिलने पर ध्वनि के कुल १०४५५ भेद होते हैं।



आचार्य भरत की कृति का नाम नाट्यशास्त्र है। इसमें काव्यशास्त्र विषयक प्रत्येक विषय का विवेचन किया गया है, चाहे वह अल्पप्रमाण में किया गया हो अथवा महाप्रमाण में। एक ही ग्रन्थ में अनेक विषयों के समावेश का कारण यह था कि प्राचीन काल में अनेक विषयों का अध्ययन और अध्यापन एक साथ होता था। अतः यह स्वाभाविक और आवश्यक था कि एक ही ग्रन्थ में अनेक विषयों को समान स्थान मिले। किन्तु कालान्तर में सभी विषयों का क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत होता गया, जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक विषय स्वतंत्र अध्ययन और अध्यापन की वस्तु बन गया। यथा—नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र और संगीतशास्त्र आदि। इसलिए प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ लेखन कार्य भी होने लगा।

नाट्य की उत्पत्ति :

नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। प्रथम पक्ष भारतीय परम्परा का है, जिसका उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है और द्वितीय पक्ष में वे सभी देशी और विदेशी आधुनिक विद्वान् आते हैं, जिन्होंने लोक नृत्यादि में उसका उत्स खोजा है।

नाट्य में चार अंग (तत्त्व) प्रमुख रूप से पाये जाते हैं—संवाद (पाठ्य) गीत, अभिनय और रस। उन्हें ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से ग्रहण कर एक नवीन नाट्यवेद का निर्माण किया है।^१ उसके प्रथम अंग संवाद (पाठ्य) को ऋग्वेद से, द्वितीय अंग गीत को सामवेद से, तृतीय अंग अभिनय को यजुर्वेद से और चतुर्थ अंग रस को अथर्ववेद से ग्रहण किया है।^२ इस प्रकार भरतमुनि के

१. नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्मतम् । —नाट्यशास्त्र, १।१६।

२. जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान् । रसानाथर्वणादपि ॥ —नाट्यशास्त्र, १।१७।

अनुसार नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई है। राजशेखर ने वेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद हैं। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद ये चार उपवेद हैं। पुनः आचार्य द्रौहिणि के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—नाट्यवेद पञ्चम-वेद है, जो सम्पूर्ण वेदों और उपवेदों की आत्मा है तथा सभी वर्णों के लिए है।^१ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भरत आदि नाट्यशास्त्रियों ने नाट्यवेद को उपवेद न कहकर एक स्वतंत्र पञ्चमवेद की संज्ञा दी है, जिससे नाट्यवेद का उपवेदों की अपेक्षा और अधिक महत्त्व बढ़ जाता है।

यदि आचार्य भरत के नाट्योत्पत्ति विषयक उपर्युक्तलिखित मत की समीक्षा की जाय तो हम देखते हैं कि ऋग्वेद में कुछ सूक्त ऐसे पाये जाते हैं, जिनमें परस्पर संवाद की झलक दृष्टिगोचर होती है। यथा—इन्द्रमरुत्संवाद, विश्वामित्रनदीसंवाद, पुरुरवाउर्वशीसंवाद और यमयमीसंवाद आदि। इसी प्रकार सामवेद में गीत, यजुर्वेद में अभिनय और अथर्ववेद में रस का प्राधान्य होने से इन्हें किंचित् मात्रा में नाट्य का स्रोत माना जा सकता है। डा० कीथ ने इसे भारतीय पारम्परिक मत की संज्ञा दी है।^२

संस्कृत के नट और नाटक ये दोनों शब्द नट् धातु से बनते हैं। अतः पाश्चात्य विद्वान् मेकडोनल नाच से ही नाटक की उत्पत्ति मानते हैं।^३ इसी प्रकार प्रो० पिशेल पुत्तलिका-नृत्य से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।^४

नाट्य-ग्रन्थ :

भरत के उत्तरकाल में नाट्यशास्त्र को आधार मानकर प्रमुख रूप से तीन नाट्य-ग्रन्थों की रचना हुई है—(१) दशरूपक, (२) नाटकलक्षणरत्नकोश और (३) नाट्यदर्पण।

दशरूपक—यह धनञ्जय (९७४ ई० से ९९६ के लगभग) द्वारा रचित ग्रन्थ है, इसमें भरत के नाट्यशास्त्र से सामग्री चयन करके दश रूपकों एवं तत्सम्बन्धित

१. ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदाः इतिहासवेदधनुर्वेदो गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। 'वेदोपवेदात्मा सार्वर्वाणिकः पञ्चमो नाट्य-वेदः' इति द्रौहिणिः।—काव्यमीमांसा, द्वि० अध्याय, पृ० ५।

२. संस्कृत ड्रामा—कीथ, पृ० १२।

३. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए० मेकडोनल, पृ० ३४६।

४. संस्कृत ड्रामा—कीथ, पृ० ५२।

अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, संधियों, अर्थोपक्षेपकों, नायक-नायिका भेद, कैशिकी आदि वृत्तियों और नाट्य के प्रमुख-तत्त्व रस पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

नाटकलक्षणरत्नकोश—यह सागरनन्दी की रचना है। सागरनन्दी के काल के विषय में निश्चय न होने पर भी वे धनञ्जय के समीपवर्ती अवश्य रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है। इसमें कवि ने स्वमत की पुष्टि हेतु स्थान-स्थान पर नाट्यशास्त्र से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इसमें पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, अर्थोपक्षेपक, संधि, वृत्ति, नायक-गुण, नाट्यालंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, चेष्टालंकार और रूपक-भेदों का वर्णन किया गया है।

नाट्यदर्पण—यह रामचन्द्र-गुणचन्द्र (११३६ ई० से ११७६ ई०) की सम्मिलित कृति है। इसमें नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती का उपयोग किया गया है। विषय विवेचन की दृष्टि से नाटक-लक्षण, अर्थोपक्षेपक, पाँच अवस्थाएँ, संधियाँ, रूपकों के भेद, वृत्तियाँ, रस, दोष, भाव, अनुभाव, अभिनय, नायक-नायिका भेद, उनके गुण और रूपक के अन्य भेदों आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें भरतमुनि के मत की आलोचना की गई है तथा अनेक स्थलों पर धनञ्जय और सागरनन्दी आदि आचार्यों से अपना वैमत्य प्रकट करते हुए 'न मुनिसमयाध्यवसायिनः' भरतमुनि के अभिप्राय को न समझने वाला कहा है।^१

उपर्युक्त नाट्य-ग्रन्थों के पश्चात् अन्य स्वतन्त्र नाट्य विषयक ग्रन्थों का भी लेखन हुआ है। यथा—शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) का भावप्रकाशन और शिगमूपाल (ई० सन् १३३०) का रसार्णवसुधाकर आदि। किन्तु इन्हें उतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी, जितनी उक्त तीन ग्रन्थों को प्राप्त हुई है।

नाट्य-शास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन की अविच्छिन्न परम्परा चलने पर भी भामह-दण्डी आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत अलंकारशास्त्रों में नाट्य विषयक सिद्धान्तों का समावेश दृष्टिगोचर नहीं होता है, किन्तु जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत नाट्यतत्त्वों का समावेश किया है और आगे चलकर इसी परम्परा में विद्यानाथ (चौदहवीं शताब्दी) का प्रथम चरण) के प्रतापसूत्र्यशोभूषण, विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) के साहित्यदर्पण और कामराज दीक्षित (ई० सन् सत्तरह सौ के आसपास) के काव्येन्दुप्रकाश आदि ग्रन्थ आते हैं।

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ० २१।

प्रारम्भ में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों में से संवाद, गीत, अभिनय और रस को ग्रहण कर नाट्य (वेद) शास्त्र की रचना की है। अतः इन विषयों तथा इनसे निकट का सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय नाट्य के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तुत में उन्हीं का विवेचन अभीष्ट है। रस का स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र विवेचन किया जा चुका है।

नायक :

प्रत्येक रूपक में एक प्रमुख पात्र होता है, जिसे साहित्यशास्त्र की भाषा में नायक कहते हैं। सम्पूर्ण कथानक नायक के चारों ओर चलता रहता है। कथा अथवा नाटकादि की रचना नायक की प्रकृति, परिस्थिति और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर होती है। शेष सभी पात्रों का कार्य-व्यापार नायक की सम्पूर्ण प्रकृति को ध्यान में रखकर संयोजित किया जाता है, जिससे नायक का प्रभाव कथा में व्यक्त हो सके। एक प्रकार से फलश्रुति तक के विविध व्यापारों का समायोजक और फल का भोक्ता नायक ही होता है। समग्र कथा उससे प्रभावित रहती है। नाटकादि में नायक की जैसी भूमिका होती है, उसी अनुपात में कथा का प्रभाव पाठक अथवा दर्शक पर पड़ता है, अतः नायक का स्थान सर्वोपरि है।

नायक का स्वरूप :

विभिन्न आचार्यों ने विविध प्रकार से नायक का स्वरूप निरूपण किया है, जिसमें अनेक गुणों से युक्त नायक माना गया है। वाग्भट-प्रथम ने नायक का लक्षण प्रतुस्त करते हुए लिखा है कि—रूपवान्, धनवान्, कुलीन, अनुद्धत, सत्य और प्रियभाषी तथा सद्गुणों से युक्त यौवन सम्पन्न नायक कहलाता है।^१ हेमचन्द्र के अनुसार समस्त गुणों से युक्त और सम्पूर्ण कथा (प्रबन्ध) में व्याप्त रहने वाला नायक कहलाता है।^२ समस्त गुणों से उनका तात्पर्य यह है कि दशरूपकार ने जिन विनीत^३ आदि नायक के गुणों का उल्लेख किया है वे तथा हेमचन्द्र द्वारा

१. रूपसौभाग्यसम्पन्नः कुलीनः कुशलो युवा ।

अनुद्धतः सूनृतगीः ख्यातो नेताऽत्र सद्गुणः ॥—वाग्भटालंकार, ५।७ ।

२. समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः ।—काव्यानुशासन, ७।१ ।

३. नेता विनीतो मधुरत्यागी दक्षः प्रियंवदः ।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥—दशरूपक, २।१-२ ।

स्वयं आगे कहे जाने वाले शोभा आदि सात्त्विक गुणों से युक्त कथाव्यापी नायक कहलाता है। विजयवर्णी ने लिखा है कि—लोगों का अनुरञ्जन करना, प्रिय बोलना, वार्तालाप करने में चतुरता, पवित्र मन, विनय, स्मृति, कुलीनता, स्थिरता, दृढ़ता, माधुर्य, शूरवीरता, नवयौवन, उत्साह, दक्षता, बुद्धि, त्याग, तेज, कला, मति, धर्मशास्त्रार्थकारित्व और प्रज्ञा ये नायक के गुण हैं तथा इन विशिष्ट गुणों से युक्त नायक कहलाता है।^१ अजितसेन ने नायक के गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—माधुर्य, शौच, शौर्य, धृति, विनय, वाग्मिता, उत्साह, मान, तेज, धर्म, दृढ़ता, मधुर-भाषण, प्रज्ञा, त्याग, लोकानुराग, मति, कुलीनता, सत्कलावेदिता, स्थिरता, शास्त्रार्थ की क्षमता, सूक्ष्मज्ञान और नवयौवन—ये नायक के साधारण गुण हैं।^२ वाग्भट-द्वितीय के अनुसार बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शूरवीरता, गम्भीरता, धैर्य, स्थिरता, माधुर्य, कला, कुशलता, विनयशीलता, कुलीनता, नीरोगिता, शुचिता, अभिमानिता, नायिका-सम्मतता, मिष्टभाषित्व, लोकानुरञ्जकता, वाग्मिता, उच्चकुलोत्पन्नता, तेजस्विता, दृढ़ता, तत्त्वशास्त्रज्ञता, अग्राम्यता, शृङ्गारिता और सुगमता (सुन्दरता) आदि नायक के गुण हैं।^३

धनञ्जय ने विनम्रता आदि गुणों से युक्त नेता (नायक) कहा है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इनके नायक-स्वरूप का अनुसरण कर स्वरूप-निरूपण किया है। आचार्य हेमचन्द्र धनञ्जयकृत स्वरूप के अतिरिक्त नायक को समग्र कथाव्यापी भी मानते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत नायक-स्वरूप कुछ विशिष्ट है, उन्होंने लिखा है कि—नायक को प्रधान फल का भोक्ता तथा स्त्री आदि में आसक्ति और प्राण हानि रूप विपत्ति से रहित (अव्यसनी) होना चाहिए।^४ पद्यसुन्दरगणि ने पुरानी लीक पीटते हुए दाता, विद्वान् और कुलीनता आदि गुणों से सम्पन्न नायक माना है।^५ अतः इन स्वरूपों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सज्जनोचित सम्पूर्ण गुणों से युक्त, युवावस्था सम्पन्न, समग्र कथाव्यापी तथा फल का भोक्ता प्रधान पात्र नायक कहलाता है।

१. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।३-५।

२. अलङ्कारचिन्तामणि, ५।३१२।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

४. प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।७।

५. अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, १।२२।

नायक-भेद :

प्रायः कुल, प्रेम और प्रकृति आदि को आधार मानकर नायक के भेद किए जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी उक्त आधारों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार नायक-भेद निम्न प्रकार हैं।

वाग्भट-प्रथम—वाग्भट-प्रथम ने नायक के चार भेद माने हैं—अनुकूल दक्षिण, शठ और धृष्ट। उनके अनुसार जिसका प्रेम नीलवर्ण के समान गाढ़ हो तथा जो अन्य स्त्री में रत न हो वह अनुकूल नायक कहलाता है। जो अन्य स्त्री में अनुरक्त तो हो, किन्तु अपनी स्त्री पर भी स्नेह रखता हो वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो बहिर्भूत क्रोधादि विकारों से रहित हो तथा अपनी पत्नी का अप्रिय करता हुआ भी प्रिय बोलता हो, वह नायक शठ कहलाता है और जिसका अपराध प्रकट हो चुका हो तथा अपमानित होने पर भी जो लज्जित न हो, वह धृष्ट नायक कहलाता है।^१

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र के अनुसार नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। पुनः प्रत्येक के दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ के भेद से चार-चार भेद होते हैं, जो शृंगाररस के आश्रित हैं। विनय-युक्त, स्थिर, धीर, क्षमावान्, आत्मप्रशंसा रहित, शक्तिशाली और दृढप्रतिज्ञ धीरोदात्त नायक कहलाता है। ललित कलाओं में आसक्त, सुखी (भोग प्रवीण) शृंगारिक चेष्टाओं वाला, कोमल हृदयी और निश्चिन्त धीरललित कहलाता है। विनय और शान्त स्वभाव वाला धीरप्रशान्त है, यथा—‘मालती माधव’ प्रकरण में माधव और ‘मृच्छकटिक’ में चारुदत्त आदि। शूरवीर, ईर्ष्यालु, मायावी (मन्त्रादि के बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन करने वाला), आत्मप्रशंसा करने वाला, छल-कपट करने वाला, रौद्र और शौर्यादि मद से युक्त धीरोद्धत नायक कहलाता है, यथा—परशुराम और रावण आदि। पुनः उपभेदों का लक्षण करते हुए लिखा है कि—कनिष्ठा नायिका में अनुरक्त रहते हुए ज्येष्ठा के प्रति भी सहृदयी दक्षिण नायक है। जिसका अपराध स्पष्ट हो गया हो वह धृष्ट है। एक नायिका में अनुरक्त अनुकूल नायक है और गुरु अपराध करने वाला शठ है।^२

विजयवर्णी—विजयवर्णी ने हेमचन्द्र प्रतिपादित नायक के धीरोदात्तादि चार भेदों का नामोल्लेख कर प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है। पुनः

१. वाग्भटालंकार, ५।८-१०।

२. काव्यानुशासन, ७।११-११।

प्रत्येक के दक्षिण आदि उक्त चार उपभेदों का भी सोदाहरण वर्णन किया है।^१ इसी क्रम में विजयवर्णी ने प्रकृति के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम के तीन-तीन भेद करके कुल ४८ भेद माने हैं।^२

अजितसेन—अजितसेन ने भी सर्वप्रथम नायक के धीरोदात्तादि^३ चार भेद कर प्रत्येक के दक्षिण^४ आदि चार-चार भेद किये हैं। पुनः प्रत्येक के उत्तमादि तीन भेद कर ४८ भेदों का प्रतिपादन किया है।^५ अजितसेन ने धीरोदात्तादि चार भेदों और दक्षिण आदि चार उपभेदों का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया है। लक्षण प्रायः हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं, अतः पृथक् विवेचन नहीं किया जा रहा है।

वाग्भट-द्वितीय—वाग्भट-द्वितीय ने नायक के धीरोदात्तादि चार भेद करके धीरललित के अनुकूल आदि पुनः चार भेद किए हैं।^६ इनके लक्षण हेमचन्द्रादि सम्मत पूर्वोक्त ही हैं, किन्तु जहाँ पूर्वाचार्यों ने धीरोदात्तादि चारों नायकों के अनुकूल आदि चार-चार उपभेद किए हैं, वहीं वाग्भट-द्वितीय ने केवल धीरललित के ही अनुकूल आदि चार भेद माने हैं। यद्यपि इसके समर्थन में कोई प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है तथापि नायक-भेद प्रसंग में उनका यह दृष्टिकोण परम्परावादियों से भिन्न है।

पद्मसुन्दरगणि—पद्मसुन्दरगणि ने नायक के अनुकूल आदि मात्र चार भेद किए हैं।^७ उनका यह दृष्टिकोण वाग्भट-प्रथम से मेल खाता है, क्योंकि उन्होंने भी उक्त अनुकूल आदि ही चार नायक के भेद माने हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने तीन प्रकार से नायक के भेदों पर प्रकाश डाला है। प्रथम पक्ष में वाग्भट-प्रथम और पद्मसुन्दरगणि आते हैं, जिन्होंने नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं। द्वितीय पक्ष में हेमचन्द्र, विजयवर्णी और अजितसेन हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम नायक के धीरोदात्तादि चार भेद माने हैं, पुनः प्रत्येक के अनुकूल आदि चार-चार उपभेद माने हैं। तृतीय

१. शृंगारारणवचन्द्रिका, ४।६-२५।

२. अलंकारचिन्तामणि, ५।३९३।

३. वही, ५।३२८।

४. अकबरसाहिश्चन्द्रार्दपण, १।२३।

५. वही, ४।२७-२८।

६. वही, ५।२२३।

७. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६१।

पक्ष में धाम्मट-द्वितीय आते हैं जिन्होंने नायक के धीरोदात्तादि चार भेद तो माने हैं, किन्तु उन चारों के अनुकूल आदि चार उपभेद न मानकर केवल धीरललित के ही पूर्वोक्त चार उपभेद माने हैं ।

आचार्य भरत ने धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त—इन चार नायक-भेदों का उल्लेख किया है ।^१ दशरूपककार ने उक्त भरत-सम्मत चार भेदों का वर्णन करते हुए प्रत्येक के दक्षिण आदि चार-चार उपभेद करके १६ भेद किये हैं ।^२ इससे स्पष्ट है कि नायक-भेदों के मूल में आचार्य भरत और दशरूपककार के विभाजन को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है ।

नायक के सात्त्विक गुण :

आचार्य हेमचन्द्र ने नायक के आठ सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है—शोभा, विलास, ललित, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और तेज । ये सत्त्व-गुण से युक्त होने के कारण सात्त्विक गुण कहलाते हैं ।^३ प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है—

शोभा—दक्षता, शौर्य, उत्साह, नीच जुगुप्सा और उत्तम स्पर्धा का ज्ञान कराने वाला शोभा नामक गुण है ।^४

विलास—धीरगति, धीरदृष्टि और मुस्कराहट पूर्वक वचन बोलना विलास गुण है ।^५

ललित—कोमल शृङ्गारिक चेष्टाएँ ललित गुण है ।^६

माधुर्य—क्रोध आने पर (क्रोध का महान् कारण उपस्थित होने पर) भी मधुर आकृति होना माधुर्य गुण है ।^७

स्थैर्य—विघ्न उपस्थित होने पर भी विचलित न होना स्थैर्य गुण है ।^८

गाम्भीर्य—हर्षादि विकारों का ज्ञान न होना गाम्भीर्य गुण है ।^९

१. धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।

धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्त्तिताः ॥ —नाट्यशास्त्र, ३४।१७ ।

२. दशरूपक, २।७ ।

३. काव्यानुशासन, ७।२ ।

४. वही, ७।३ ।

५. वही, ७।४ ।

६. वही, ७।५ ।

७. वही, ७।६ ।

८. वही, ७।७ ।

९. वही, ७।८ ।

औदार्य—अपने और दूसरे में भेद-भाव न कर दान, अनुग्रह और प्रिय भाषण औदार्य गुण कहलाता है ।^१

तेज—शत्रु द्वारा किए गए अपमान आदि को सहन न करना तेज गुण है ।^२

विजयवर्णी^३ और अजितसेन^४ ने भी नायक के युवावस्था में सत्त्व से उत्पन्न आठ गुण माने हैं, जिनके नाम और लक्षण प्रायः हेमचन्द्राचार्य से मिलते-जुलते हैं, किन्तु अजितसेनकृत माधुर्य गुण का लक्षण किञ्चित् भिन्न है । अजितसेन ने लिखा है कि—तर्कणाशक्ति और सूक्ष्म कलाओं के सञ्चय में लगना माधुर्य नामक गुण है ।^५

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नायक के आठ सात्त्विक गुणों का सलक्षण विवेचन किया है ।^६ पुनः दशरूपकर^७ एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने भरत का ही अनुकरण किया है । जैनाचार्य भी इसी कड़ी के एक अंग हैं । आलंकारिकों की इस सुदीर्घ परम्परा में भरतोक्त नायक के सात्त्विक गुणों के नामों एवं लक्षणों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया है । जैनाचार्य अजितसेनकृत माधुर्य गुण के लक्षण पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है कि क्रोध आने पर मधुर आकृति होना अथवा सूक्ष्म कलाओं के सञ्चय में लगकर उद्विग्न न होना एक ही बात है । अतः भरतादि से इनका कोई विरोध नहीं है । रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी उक्त आठ सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है,^८ जिससे भरतमत की ही पुष्टि होती है ।

प्रतिनायक :

काव्य में नायक के पश्चात् सबसे अधिक प्रभावशाली पात्र प्रतिनायक होता है । यह सम्पूर्ण कथावस्तु में नायक की तरह प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होता है । नायक का प्रतिद्वन्द्वी होने से यही एक ऐसा पात्र है, जो नायक की

१. काव्यानुशासन, ७।९ ।

२. वही, ७।१० ।

३. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।३४-४२ ।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३२-३३६ ।

५. माधुर्य तर्कणं सूक्ष्मकलासञ्चयगोचरम् ।—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३४ ।

६. नाट्यशास्त्र, २।४।३१-३९ ।

७. दशरूपक, २।१० ।

८. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।८-१२ ।

अभीष्ट सिद्धि में पदे-पदे बाधक बनता है और नायक को सक्रिय बनाये रहता है। कथावस्तु को आगे बढ़ाने में उसकी भूमिका अपरिहार्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिनायक का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—व्यसनी, पापी, लोभी, स्तब्ध (गतिहीन अथवा कठोर हृदयी) और धीरोद्धत प्रतिनायक कहलाता है। यथा—राम का रावण और युधिष्ठिर का दुर्योधन प्रतिनायक हैं।^१ विजयवर्णी^२ एवं अजितसेन^३ का प्रतिनायक-स्वरूप हेमचन्द्र से अभिन्न है।

दशरूपककार ने प्रतिनायक का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है,^४ प्रायः उसी का अनुगमन हेमचन्द्रादि जैनाचार्यों ने किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इसी सरणि में आते हैं।^५ अतः यह कहा जा सकता है कि दशरूपककार द्वारा निरूपित प्रतिनायक-स्वरूप का प्रतिबिम्ब जैनाचार्यों के प्रतिनायक-स्वरूप पर पड़ा है।

नायिका :

काव्य में जो स्थान नायक का होता है, वही स्थान नायिका का भी होता है। नायिका भी नायक की तरह संपूर्ण कथावस्तु में व्याप्त रहती है। संक्षेप में केवल यही कहा जा सकता है कि काव्य में नायक और नायिका का समान महत्त्व है।

नायिका-स्वरूप :

हेमचन्द्राचार्य ने नायिका-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि — नायकगत

१. काव्यानुशासन, ७।२० ।

२. लुब्धाधीरोद्धता ये च स्तब्धाः पापपरायणाः ।

ते पुनर्नायिकाभासाः पुरुषाः प्रतिनायकाः ॥

—शृंगारारणवचन्द्रिका, ४।३३ ।

३. लुब्धधीरोद्धतस्तब्धाः पापिष्ठाः प्रतिनायकाः ।

—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३१ ।

४. लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥—दशरूपक, २।९ ।

५. लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः ।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१३ ।

(विनयादि) गुणों से युक्त नायिका कहलाती है ।^१ तात्पर्य यह कि जिन गुणों से युक्त नायक होता है उन समस्त गुणों से युक्त नायिका होती हैं । विजयवर्णी ने तो स्पष्ट लिखा है कि सामान्य नायक के कहे गए विनयादि गुणों से युक्त स्त्री नायिका कहलाती है ।^२ यही लक्षण अजितसेन ने भी किया है ।^३ अतः इन लक्षणों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नायिका-लक्षण-निरूपण प्रसंग में सभी आचार्यों ने एक ही दृष्टिकोण अपनाया है । दशरूपककार ने नायकगत गुणों से युक्त स्त्री को नायिका कहा है ।^४ उनका-स्वरूप जैनाचार्यों का प्रमुख आधार है ।

नायिका-भेद :

नायिका के प्रारम्भिक भेदों को लेकर आचार्यों को सामान्यतः दो कोटि में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम कोटि में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने नायिका के केवल तीन भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या । यथा—हेमचन्द्र^५, अजितसेन^६, पद्मसुन्दरगणि^७ और वाग्भट-द्वितीय ।^८ द्वितीय कोटि में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने नायिका के उक्त तीन भेदों के अतिरिक्त अनूढा (अविवाहिता) नामक एक अन्य भेद भी स्वीकार कर नायिका के चार भेद माने हैं । वाग्भट-प्रथम^९ और विजयवर्णी^{१०} इस द्वितीय कोटि में आते हैं । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि अजितसेन, वाग्भट-द्वितीय एवं पद्मसुन्दरगणि ने नायिका के तीन भेद ही माने हैं तथापि उन्होंने परकीया के दो भेद किए हैं—अन्योढा (पर परिणीता-परस्त्री) और कन्या । अजितसेन ने अन्योढा को शृंगार-

१. काव्यानुशासन, ७।२१ ।

२. सामान्यनायकप्रोक्त-विनयादिगुणान्विता ।

नारी तु नायिका प्रोक्ता सापि नारी चतुर्विधा ॥

—शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।४४ ।

३. स्वीयेतरा च सामान्या नायिका तद्गुणा त्रिधा ।

—अलंकारचिन्तामणि, ५।३३७ ।

४. दशरूपक, २।१५ ।

५. काव्यानुशासन, ७।२१ ।

६. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३७ । ७. अकबरसाहिष्टुङ्गारदर्पण, १।३८ ।

८. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२ । ९. वाग्भटालंकार, ५।११ ।

१०. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।४५ ।

रस पूर्ण कहा है और कन्या को नीरस ।^१ वाग्भट-प्रथम के अनुसार उक्त चारों के लक्षण निम्न प्रकार है—

अनूढा—नायक में अनुरक्त जो नायिका नायक के द्वारा स्वयं स्वीकार की जाती है, वह अनूढा कहलाती है । यथा—राजा दुष्यन्त की शकुन्तला अनूढा नायिका है ।^२

स्वकीया (स्वीया)—क्षमावान्, अतिगम्भीर प्रकृति वाली, घोर चरित्रवान् तथा देवता एवं गुरुजनों की साक्षीपूर्वक ग्रहण की गई स्वकीया नायिका है ।^३

परकीया—परकीया भी अनूढा की तरह होती है, किन्तु उन दोनों में तात्त्विक भेद है । परकीया काम के वशीभूत होकर स्वयं प्रिय से अपना अभिप्राय प्रकट करती है और अनूढा सखियों के माध्यम से ।^४

वेश्या (सामान्या)—ठगने में चतुर और सर्व साधारण की स्त्री वेश्या कहलाती है, उसका घन देने वाले के अतिरिक्त अन्य कोई प्रिय नहीं होता है ।^५

जिन आचार्यों ने नायिका के उक्त तीन अथवा चार भेद किए हैं, उनके लक्षण प्रायः समान हैं । हेमचन्द्र ने प्रभेदों का निरूपण करते हुए लिखा है कि अवस्था और कामकला में निपुणता के आधार पर स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा । पुनः मध्या और प्रौढ़ा—धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा के भेद से तीन-तीन प्रकार की होती हैं तथा ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भेद से इन छहों के दो-दो भेद होकर स्वकीया नायिका के कुल १२ भेद होते हैं । प्रथम परिणीता ज्येष्ठा और पश्चात् परिणीता कनिष्ठा कहलाती है ।^६

विजयवर्णी का नायिका-भेद विषयक मत हेमचन्द्राचार्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है । इन्होंने भी सर्वप्रथम स्वकीया के तीन भेद किए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ।^७ लक्षण भिन्न प्रकार हैं—

मुग्धा—किञ्चित् क्रोध से युक्त रतिक्रीड़ा में असहमत तथा नवीन काम-वासना वाली नवयुवती मुग्धा नायिका कहलाती है ।^८

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३९ ।

२. वाग्भटालंकार, ५।१२ ।

३. वही, ५।१३ ।

४. वही, ५।१४ ।

५. वही, ५।१५ ।

६. काव्यानुशासन, ७।२३-२५ ।

७. शृंगारारणवचन्द्रिका, ४।६० ।

८. वही, ४।६१ ।

मध्या—युवती होने से उत्पन्न हो गई है कामवासना जिसे, ऐसी कुछ भी न जानने वाली रतिक्रीड़ा में परवश नायिका मध्या कहलाती है ।^१

प्रगल्भा—अत्यन्त स्फुटित कामावस्था वाली सुरतारम्भ में नायक के वक्षस्थल में लीन की तरह परतंत्र हृदय वाली नायिका प्रगल्भा कहलाती है ।^२

पुनः मध्या और प्रगल्भा के धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा के भेद से तीन-तीन भेद किए हैं ।^३ लक्षण निम्न प्रकार हैं—

धीरामध्या—जो उपहासपूर्ण कुटिल वाणी से अपने अपराधी नायक को कष्ट देती है, वह धीरामध्या नायिका कहलाती है ।^४

अधीरामध्या—जो रोती हुई कठोर वाणी के द्वारा अपने अपराधी पति को कष्ट देती है, वह नायिका अधीरामध्या कहलाती है ।^५

धीराऽधीरामध्या—अश्रुसहित मुख वाली तथा व्यंग्यपूर्ण वचन बोलने वाली नायिका धीराऽधीरामध्या कहलाती है ।^६

धीराप्रगल्भा—जो रुष्ट होने से अपराधी नायक को सुरतकाल में दुःख देती है और आन्तरिक भावगोपन के कारण कुपित वस्त्र से पीटती है अथवा सुरतकाल में उदासीनता दिखाने वाली नायिका धीराप्रगल्भा कहलाती है ।^७

अधीराप्रगल्भा—जो नायिका अपने पति को संकेत करके पीड़ित करती है, वह अधीराप्रगल्भा कहलाती है ।^८

धीराऽधीराप्रगल्भा—जो नायिका कुपित होने से उपहासपूर्ण कुटिल वाणी बोलती है, वह धीराऽधीराप्रगल्भा कहलाती है ।^९

इस क्रम में उक्त मध्या और प्रगल्भा के धीरादि छहों भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा के दो-दो भेद होकर कुल १२ भेद होते हैं ।^{१०} निम्न पद्य में ज्येष्ठा और कनिष्ठा का भेद स्पष्ट किया गया है—

१. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।६३ ।

२. वही, ४।६५ ।

३. वही, ४।६७, ४।७२ ।

४. वही, ४।६८ ।

५. वही, ४।७० ।

६. अलंकारचिन्तामणि, ५।३५१ (इसका लक्षण शृङ्गारार्णवचन्द्रिका में नहीं है) ।

७. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।७३-७४ ।

८. वही, ४।७७ ।

९. वही, ४।७९ ।

१०. वही, ४।८१-८२ ।

कासारं जललीलया परिगते दृष्टो रमण्या नृपः
 श्रीरायो जलसेचनं परिलसद्यन्त्रेण कृत्वा सतीम् ।
 मज्जन्तीं सरसीजले भयवशात् कृत्वा परां कामिनीं
 चुम्बित्वा धरपान संज्ञजलधौ तन्तन्यते मज्जनम् ॥^१

इसमें चुम्बिता नायिका ज्येष्ठा है और द्वितीया कनिष्ठा ।

अजितसेनकृत नायिका-प्रभेद हेमचन्द्र और विजयवर्णी से मेल खाता है । इन्होंने विजयवर्णी के समान प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।^२ वाग्भट-द्वितीय ने केवल स्वकीया के ही मुग्धादि तीन भेद कर लक्षण प्रस्तुत किए हैं,^३ जो पूर्ववत् हैं ।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त अवस्था को भी आधार मानकर प्रायः सभी आचार्यों ने नायिका भेद प्रस्तुत किए हैं । आचार्य हेमचन्द्र,^४ विजयवर्णी,^५ अजितसेन^६ और वाग्भट-द्वितीय ने समान रूप से निम्न आठ नायिका भेद स्वीकार किए हैं—स्वाधीनपतिका, प्रोषितभर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और अभिसारिका । हेमचन्द्र ने इनका केवल नामो-ल्लेख किया है, विजयवर्णी और अजितसेन ने इनके लक्षण और उदाहरण दोनों प्रस्तुत किए हैं तथा वाग्भट-द्वितीय ने उदाहरण न देकर मात्र लक्षणों का उल्लेख किया है । विजयवर्णी के अनुसार इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

स्वाधीनपतिका—जिसका पति समीप में रहता है तथा सदा उसके अधीन रहता है, वह नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है ।^७

प्रोषितभर्तृका—पति के परदेश चले जाने पर जो नायिका मानसिक व्यथा को प्राप्त करती है, वह प्रोषितभर्तृका कहलाती है ।^८

खण्डिता—अन्य नायिका के साथ सम्भोग करने पर (नायक में) सम्भोग विषयक चिह्नों की जानकारी प्राप्त होने पर जो नायिका ईर्ष्या को प्राप्त होती है, वह खण्डिता कहलाती है ।^९

१. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८३ । २. अलंकारचिन्तामणि, ५।३४४-३६ ।

३. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२ । ४. काव्यानुशासन, ७।३० ।

५. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८५-८६ । ६. अलंकारचिन्तामणि, ५।३६१-३६२ ।

७. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६३ । ८. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ४।८७ ।

९. वही, ४।९७ ।

१०. वही, ४।९९ ।

कलहान्तरिता—जो नायिका आए हुए अपराधी नायक को क्रोध के कारण तिरस्कृत करके उसको चाहती हुई दुःखित होती है, वह कलहान्तरिता कहलाती है ।^१

वासकसज्जा—जो नायिका प्रिय के आगमन को सुनकर प्रसन्नचित्त हो अलंकारों से सुसज्जित होती है, वह वासकसज्जा कहलाती है ।^२

विरहोत्कण्ठिता—पति के अपराधी न होने पर भी विलम्ब से आने के कारण जो बेचैन हो जाती है, वह विरहोत्कण्ठिता कहलाती है ।^३

विप्रलब्ध—जब नायक के द्वारा संकेत स्थल पर न पहुँचने पर नायिका अपमानित होती है, तब वह विप्रलब्धा कहलाती है ।^४

अभिसारिका—जो नायिका नायक के पास अभिसरण करती है अथवा दूती के द्वारा नायक को बुलाती है, वह अभिसारिका कहलाती है ।^५

आचार्य भरत^६ से लेकर घनञ्जय^७ और उनके परवर्ती आचार्यों ने अवस्थाभेद से नायिका के उक्त आठ भेदों का समान रूप से उल्लेख किया है तथा इनके नाम और स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है । जैन नाट्याचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र^८ और पद्यसुन्दरगणि^९ ने भी इनका इसी रूप में उल्लेख किया है ।

नायिका के सत्त्वज अलंकार :

सामान्यतः स्त्रियों के बीस अलंकार माने गए हैं, जो सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं । ये नारी के सौन्दर्य को निखारने में सहायक होते हैं । यहाँ स्त्रीगत भाव-भङ्गिमा को ही अलंकार शब्द से अभिहित किया गया है ।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सत्त्व से उत्पन्न स्त्रियों के बीस अलंकार होते

१. शृंगारारणवचन्द्रिका, ४।९१ ।

२. वही, ४।८६ ।

३. वही, ४।९५ ।

४. वही, ४।९३ ।

५. वही, ४।१०१ ।

६. नाट्यशास्त्र, २४।२०३-२०४ ।

७. दशरूपक, २।२४-२७ ।

८. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।२३-२६ ।

९. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, २।४१-४२ ।

हैं ।^१ उन्होंने सत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो संवेदन रूप से विस्तार को प्राप्त हो तथा अन्य देह धर्मता से ही स्थित हो, वह सत्त्व कहलाता है । इसकी पुष्टि हेतु—‘देहात्मकं भवेत्सत्त्वम्’ इस भरत-वचन को प्रस्तुत किया है । पुनः विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—ये अलंकार सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं, राजस् और तामस् प्रकृति वाले शरीरों में इनका होना असम्भव है । चाण्डालिनों में भी रूप और लावण्य दिखाई देते हैं, किन्तु चेष्टादि अलंकार नहीं और यदि उनमें चेष्टादि अलंकार होते भी हैं तो श्रेष्ठता के ही सूचक हैं । अलंकार मात्र देहनिष्ठ होते हैं, चित्तवृत्ति रूप नहीं । वे युवावस्था में स्पष्ट दिखाई देते हैं, बाल्यावस्था में अनुत्पन्न रहते हैं और वृद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं, यद्यपि ये पुरुष के भी पाये जाते हैं तथापि स्त्रियों के ही वे अलंकार हैं, अतः तद्गत मानकर ही वर्णन किया गया है । पुरुष का तो उत्साह वर्णन ही अन्य अलंकार है और नायक के समस्त भेदों में धीरता विशेष रूप से कहा ही है, उसमें आच्छादित शृंगारादि धीरललित इत्यादि ।^२

कुछ अलंकार क्रियात्मक हैं और कुछ गुण स्वाभाविक । क्रियात्मकों में भी कुछ पूर्वजन्म अभ्यस्त रतिभाव मात्र के द्वारा सत्त्वोत्पन्न होने से देहमात्र में होते हैं, वे अंगज कहलाते हैं । अन्य इस जन्म में समुचित विभाववशात् प्रस्फुटित रतिभाव युक्त देह में स्फुरित होने हैं, वे स्वाभाविक कहलाते हैं अर्थात् स्वयं के रतिभाव से हृदयगोचरीभूत होते हैं । जैसे किसी नायिका के कुछ ही अलंकार स्वभाववशात् होते हैं, अन्य नायिका के दूसरे और किसी नायिका के दो, तीन अथवा इससे भी अधिक स्वाभाविक होते हैं । हाव, भाव और हेला सभी भाव सत्त्व की अधिकता होने से समस्त उत्तम नायिकाओं में होते हैं । शोभादि सात अलंकार हैं । इसी प्रकार अंगज और स्वभावज क्रियात्मक हैं तथा शोभादि गुणात्मक होने से अयत्नज हैं । आयासपूर्वक उत्पन्न होने से क्रियात्मक कहलाते हैं ।^३

हेमचन्द्र के अनुसार हाव, भाव और हेला—ये तीन अलंकार अंगज हैं । लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्लोक, विभ्रम, किलिकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, ललित और विहृत—ये दस अलंकार स्वभावज हैं तथा शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, औदार्य और प्रागल्भ्य—ये सात अलंकार अयत्नज हैं,^४ जिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

१. काव्यानुशासन, ७।३३ ।

२. वही, ७।३३ वृत्ति ।

३. वही, ७।३३ वृत्ति ।

४. वही, ७।३४, ३५, ४७ ।

हाव, भाव और हेला—हाव, भाव और हेला—ये तीन अंगज अलंकार क्रमशः अल्प, अधिक और अत्यधिक विकारात्मक होते हैं ।^१

लीला—वाणी, वेष और चेष्टाओं के द्वारा नायक का अनुकरण करना लीला कहलाता है ।^२

विलास—प्रिय दर्शन से स्थान, बैठने, गमन करने आदि में जो वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह विलास कहलाता है ।^३

विच्छित्ति—सौभाग्य के गर्व से अल्प आभूषणों का पहिनना शोभावर्द्धक होने से विच्छित्ति कहलाता है ।^४

विब्लोक—इष्ट वस्तु में अनादर विब्लोक कहलाता है ।^५

विभ्रम—वाणी, अंग और आभूषणों का विपर्यय विभ्रम कहलाता है ।^६

किलिकिञ्चित्—मुस्कराना, हँसना, रोना, भय, क्रोध, गर्व, दुःख, श्रम और अभिलाष का एक साथ होना किलिकिञ्चित् है ।^७

मोट्टायित—प्रिय की कथा आदि में उसके भाव से प्रभावित होने पर उत्पन्न चेष्टा मोट्टायित कहलाता है ।^८

कुट्टमित—अधर आदि के ग्रहण से दुःख होने पर भी हर्ष का भाव कुट्टमित कहलाता है ।^९

ललित—कोमल अङ्गों का विन्यास ललित कहलाता है ।^{१०}

विलास—कर्तव्यवशात् नायक के आने पर ही हस्तादि के कार्यों में जो विचित्रता आती है, वह विलास कहलाता है^{११} (प्रकारान्तर से यह सातिशय ललित का ही स्वरूप है) ।

विहृत—अवसर प्राप्त होने पर भी मुग्धादि गुणों के कारण न बोलना विहृत कहलाता है ।^{१२}

१. काव्यानुशासन, ७।३४ ।

२. वही, ७।३७ ।

५. वही, ७।३९ ।

७. वही, ७।४१ ।

९. वही, ७।४३ ।

११. वही, ७।४५ ।

२. वही, ७।३६ ।

५. वही, ७।३८ ।

६. वही, ७।४० ।

८. वही, ७।४२ ।

१०. वही, ७।४४ ।

१२. वही, ७।४६ ।

शोभा, कान्ति और दीप्ति—रूप, यौवन और लावण्य का पुरुष के द्वारा उपभोग करने से वृद्धि को प्राप्त मन्द, मध्य और तीव्र अङ्गों की छाया क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति नामक अलंकार हैं ।^१

माधुर्य—क्रोधादि में भी चेष्टाओं (हाव-भावों) की कोमलता माधुर्य कहलाता है ।^२

धैर्य—चंचलता और आत्मप्रशंसा का अभाव धैर्य कहलाता है ।^३

औदार्य—क्रुद्धादि अवस्था में भी शिष्टतापूर्ण व्यवहार औदार्य है ।^४

प्रागल्भ्य—काम, कलादि (प्रयोग) में भय आदि का न होना प्रागल्भ्य नामक अलंकार है ।^५

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने उक्त स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलंकारों में से प्रथम तेरह को अप्राप्तसंभोगता में भी होने से अनुभाव भी माना है तथा शोभा-कान्ति आदि अन्तिम सात को अलंकार मात्र ।^६

विजयवर्णी^७ और अजितसेन^८ ने भी स्त्रियों के उक्त बीस अलंकारों का सलक्षणोदाहरण उल्लेख किया है । इनके लक्षणों का अन्तर्निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इनके लक्षण प्रायः हेमचन्द्र के सदृश हैं । अन्तर केवल इतना है कि हेमचन्द्र ने सभी लक्षण सूत्रों में निबद्ध किए हैं, अतः कुछ सामान्य बातों को ऊपर से ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु विजयवर्णी के लक्षण पद्यात्मक होने से सुस्पष्ट हैं । अजितसेनकृत लक्षण सूत्र-शैली में निबद्ध न होते हुए भी संक्षिप्त हैं ।

१. काव्यानुशासन, ७।४८ ।

२. वही, ७।४९ ।

३. वही, ७।५० ।

४. वही, ७।५१ ।

५. वही, ७।५२ ।

६. एते च भावादयो विशतिरलंकाराः स्त्रीणामित्युक्तमन्यैः । अस्माभिस्तु तेष्वष्टादशोदाहरण अप्राप्तसंभोगतायामपि सम्भवन्तीत्यनुभावत्वेनापि प्रतिपादिताः । शोभा-कान्ति-दीप्ति-माधुर्य-धैर्य-औदार्य-प्रागल्भ्यनामानस्तु सप्त प्राप्तसंभोगतायामेव भवन्तीत्यलंकारा एव नानुभावतां भजन्तीति ।

—अलंकारमहोदधि, पृ० ७६-७७ ।

७. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।११३-१६० ।

८. अलंकारचिन्तामणि, ५।३७७-४०३ ।

हेमचन्द्र ने प्रारम्भ में अपने मत की पुष्टि हेतु भरत-वचन को उद्धृत किया है, अतः उन पर भरत का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार विजयवर्णी और अजितसेन द्वारा सर्वप्रथम अंगज पुनः स्वभावज और अन्त में अयत्नज अलंकारों का उल्लेख करने से इन दोनों आचार्यों पर घनञ्जय की छाया प्रतीत होती है।^१ रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत बीस अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववत् है।^२ हेमचन्द्र ने विलास का लक्षण दो स्थलों (७।३७ और ७।४५) पर प्रस्तुत किया है। द्वितीय लक्षण को प्रकारान्तर से सातिशय ललित कहा है। इस प्रसंग में नवीनता की दृष्टि से रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत ललित और विलास का अन्तर उपादेय है। उन्होंने लिखा है कि—देखने योग्य वस्तु के न रहने पर भी दृष्टि फैलाना, ग्रहण योग्य वस्तु के अभाव में भी हाथ आदि का चलाना जैसे निष्प्रयोजन व्यापार ललित है और सप्रयोजन व्यापार विलास है। यही इन दोनों में अन्तर है।^३

प्रतिनायिका :

जिस प्रकार काव्य में प्रतिनायक का महत्त्व है, उसी प्रकार प्रतिनायिका का भी महत्त्व है। प्रतिनायिका नायिका की प्रतिपक्षिणी होती है। यह प्रधान नायिका के प्रणय-व्यापार में प्रायः बाधक बनती है, अतः प्रधान नायिका द्वारा अनेक कष्टों को प्राप्त करती है। यह कथावस्तु को आगे बढ़ाने में भी सहायक होती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिनायिका का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—ईर्ष्या की हेतुभूत सपत्नी (सौत) प्रतिनायिका कहलाती है। यथा—श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मिणी की प्रतिनायिका सत्यभामा।^४

उपनायक :

प्रधान नायक के कुछ सहायक होते हैं, जिन्हें उपनायक कहते हैं। विजयवर्णी^५ ने द्वेषक, पीठमर्द, विट और नागरिक—इन चार सहायकों का उल्लेख

१. द्रष्टव्य, दशरूपक, २।३०-३३।

२. द्रष्टव्य, हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।२७-३७।

३. दृष्टव्यं विना दृष्टिक्षेपो, ग्राह्यमृते हस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम्। सप्रयोजनस्तु व्यापारो विलास, इत्यनयोर्भेदः इति।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।३३ वृत्ति।

४. काव्यानुशासन, ७।३२।

५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।२९।

किया है। अजितसेन^१ ने केवल प्रथम तीन का और वाग्भट-द्वितीय^२ ने प्रथम तीन के अतिरिक्त नर्मसचिव^३ नामक चतुर्थ सहायक का भी उल्लेख किया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र^४ में नायक के सहायक शकार और चेट आदि का भी विवेचन मिलता है तथापि जैनाचार्यों ने उनका उल्लेख नहीं किया है।

विदूषक—नाटकादि रूपकों में विदूषक की भूमिका हास्यपूर्ण होती है। प्रधान नायक का मनोरंजन करना इसका विशेष कार्य है। विजयवर्णी ने विदूषक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—जो सज्जनोचित लोक व्यवहारादि का ज्ञाता हो तथा नायक के कार्यों में विविध प्रकार का हास्य उपस्थित करता हो वह विदूषक कहलाता है।^५ इसी बात को स्पष्ट करते हुए अजितसेन ने लिखा है कि चार प्रसंग से नायक को हँसाने वाला विदूषक कहलाता है।^६ वाग्भट-द्वितीय के अनुसार मनोरंजन करने वाला विदूषक कहलाता है।^७ इन सब लक्षणों को ध्यान में रखकर केवल यही कहा जा सकता है कि नाटकादि में प्रधान नायक के मनोरंजन हेतु विविध प्रसंगों में अपने वेष-भूषा, हाव-भाव अथवा भाषा-वैचित्र्य के द्वारा जो हास्य उपस्थित करता है वह विदूषक कहलाता है।

आचार्य भरत ने विदूषक की शारीरिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—बौना (वामन), बड़े-बड़े दातों वाला (दन्तुर), कुबड़ा, झूठी प्रशंसा करने वाला, विकृत मुखवाला, सिर से गंजा और पीली आँखों वाला विदूषक कहलाता है।^८ घनञ्जय के अनुसार नाटकादि में हास्य को उत्पन्न करने वाला विदूषक है।^९ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कहना है कि विदूषक हास्य के लिए ही होता है, इसका हास्य अंग, वेश-भूषा और वचनों के भेद से तीन प्रकार का

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।३२९। २. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

३. डॉ० राजवंश सहाय हीरा ने नर्मसचिव के चार भेदों का उल्लेख किया है—पीठमर्द, विट, चेटक और विदूषक।

—भारतीय साहित्याशास्त्रकोश, पृ० ६१०।

४. नाट्यशास्त्र, ३५।५६, ५८। ५. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३०।

६. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३०। ७. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

८. नाट्यशास्त्र, ३५।५७। ९. दशरूपक, २।९।

होता है।^१ इन पूर्ववर्ती आचार्यों के विदूषक-स्वरूपों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि घनञ्जय और जैनाचार्यों के विदूषक-स्वरूपों में साम्य है। अतः इन पर घनञ्जय का प्रभाव कहा जा सकता है।

विजयवर्णी ने विदूषक को सज्जनोचित व्यवहारादि का ज्ञाता कहा है। इससे इतना कहा जा सकता है कि विजयवर्णी विदूषक को केवल हँसी का पात्र न मानकर लौकिक व्यवहारादि का ज्ञाता भी मानते हैं। जिससे सहृदयों का यथोचित मनोरञ्जन हो सके। उनका यह विदूषक-स्वरूप अन्याचार्यों से विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है।

पीठमर्द—मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक, जो अवान्तर कथा होती है, वह पताका कहलाती है और उसका नायक पीठमर्द कहलाता है। इसकी फल सिद्धि भिन्न न होकर प्रधान फल की प्राप्ति के साथ ही हो जाती है। नाटकादि में यह नायक का प्रमुख सहायक पात्र माना जाता है। विजयवर्णी ने इसका लक्षण-निरूपण करते हुये लिखा है कि पीठमर्द नायकोक्त कार्यों में चतुर और नायक के सद्गुणों से किञ्चित् न्यून गुणों वाला होता है।^२ इस सम्बन्ध में अजितसेन का भी यही मत है।^३ वाग्भट-द्वितीय के अनुसार नायक के गुणों से युक्त तथा नायक का अनुचर पीठमर्द कहलाता है।^४ उपर्युक्त लक्षणों में किञ्चित् भेद के साथ एक ही बात कही गई है। विजयवर्णी आदि ने पीठमर्द को नायक से किञ्चित् न्यून गुणों वाला कहा है और वाग्भट-द्वितीय ने नायक के गुणों से युक्त, किन्तु इन लक्षणों में प्रायः मौलिक भेद नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अन्ततः वाग्भट-द्वितीय भी उसे नायक का अनुचर ही मानते हैं, जो वास्तविक तथ्य भी है।

पूर्वाचार्यों के लक्षणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि घनञ्जय ने पताका के नायक को पीठमर्द कहा है। पुनः उसकी विशेषताएं बतलाते हुए लिखा है कि यह नायक के गुणों से किञ्चित् न्यून गुणों वाला, चतुर, नायक का अनुचर

१. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१४ विवृति।
२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३९।
३. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३९ पूर्वार्ध।
४. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२।

और भक्त होता है।^१ धनञ्जय के इस लक्षण की छायां जैनाचार्यों के लक्षण पर स्पष्ट दिखाई देती है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसे अमुख्य नायक से सम्बोधित कर प्रधान नायक से किञ्चित् न्यून और अवान्तर कथाभाग का नायक मानते हैं।^२ अतः इतना ही कहा जा सकता है कि पीठमर्द को नायक से किञ्चित् न्यून गुणों वाला तथा नायक का अनुचर होना चाहिए। उसे वाग्भट-द्वितीय की तरह नायक के गुणों से युक्त कहना उचित प्रतीत नहीं होता है।

विट—विट नायक का एक सामान्य सहायक पात्र होता है। विजयवर्णी के अनुसार नायक की चित्तवृत्ति के अनुकूल व्यापार करने वाला विट कहलाता है।^३ अजितसेन ने नायक के आन्तरिक प्रेम और अनुकूलता के ज्ञाता को विट माना है।^४

आचार्य भरत ने विट को वेशोपचार कुशल, मधुर, दक्षिण, कवि, तर्क-वितर्क करने में सक्षम, वाचाल और चतुर कहा है।^५ धनञ्जय ने इसे एक विद्या में निपुण माना है।^६ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने राजा के उपयोगी गीतादि किसी एक के ज्ञाता को विट कहा है।^७ यहाँ विजयवर्णी और अजितसेनकृत स्वरूप में एकता है तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विट-स्वरूप पर धनञ्जय का प्रभाव प्रतीत होता है।

नागरिक—विविध कलाओं में परिपक्वता को प्राप्त नागरिक कहलाता है।^८

नर्मसचिव—कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला नर्मसचिव कहलाता है।^९

काम की अवस्थाएँ :

सामान्यतः नायक और नायिका के परस्पर वियोग में कामवासना के आधिक्य से नायक अथवा नायिका की तर-तमभाव रूप जो कष्टप्रद स्थिति होती है, उसी का नाम कामावस्था अथवा वियोगावस्था है। ये वियोगियों के जीवन में क्रमशः घटित होती है। इनका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भरत ने किया है।

१. दशरूपक, २।८ ।

२. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१३ पूर्वार्ध ।

३. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३२ ।

४. अलंकारचिन्तामणि, ५।३३० ।

५. नाट्यशास्त्र, ३५।५५ ।

६. एकविद्यो विटश्चान्यो—दशरूपक, २।९ ।

७. हिन्दी नाट्यदर्पण, ४।१४ ।

८. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ४।३२ ।

९. काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० ६२ ।

उनके अनुसार अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—ये दस काम की अवस्थायें हैं।^१ इन दस कामावस्थाओं का उल्लेख परवर्ती आचार्य विश्वनाथ^२ और जैनाचार्य पद्ममुन्दरगणि^३ ने भी किया है, किन्तु विजयवर्णी और अजितसेन द्वारा निरूपित काम की दस अवस्थाओं के नाम कुछ भिन्न हैं।

विजयवर्णी ने रति के उत्कर्ष से क्रमशः होने वाली नायिका अथवा नायक की नयनप्रीति, मनःसक्ति, संकल्प, जागर, तनुता, विषयद्वेष, त्रपानाश, मोह, मूर्च्छा और मरण—ये दस काम की अवस्थाएं कही हैं,^४ जो उत्तरोत्तर कष्टदायी हैं। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

नयनप्रीति—जब नायक को नायिका देखने अथवा नायिका को नायक देखने की अत्यधिक इच्छा होती है, तब वह नयनप्रीति नामक अवस्था कहलाती है।^५

मनःसक्ति—जब प्रतिकृति आदि के द्वारा नायक-नायिका पुनः पुनः चिन्ता करते हैं, तब मनःसक्ति नामक अवस्था कहलाती है।^६

संकल्प—जब मनोरथ पूर्वक नायिका अथवा नायक की प्राप्ति का संकल्प किया जाता है, तब संकल्प नामक अवस्था कहलाती है।^७

जागर—नायिका के द्वारा नायक की अथवा नायक के द्वारा नायिका की प्राप्ति न होने पर सतत चिन्ता के कारण जागते रहना जागर नामक अवस्था है।^८

तनुता—नायक अथवा नायिका की प्राप्ति के अभाव में कामज्वर के कारण शरीर की कृशता तनुता नामक अवस्था है।^९

विषयद्वेष—जब नायक अथवा नायिका कामवर्द्धक भावों को सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा अन्य किसी भी वस्तु में मन नहीं लगता है, तब वह विषयद्वेष नामक अवस्था कहलाती है।^{१०}

- | | |
|---------------------------------|------------------------------------|
| १. नाट्यशास्त्र, २४।१६०-६२। | २. साहित्यदर्पण, ३।१९० |
| ३. अकबरसाहिष्णुकारदर्पण, ३।७-८। | ४. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, २।४२-४३। |
| ५. वही, ३।४४। | ६. वही, ३।४६। |
| ७. वही, ३।४८। | ८. वही, ३।५०। |
| ९. वही, ३।५२। | १०. वही, ३।५४। |

त्रपानाश—जहाँ नायक अथवा नायिका अपनी गरिमा (प्रतिष्ठा) पर ध्यान न देकर मान को त्याग देते हैं, वहाँ त्रपानाश नामक अवस्था होती है।^१

मोह—जहाँ नायक अथवा नायिका का मन भ्रमवशात् उन्मत्तता को प्राप्त होता है, वहाँ मोह नामक अवस्था होती है।^२

मूर्च्छा—जहाँ नायक अथवा नायिका काम के संताप से किसी भी विषय को नहीं जानते हैं, वहाँ मूर्च्छा नामक अवस्था होती है।^३

मरण—जहाँ नायक अथवा नायिका की प्राप्ति न होने से दो में से किसी एक की मृत्यु हो जाती है, वहाँ मरण नामक अवस्था होती है।^४

अजितसेन ने भी काम की दस अवस्थाओं का उल्लेख किया है,^५ जिनके नाम और लक्षण विजयवर्णी से मिलते-जुलते हैं।

रीति :

काव्यशास्त्र में समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों का स्वतंत्र प्रादुर्भाव हुआ है, जिनमें रीति-सम्प्रदाय का भी एक विशेष स्थान है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन हैं। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।^६ यद्यपि रीति का उल्लेख अन्याचार्यों ने भी किया है तथापि वामन ने रीति को जो प्रतिष्ठा प्रदान की है वह अन्यो ने नहीं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र में जिन चार प्रवृत्तियों^७ का उल्लेख किया गया है, उन्हीं को परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, जिनमें एक अति प्रसिद्ध नाम रीति भी है।

रीति का महत्त्व :

विजयवर्णी ने रीति का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रीति (लोक-व्यवहार) रहित कन्या लोक में मान्य नहीं होती है, उसी प्रकार रीति-शून्य काव्य रसिकों द्वारा मान्य नहीं है।^८

१. शृंगारारणवचन्द्रिका, ३।५६ । २. वही, ३।५८ ।

३. वही, ३।६० । ४. वही, ३।६२ ।

५. अलंकारचिन्तामणि, ५।६४ ।

६. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—काव्यालंकारसूत्र, १।२।६ ।

७. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः ।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौद्रमागधी ॥—नाट्यशास्त्र, १४।३६ ।

८. शृंगारारणवचन्द्रिका, ६।१ ।

रीति का स्वरूप :

विजयवर्णी ने रीति का स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि माधुर्य आदि गुणों से युक्त पदों की संरचना रीति कहलाती है।^१ अजितसेन के अनुसार गुण युक्त शब्दावली वाली रचना रीति है।^२ इन दोनों स्वरूपों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

रीति के भेद :

सामान्यतः रीति के तीन अथवा चार भेद माने जाते हैं। वामनादि कुछ आचार्य रीति के वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली—इन तीन भेदों को मानते हैं^३ तथा रुद्रटादि उक्त तीन के अतिरिक्त लाटोया नामक चतुर्थ भेद को भी स्वीकार करते हैं।^४ वाग्भट-प्रथम केवल दो ही भेद मानते हैं—गौडीया और वैदर्भी,^५ किन्तु विजयवर्णी रुद्रटादि सम्मत वैदर्भी, गौडीया, लाटो और पाञ्चाली—इन चार भेदों के समर्थक हैं,^६ जिनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

वैदर्भी—प्रसादादि गुणों से युक्त अथवा समासरहित दो-तीन पदों वाली स्वल्प घोषाक्षरावली तथा जिसमें द्वितीय वर्ग की अधिकता पाई जाए वह वैदर्भी नामक रीति है।^७

गौडी—ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त, महाप्राणाक्षरों से अन्वित तथा अत्यन्त अद्भुत समास वाली गौडी रीति कहलाती है।^८

पाञ्चाली—सुकुमारता, माधुर्य, कान्ति और ओजोगुण से युक्त पाँच-छः समस्त पदों वाली संक्षिप्त पाञ्चाली रीति है।^९

लाटो—ऊपर कही गई तीनों रीतियों से युक्त, अत्यधिक द्वित्वाक्षरों, अल्पघोषाक्षरों एवं कोमलता सहित लाटो वृत्ति कहलाती है।^{१०}

अजितसेन ने रीति के वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली—ये तीन भेद माने हैं।^{११} उनके स्वरूप विजयवर्णी से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

- | | |
|---------------------------------------|--------------------------------|
| १. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ५।३। | २. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३४। |
| ३. काव्यालंकारसूत्र, १।२।९। | ४. काव्यालंकार-रुद्रट २।४, ६। |
| ५. वाग्भटालंकार, ४।१५१। | ६. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ६।४। |
| ७. वही, ६।६-७। | ८. वही, ६।९। |
| ९. वही, ६।११। | १०. वही, ६।१३। |
| ११. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३४ उत्तरार्ध। | |

वैदर्भी—रूक्षता रहित अल्प समासों वाली तथा कठिन शब्दों से युक्त रचना वैदर्भी कहलाती है ।^१

गौडी—जो ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त हो वह गौडी कहलाती है ।^२

पाञ्चाली—उपर्युक्त वैदर्भी और गौडी का सम्मिश्रण पाञ्चाली रीति है ।^३

उपर्युल्लिखित स्वरूपों पर सम्यक्-रीत्या विचार करने से विजयवर्णी और अजितसेन पर क्रमशः रुद्र और वामन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है ।

नाट्यवृत्तियाँ :

वृत्ति शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है, किन्तु काव्यशास्त्र में यह विशिष्ट अर्थ का वाचक है । वहाँ यह तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—पहला शब्दशक्ति के रूप में अर्थात् अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यञ्जना के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है । इसका दूसरा प्रयोग उपनागरिका, परुषा एवं कोमला नामक अनुप्रास के प्रकारों के लिए तथा तीसरा कौशिकी, आरभटी, भारती एवं सात्त्वती आदि नाट्यवृत्तियों के लिए होता है ।^४ प्रस्तुत में नाट्यवृत्तियों को ध्यान में रखकर ही विवेचन किया जा रहा है ।

नाट्यवृत्तियों की उत्पत्ति :

इन वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि भगवान् विष्णु नागशय्या पर शयन कर रहे थे । तदनन्तर शक्ति के मद में उन्मत्त मधु और कैटभ नामक असुरों ने विष्णु को युद्ध के लिए ललकारा । उस समय असुरों के विनाश हेतु जिन चेष्टा-विशेषों का प्रदर्शन किया गया उन्हीं से वृत्तियों की उत्पत्ति हुई ।^५ सर्वप्रथम विष्णु के द्वारा भूमि पर बलपूर्वक पैर रखने से जब भूमि पर अत्यधिक भार पड़ा तब भारती वृत्ति की उत्पत्ति हुई । धनुर्धारी विष्णु की गतिशील तीव्र, दीप्तिकर एवं शक्तिशाली तथा भय-रहित चेष्टाओं से सात्त्वती वृत्ति की उत्पत्ति हुई । विष्णु के विचित्र आंगिक हाव-भावों एवं लीला के द्वारा शिखा बन्धन से कैशिकी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई और प्रचण्ड आवेग के

१. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३५ । २. वही, ५।१३७ ।

३. वही, ५।१३८ ।

४. भारतीय साहित्यशास्त्रकोश, पृ० १२३२ ।

५. नाट्यशास्त्र, अध्याय २२ का प्रारम्भिक अंश ।

आधिक्य एवं विविध मुद्राओं से विष्णु के द्वारा युद्ध करने से आरभटी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई ।^१

भरतमुनि के एक अन्य उल्लेख के अनुसार ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई है ।^२ राजशेखर ने वृत्तियों की उत्पत्ति भरतमुनि से भिन्न मानी है, उनका कहना है कि जब काव्य-पुरुष को मनाने के लिए काव्य-वधू उमापुत्री (औमेयी) विभिन्न देशों में गयी, तब उन-उन देशों में उसने जिस वेष को धारण किया उसे ही वहाँ की स्त्रियों ने भी धारण कर लिया, जिससे वृत्तियों की उत्पत्ति हुई । यथा—औमेयी ने जिस नृत्त-वाद्यादि को धारण किया उसका नाम भारती वृत्ति पड़ा ।^३ उसने जिस नृत्त-वाद्यादि का प्रदर्शन किया उसका नाम पड़ा सात्वती वृत्ति ।^४ कुछ इसी में कुटिल गति का संयोग होने से आरभटी कहलाई^५ और उसने जिस नृत्त, गीत, वाद्य एवं विलास आदि को उत्पन्न किया, वह कैशिकी वृत्ति कहलाई ।^६ इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति भरत और राजशेखर भिन्न-भिन्न प्रकार से मानते हैं ।

वृत्ति का महत्त्व :

विजयवर्णी ने काव्य में वृत्ति का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार वृत्ति शून्य सूत्र का अर्थ चित्त में स्पष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार वृत्ति रहित काव्य रसिकों को नहीं रुचता है ।^७

वृत्ति का स्वरूप :

विजयवर्णी ने लिखा है कि सरस अर्थ समूह से युक्त रचना वृत्ति कहलाती है ।^८ अजितसेन के अनुसार रचना के आश्रित रसों की अवस्था को सूचित करने वाली वृत्तियाँ कहलाती हैं ।^९ धनिक ने लिखा है कि प्रवृत्ति रूप नायक

१. नाट्यशास्त्र, २२।११-१४ ।

२. वही, २२।२४ ।

३. काव्यमीमांसा, पृ० २१-२२ ।

४. वही, पृ० २३ ।

५. वही, पृ० २३ ।

६. वही, पृ० २३ ।

७. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ७।१ ।

८. वही, ७।३ ।

९. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५८ ।

का व्यापार अथवा स्वभाव वृत्ति कहलाता है ।^१ ये तीनों लक्षण किञ्चित् भिन्न प्रतीत होते हैं ।

वृत्ति के भेद :

आचार्य भरत और उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों को स्वीकार किया है । जैनाचार्यों ने भी इस भरत-परम्परा का निर्वाह किया है । विजयवर्णी ने उक्त चार भेदों का उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप-निरूपण किया है, इनका क्रम भरत से कुछ भिन्न इस प्रकार है—कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती ।^२

कैशिकी—अत्यन्त कोमल अर्थों वाली शृङ्गार अथवा करुण रस युक्त रचना कैशिकी नामक वृत्ति है ।^३

आरभटी—अत्यन्त कर्कश अर्थों वाली रौद्र और बीभत्स रस युक्त रचना आरभटी वृत्ति कहलाती है ।^४

भारती—हास्य, शान्त और अद्भुत रसों से युक्त किञ्चित् मृदु अर्थों वाली रचना भारती वृत्ति कहलाती है ।^५

सात्त्वती—भयानक और वीररस से युक्त कुछ कठिन अर्थों वाली रचना सात्त्वती वृत्ति कहलाती है ।^६

अजितसेन ने भी उक्त चार वृत्ति-भेदों का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया है,^७ जो विजयवर्णी के ही सदृश है, किन्तु अजितसेन ने मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी का भी उल्लेख किया है, जिनका लक्षण करते हुए लिखा है कि जो कोमल अर्थ वाली होने पर भी अत्यन्त प्रौढ़ रचना न हो वह मध्यमा-कैशिकी वृत्ति है और उससे विपरीत मध्यमा-आरभटी नामक वृत्ति है ।^८ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भोज ने रीति को एक अल्प प्रसिद्ध शब्दालंकार स्वीकार किया है तथा उसके कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्त्वती, मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी नामक छः भेदों का उल्लेख किया है ।^९

१. प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः ।—दशरूपक, २।४७ वृत्ति ।

२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ७।३ ।

३. वही, ७।४ ।

४. वही, ७।५ ।

५. वही, ७।६ ।

६. वही, ७।७ ।

७. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५८ ।

८. वही, ५।१६९ ।

९. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।२८ ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि आचार्य भरत ने भारती आदि चार वृत्तियों का सलक्षण उल्लेख किया है, उन्होंने कैशिकी वृत्ति में स्त्री का संयोग तथा भारती वृत्ति में स्त्री का निषेध अवश्य माना है।^१

रस और वृत्ति :

विजयवर्णी ने रसों का स्वभाव-निरूपण करते हुए लिखा है कि लोक में शृंगार और करुण रस अत्यन्त कोमल हैं, रौद्र और बीभत्स अत्यन्त कठिन हैं, हास्य, शान्त और अद्भुत रस स्वल्प कोमल हैं तथा वीर और भयानक रस कुछ कठिनता युक्त हैं।^२ इस प्रसंग में अजितसेन का भी यही कथन है।^३ कुछ आचार्यों ने रसानुसार वृत्तियों के प्रयोग पर भी प्रकाश डाला है। भरत ने शृंगार और हास्य में कैशिकी; वीर, अद्भुत और रौद्र में सात्त्वती; भयानक, बीभत्स और रौद्र में आरभटी तथा करुण और अद्भुत रस में भारती वृत्ति के प्रयोग का उल्लेख किया है।^४ धनञ्जय ने शृंगार में कैशिकी, वीर में सात्त्वती, रौद्र और बीभत्स में आरभटी तथा सभी रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग स्वीकार किया है।^५ रामचन्द्र-गुणचन्द्र भारती में समस्त रसों; सात्त्वती में रौद्र, वीर, शान्त और अद्भुत; कैशिकी में हास्य और शृंगार तथा आरभटी में रौद्रादि दीप्त रसों का प्रयोग मानते हैं।^६ स्पष्टीकरण हेतु निम्न कोष्ठक सहायक होगा।

वृत्तियाँ	रस			
	भरत	धनञ्जय	विजयवर्णी एवं अजितसेन	रामचन्द्र-गुणचन्द्र
भारती	करुण, अद्भुत	समस्त रस	हास्य, शान्त, अद्भुत	समस्त रस
सात्त्वती	वीर, अद्भुत, रौद्र	वीर	भयानक, वीर	रौद्र, वीर, शान्त, अद्भुत
कैशिकी	शृंगार, हास्य	शृंगार	शृंगार, करुण	हास्य, शृंगार
आरभटी	भयानक, बीभत्स, रौद्र	रौद्र, बीभत्स	रौद्र, बीभत्स	रौद्रादि दीप्त रस

१. नाट्यशास्त्र, २२।४७, २५।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ७।८-९।

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५९।

४. नाट्यशास्त्र, २१।६५-६६।

५. दशरूपक, २।६२।

६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२, ५-६।

का व्यापार अथवा स्वभाव वृत्ति कहलाता है ।^१ ये तीनों लक्षण किञ्चित् भिन्न प्रतीत होते हैं ।

वृत्ति के भेद :

आचार्य भरत और उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों को स्वीकार किया है । जैनाचार्यों ने भी इस भरत-परम्परा का निर्वाह किया है । विजयवर्णी ने उक्त चार भेदों का उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप-निरूपण किया है, इनका क्रम भरत से कुछ भिन्न इस प्रकार है—कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्त्वती ।^२

कैशिकी—अत्यन्त कोमल अर्थों वाली शृङ्गार अथवा करुण रस युक्त रचना कैशिकी नामक वृत्ति है ।^३

आरभटी—अत्यन्त कर्कश अर्थों वाली रौद्र और बीभत्स रस युक्त रचना आरभटी वृत्ति कहलाती है ।^४

भारती—हास्य, शान्त और अद्भुत रसों से युक्त किञ्चित् मृदु अर्थों वाली रचना भारती वृत्ति कहलाती है ।^५

सात्त्वती—भयानक और वीररस से युक्त कुछ कठिन अर्थों वाली रचना सात्त्वती वृत्ति कहलाती है ।^६

अजितसेन ने भी उक्त चार वृत्ति-भेदों का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया है,^७ जो विजयवर्णी के ही सदृश है, किन्तु अजितसेन ने मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी का भी उल्लेख किया है, जिनका लक्षण करते हुए लिखा है कि जो कोमल अर्थ वाली होने पर भी अत्यन्त प्रौढ़ रचना न हो वह मध्यमा-कैशिकी वृत्ति है और उससे विपरीत मध्यमा-आरभटी नामक वृत्ति है ।^८ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भोज ने रीति को एक अल्प प्रसिद्ध शब्दालंकार स्वीकार किया है तथा उसके कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्त्वती, मध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी नामक छः भेदों का उल्लेख किया है ।^९

१. प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः ।—दशरूपक, २।४७ वृत्ति ।

२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ७।३ ।

३. वही, ७।४ ।

४. वही, ७।५ ।

५. वही, ७।६ ।

६. वही, ७।७ ।

७. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५८ ।

८. वही, ५।१६९ ।

९. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।२८ ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि आचार्य भरत ने भारती आदि चार वृत्तियों का सलक्षण उल्लेख किया है, उन्होंने कैशिकी वृत्ति में स्त्री का संयोग तथा भारती वृत्ति में स्त्री का निषेध अवश्य माना है।^१

रस और वृत्ति :

विजयवर्णी ने रसों का स्वभाव-निरूपण करते हुए लिखा है कि लोक में शृंगार और करुण रस अत्यन्त कोमल हैं, रौद्र और बीभत्स अत्यन्त कठिन हैं, हास्य, शान्त और अद्भुत रस स्वल्प कोमल हैं तथा वीर और भयानक रस कुछ कठिनता युक्त हैं।^२ इस प्रसंग में अजितसेन का भी यही कथन है।^३ कुछ आचार्यों ने रसानुसार वृत्तियों के प्रयोग पर भी प्रकाश डाला है। भरत ने शृंगार और हास्य में कैशिकी; वीर, अद्भुत और रौद्र में सात्त्वती; भयानक, बीभत्स और रौद्र में आरभटी तथा करुण और अद्भुत रस में भारती वृत्ति के प्रयोग का उल्लेख किया है।^४ धनञ्जय ने शृंगार में कैशिकी, वीर में सात्त्वती, रौद्र और बीभत्स में आरभटी तथा सभी रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग स्वीकार किया है।^५ रामचन्द्र-गुणचन्द्र भारती में समस्त रसों; सात्त्वती में रौद्र, वीर, शान्त और अद्भुत; कैशिकी में हास्य और शृंगार तथा आरभटी में रौद्रादि दीप्त रसों का प्रयोग मानते हैं।^६ स्पष्टीकरण हेतु निम्न कोष्ठक सहायक होगा।

वृत्तियाँ	रस			
	भरत	धनञ्जय	विजयवर्णी एवं अजितसेन	रामचन्द्र-गुणचन्द्र
भारती	करुण, अद्भुत	समस्त रस	हास्य, शान्त, अद्भुत	समस्त रस
सात्त्वती	वीर, अद्भुत, रौद्र	वीर	भयानक, वीर	रौद्र, वीर, शान्त, अद्भुत
कैशिकी	शृंगार, हास्य	शृंगार	शृंगार, करुण	हास्य, शृंगार
आरभटी	भयानक, बीभत्स, रौद्र	रौद्र, बीभत्स	रौद्र, बीभत्स	रौद्रादि दीप्त रस

१. नाट्यशास्त्र, २२।४७, २५।

२. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ७।८-९।

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१५९।

४. नाट्यशास्त्र, २१।६५-६६।

५. दशरूपक, २।६२।

६. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।२, ५-६।

शय्या :

राजा भोज ने शय्या नामक अलंकार माना है, किन्तु विजयवर्णी और अजितसेन ने इसका स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है ।

विजयवर्णी ने शय्या का महत्त्व प्रकट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शय्या के अभाव में काम-क्रीड़ा सुशोभित नहीं होती है, उसी प्रकार शय्यारहित रचना (कृति) भी सुशोभित नहीं होती ।^१

विजयवर्णी के अनुसार पदों की अनुगुणता अथवा परस्पर मैत्री शय्या कहलाती है ।^२ अजितसेन पदों की अनुगुण-रूपा मैत्री को शय्या कहते हैं ।^३ राजा भोज ने शय्या नामक अलंकार का लक्षण करते हुए लिखा है कि—प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों की परस्पर संघटना का नाम शय्या है ।^४

पाक :

परिपक्वावस्था को प्राप्त किए बिना कवि की रचना प्रशंसनीय नहीं होती है । अतः काव्यशास्त्रियों ने काव्यपाक पर सम्यक् विचार किया है । पूर्ववर्ती आचार्य भामह^५ और भोज^६ ने सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति को काव्यपाक न कहकर सौशब्द अथवा सुशब्दता कहा है, किन्तु राजशेखर आदि ने पाक शब्द का ही प्रयोग किया है ।

पाक का महत्त्व :

पाक का महत्त्व बतलाते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार पाक रहित (पकाये बिना) सुस्वादु भोजन भी नहीं रुचता है उसी प्रकार पाक रहित

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।१ ।
२. पदानामानुगुण्यं वान्योन्यमित्रत्वमुच्यते ।
यत् सा शय्या कलाशास्त्रनिपुणैर्विदुषां वरैः ॥—वही, ८।२ ।
३. पदानुगुण्यरूपा या मैत्री शय्येति कथ्यते ।—अलंकारचिन्तामणि, ५।१३९ ।
४. शय्येत्याहुः पदार्थानां घटनायां परस्परम् ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।५४ ।
५. सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छत्यलङ्कृतिम् ।
तदेतदाहुः सौशब्दं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥—काव्यालंकार, १।१४ ।
६. व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता ।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, १।७२ ।

रचना (काव्य) भी नहीं अच्छी लगती है।^१

पाक का स्वरूप :

विजयवर्णी चतुर्विध अर्थों के गम्भीर्य को पाक कहते हैं^२ और अजितसेन मात्र अर्थों की गम्भीरता को,^३ किन्तु बात एक ही है। इस प्रसंग में राजशेखर ने अनेक मतों को उद्धृत किया है।^४ तदनुसार मंगल नामक आचार्य सुबन्त और तिडन्त पदों की श्रुतिमधुरा व्युत्पत्ति रूप परिणाम को पाक कहते हैं। कुछ आचार्य निष्कम्प रूप से पदों के सन्निवेश को पाक मानते हैं, क्योंकि कहा है—पदों का रखना अथवा हटाना तभी तक सम्भव है, जब तक मन दोलायमान है, किन्तु जब पदों के सन्निवेश में स्थिरता आ जावे तब सरस्वती सिद्ध ही समझनी चाहिए। अवन्तिसुन्दरी इसे अशक्ति मानती है, क्योंकि एक ही रचना में महाकवियों के अनेक पाठ भी परिपाक को प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए रसों के अनुसार शब्दसूक्ति-निबन्धन पाक कहलाता है। राजशेखर सहृदय आलोचक को ही इसके निर्णय में प्रमाण मानते हैं, क्योंकि यह व्यवहार का अंग है। इन लक्षणों के आधार पर यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विजयवर्णी एवं अजितसेन के द्वारा किया गया पाक का लक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि जब तक रचना के अर्थों में गम्भीरता नहीं आयेगी तब तक सहृदय ग्राह्य न हो सकेगी। अतः उक्त आचार्यद्वयकृत पाक लक्षण मननीय है।

पाक के भेद :

राजशेखर ने पाक के नौ भेद माने हैं—पिचुमन्दपाक, बदरपाक, मृद्वीका-पाक, वार्त्तिकपाक, तित्तिडीकपाक, सहकारपाक, क्रमुकपाक, त्रपुसपाक और नारिकेरपाक। इनमें प्रथम तीन त्याज्य, मध्यम तीन संस्कार्य और अन्तिम तीन ग्राह्य कहे गये हैं।^५ विजयवर्णी और अजितसेन ने केवल दो ही पाक माने हैं—द्राक्षापाक (मृद्वीकापाक) और नारिकेर।

द्राक्षापाक—शब्द को आलम्बन करके अर्थ को जहाँ पर शीघ्र ही प्रतीति होती है तथा आभ्यन्तर और बाह्य रस स्फुरित होता है, वह द्राक्षापाक कहलाता है।^६

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।४।

२. वही, ८।५

३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१३९ उत्तरार्ध।

४. काव्यमीमांसा, पृ० ५१-५२।

५. काव्यमीमांसा, पृ० ५३-५४।

६. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ८।६।

नारिकेरपाक—शब्द को आलम्बन करके अर्थ की जहाँ शीघ्र ही प्रतीति न हो तथा रस अन्तर्गूढ हो, वह नारिकेरपाक है ।^१

अजितसेन ने दोनों पाकों का संक्षेप में स्वरूप-निरूपण करते हुए लिखा है कि जहाँ आभ्यन्तर और बाह्य रस स्फुरित हो, वह द्राक्षापाक है और जहाँ रस अन्तर्गूढ हो वह नारिकेरपाक ।^२ अजितसेन के 'पुनरन्येऽपि पाका यथासम्भव-मूल्याः'^३ इस वाक्य से प्रतीत होता है कि उन्हें उक्त दो पाक-भेदों के अतिरिक्त अन्य पाक-भेद भी अभीष्ट हैं ।

१. शृंगारारणवचन्द्रिका, ८।७ ।

२. अलंकारचिन्तामणि, ५।१४१ ।

३. वही, पृ० २६२ ।

जैनाचार्यों ने जहाँ साहित्य, न्याय, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, वहीं अलंकारशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयों पर भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, जिससे उनके अलंकारशास्त्रीय ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भरतमुनि से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अलंकारशास्त्र पर लिखित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में आए हुए उल्लेखों तथा अन्य स्रोतों से प्रतीत होता है कि उनके पूर्व भी अलंकारशास्त्रीय ज्ञान की परम्परा विद्यमान थी।

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र :

भरतमुनि के समकालीन अथवा परवर्ती जैनाचार्य आर्यरक्षित यद्यपि शुद्ध आलंकारिक नहीं हैं तथापि उनके द्वारा रचित अनुयोगद्वारसूत्र से उनके अलंकारशास्त्रीय ज्ञान की झलक मिलती है। तत्पश्चात् एक लम्बी अवधि तक जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों का अभाव है। ईसा की ग्यारवीं शताब्दी में किसी जैनाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध अलंकारदण्डनामक ग्रन्थ मिलता है। पुनः वाग्भट-प्रथम के वाग्भटालंकार तथा आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की रचना हुई और इसी परम्परा में अनेक मौलिक तथा टीका-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, जो न केवल अलंकारशास्त्र अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन ग्रन्थ-शिरोमणि और अद्वितीय है। सूत्र रूप में निबद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ पर अलंकारचूडामणि और विवेक नामक दो स्वोपज्ञ टीकाएँ हैं। प्रथम टीका सूत्र को स्पष्ट करने में सहायक होती है तथा द्वितीय टीका विविध ग्रन्थों के उद्धरणों से ओत-प्रोत और प्रथम टीका के हार्द को स्पष्ट करने वाली है। इस प्रकार दोनों टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से परवर्ती अनेक ग्रन्थों में अलंकारशास्त्रीय गुण-दोष, अलंकार आदि विषयों के साथ नाट्यशास्त्रीय नायक-नायिकादि विविध विषयों का वर्णन मिलता है, किन्तु

प्रथमतः काव्यानुशासन ही कदाचित् एक ऐसा ग्रन्थ है, जो अलंकारशास्त्र के अतिरिक्त विविध नाट्यशास्त्रीय विषयों पर भी प्रकाश डालता है।

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण तो नाट्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए दर्पण ही सिद्ध हुआ है, इसमें ऐसी अनेक नवीन मान्यताओं को स्थान दिया गया है, जो अन्याचार्यों से विलक्षण हैं। नौ रसों के अतिरिक्त लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख और सुख-रस की सम्भावना तथा रसों की सुख-दुःखात्मकता इसके नवान विषय हैं। नरेन्द्रप्रभसूरिकृत अलंकारमहोदधि आठ तरंगों में विभाजित है, इसमें अलंकारशास्त्रीय समस्त विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता-वृत्ति और विनयचन्द्रसूरि की काव्य-शिक्षा—ये दोनों ग्रन्थ काव्य-रचना के इच्छुकों को अतीव उपयोगी हैं। इनके अध्ययन से कोई भी कवि बनकर कवि-गोष्ठियों में सम्मान प्राप्त कर सकता है। विजयवर्णी की शृङ्गारारणवचन्द्रिका में अलंकारशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन तो किया ही गया है, किन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उदाहरण के रूप में आए हुए इसके समस्त पद्य कवि द्वारा स्वरचित हैं, जिनमें कवि ने अपने आश्रयदाता गंगवंशीय राजा कामिराय की स्तुति की है। अजितसेन द्वारा रचित अलंकारचिन्तामणि पाँच परिच्छेदों में विभक्त है, इसके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदों में केवल अलंकारों का विवेचन किया गया है, जो अजितसेन के अलंकारशास्त्रीय गम्भीर ज्ञान का सूचक है। इसके अतिरिक्त पंचम परिच्छेद में विविध विषयों का विवेचन किया है। वाग्भट-द्वितीय ने भी काव्यानुशासन नाम से एक ग्रन्थ की रचना की है, इसमें अधिकांश सामग्री हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के आधार पर विवेचित है। मंडन मंत्री का अलंकारमण्डन और भावदेवसूरि का काव्यालंकारसारसंग्रह—ये दो अलंकारशास्त्रीय लघु ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राचीन पद्धति का अनुसरण किया गया है। पद्मसुन्दरगणि का अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, इसमें विविध महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन है। सिद्धिचन्द्र-गणि का काव्यप्रकाशखण्डन आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश के खण्डन की दृष्टि से लिखा गया है, इसमें प्रायः अन्याचार्यों की उक्तियों का सहारा लेकर काव्यप्रकाश के कुछ विषयों का खण्डन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थ और टीकाएँ भी हैं, जो यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध हैं अथवा जिनका यत्र-तत्र ग्रन्थों में उल्लेख मात्र मिलता है।

कवि :

सामान्यतः कवि-स्वरूप प्रस्तुत करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, क्योंकि काव्य हृदय की वस्तु है और वह कब स्फुरित हो जाए, कहा नहीं जा सकता है। फिर भी जैनाचार्यों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप निरूपण किया है, जिसमें बतलाया गया है कि कवि को विविध विषयों और विविध भाषाओं तथा लौकिक व्यवहार आदि का ज्ञाता होना चाहिए। उसमें चन्द्रोदय-सूर्योदय आदि अठारह विषयों के वर्णन की क्षमता आवश्यक है। इसके लिए प्रतिभा का होना आवश्यक है। कुछ आचार्य प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी आवश्यक मानते हैं।

काव्य :

प्रारम्भिक आलंकारिकों ने केवल काव्य के शरीर पर विचार किया है। यतः काव्य का शरीर है, अतः उसकी आत्मा भी होना चाहिए और फलस्वरूप आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। वाग्भट-प्रथम ने रीति और रस से युक्त रचना को काव्य कहा है, किन्तु हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने दोष-रहित, गुण और अलंकार सहित रचना को काव्य स्वीकार किया है। अजितसेन ने अपने काव्य-स्वरूप में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को समान रूप से स्थान दिया है। काव्यभेदों के प्रसंग में जैनाचार्यों का भाषा विषयक दृष्टिकोण उदार है, उनके अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त भूतभाषा (पैशाची) में भी काव्य-रचना की जा सकती है। हेमचन्द्र ने पाठ्य-काव्य के १२ भेद माने हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक। इसी प्रकार गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य—ये १३ भेद कहे हैं। महाकाव्य में वर्णनीय विषयों का अजितसेन ने विस्तृत उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने कथा के १० भेदों का उल्लेख किया है—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा। ध्वनि के आधार पर जिन भेदों का उल्लेख किया गया है, उनमें जैनाचार्य प्रायः मम्मट के अनुयायी हैं, क्योंकि उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन काव्य-भेदों को ही प्रमुख रूप से स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने मध्यम-काव्य के तीन भेद माने हैं—असत्प्राधान्य, संदिग्धप्राधान्य और तुल्यप्राधान्य। उन्होंने

मम्मट-सम्मत मध्यमकाव्य के आठ भेदों का खण्डन किया है। पुनः उन्होंने असत्काव्य के चार भेद माने हैं—क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष, क्वचित्परांगता, क्वचिद-स्फुटता और क्वचिदतिस्फुटता। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मध्यम-काव्य के मम्मट-सम्मत आठ भेदों का समर्थन किया है तथा अघम-काव्य के शब्दचित्र और अर्थचित्र के अतिरिक्त शब्दार्थचित्र नामक एक अन्य तृतीय भेद का भी उल्लेख किया है, जो युक्तिपूर्ण है।

रस :

जैनाचार्यों के रस-स्वरूप का उपजीव्य प्रायः भरत-रससूत्र रहा है, इसलिए उन्होंने विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावों से परिपोष को प्राप्त हुए स्थायिभाव को रस कहा है और वह रस नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत में सुख-दुःख रूप उभयात्मक है। उनके अनुसार इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—ये पाँच सुखात्मक-रस हैं तथा अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार दुःखात्मक रस हैं। नाट्यदर्पणकार की यह उक्ति आलंकारिक-परम्परा से विलक्षण है। भरतमुनि के समकालीन जैनाचार्य आर्यरक्षित ने वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, ब्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त—इन नौ रस-भेदों का उल्लेख किया है। भरतमुनि ने भयानक रस को स्वीकार किया है, किन्तु आर्यरक्षित ने उसके स्थान पर एक नवीन ब्रीडनक-रस को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने रसों का जो क्रम अपनाया है, वह अभिनवगुप्त की अभिनवभारती के आधार पर है। उन्होंने युवकों का मित्र के प्रति होने वाले स्नेह का रति में, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति होने वाले स्नेह का धर्मवीर में, बालकों का माता-पिता आदि के प्रति होने वाले स्नेह का भयानकरस में और गर्व स्थायिभाव वाले लौल्यरस का हास्य में अन्तर्भाव किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तृष्णा (लालच) रूप स्थायिभाव वाले लौल्यरस, आर्द्रता-रूप स्थायिभाव वाले स्नेहरस, आसक्तिरूप स्थायिभाव वाले व्यसनरस, अरतिरूप स्थायिभाव वाले दुःखरस और सन्तोष रूप स्थायिभाव वाले सुखरस की भी सम्भावना की है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने शान्तरस की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है। सिद्धिचन्द्रगणि ने शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत—इन चार रसों को ही स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने विप्रलम्भ के अनन्तर होने वाले सम्भोग को पाँच प्रकार का माना है—स्पृहानन्तर, शापानन्तर, वियोगा-

नन्तर और प्रवासानन्तर । आर्यरक्षित का वीररस विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण को लिये हुये है, उनके अनुसार परित्याग और तपश्चरण करने पर तथा शत्रु का विनाश होने पर अननुशय (अहंकार रहित), धृति और पराक्रमपूर्ण चित्तों (अनुभावों) से युक्त वीररस कहलाता है । विजयवर्णी और अजितसेन ने रसों के वर्ण और देवताओं पर भी विचार किया है । इसके अतिरिक्त रसों का परस्पर सम्बन्ध, भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव, रसाभास, भावाभास, और स्थायिभाव का विवेचन प्रायः पूर्वपरम्परा का पोषक है । जैनाचार्यों ने शान्तरस का स्थायिभाव शम माना है, निर्वेद नहीं ।

दोष :

काव्य में दोषाभाव अतीव आवश्यक है । आचार्य आर्यरक्षित ने बत्तीस सूत्र-दोषों से ही नौ रसों की उत्पत्ति मानी है तथा वाग्भट-प्रथम ने अदुष्ट काव्य को यश और स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा है । आचार्य हेमचन्द्र ने रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहा है, उनकी यह धारणा आचार्य मम्मट से प्रभावित है । सिद्धिचन्द्रगणि ने चमत्काराभाव को दोष कहा है । भरतमुनि ने सर्वप्रथम दस दोषों का उल्लेख किया है, किन्तु जैनाचार्य आर्यरक्षित ने ३२ दोषों का उल्लेख किया है, जो कालान्तर में मान्य हुए हैं । जैनाचार्यों ने पददोषों, पदांशदोषों, वाक्यदोषों, उभयदोषों, अर्थदोषों और रसदोषों पर समान रूप से विचार किया है । आचार्य मम्मट ने १६ पददोषों का उल्लेख किया है, किन्तु वाग्भट-प्रथम ने केवल ८ पददोषों को माना है । शेष जैनाचार्यों ने जितनी पददोषों की संख्या गिनाई है, उसमें न तो अन्य आचार्यों से समानता है और न ही परस्पर । यही स्थिति अन्य दोषों की भी है । वाक्यदोषों के प्रसंग में विजयवर्णी ने रसच्युत और अप्रस्तुतार्थ—इन दो नवीन दोषों की कल्पना की है । अजितसेन ने मम्मट-सम्मत च्युतसंस्कृति नामक पददोष को शब्दच्युत नामक वाक्यदोष माना है तथा उसके समर्थन में यथोचित तर्क भी प्रस्तुत किया है । यद्यपि मम्मटादि ने उभय-दोषों का संकेत किया है, किन्तु हेमचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने उनका स्पष्ट विवेचन भी किया है । हेमचन्द्र ने मम्मट-सम्मत अवाचकता, प्रसिद्धिहृतता, नेयार्थता और संदिग्धता नामक दोषों का अन्य दोषों में अन्तर्भाव किया है । अर्थदोषों के प्रसंग में कहीं-कहीं मम्मट और हेमचन्द्र में पर्याप्त मतभेद है । जिस पद्य को मम्मट ने अनवीकृतत्व दोष का उदाहरण माना है, उसी को हेमचन्द्र ने पुनरुक्तता दोष का प्रत्युदाहरण माना है तथा मम्मट-सम्मत निर्हेतु, अनवीकृतत्व और अपदयुक्तता

को स्वतंत्र दोष नहीं माना है। हेमचन्द्र ने निर्हेतु का अन्तर्भाव साक्षात् दोष में किया है। विजयवर्णी ने भी अनवीकृतत्व दोष को मान्यता नहीं दी है। मम्मट और हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित रसदोषों में प्रायः समानता है, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल ५ रसदोषों का उल्लेख किया है और निष्कर्ष स्वरूप अनौचित्य के अन्तर्गत ही समग्र दोषों को स्वीकार किया है। दोष-परिहार प्रसंग में नरेन्द्र-प्रभसूरि मम्मट के अनुगामी हैं।

गुण :

काव्यशास्त्र में गुणों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनकी स्थिति अपरिहार्य है। हेमचन्द्र ने रस का उत्कर्ष करने वाले कारणों को गुण कहा है, उनके अनुसार ये उपचार से शब्द और अर्थ के भी उत्कर्षाघायक होते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के आश्रित रहते हैं, अकृत्रिम हैं, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के उत्पादक हैं, वे गुण कहलाते हैं। गुणों के महत्त्व को प्रकट करते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि—जिस प्रकार (शीलादि) गुणों से रहित रमणी संसार में सज्जनों द्वारा पूज्य नहीं होती है, उसी प्रकार निर्गुण काव्य-प्रबन्ध भी महाकवियों द्वारा आदृत नहीं होता है। गुण-भेदों के प्रसंग में प्रमुख रूप से दो परम्पराएँ सामने आई हैं, उनमें प्रथम वह है जो भरतमुनि-सम्मत दस गुणों को मानकर आगे बढ़ी है तथा दस गुणों का विवेचन किया है। दूसरी परम्परा वह है जिसने आनन्दवर्धन-सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन गुणों को स्वीकार किया है तथा शेष गुणों का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव किया है। हेमचन्द्र ने पूर्वपक्ष के रूप में एक अज्ञातनामा आचार्य सम्मत ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य—इन पांच गुणों का उल्लेख कर खण्डन किया है। जैनाचार्यों ने गुण-भेद विवेचन में प्रमुख रूप से भरत, आनन्दवर्धन और भोज का अनुकरण किया है। भावदेवसूरि ने काव्य-गुणों के अतिरिक्त काव्य-चिह्नों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने काव्यशास्त्रीय परम्परा का सर्वथा अनुगमन किया है।

अलंकार :

अलंकार शब्द से सामान्यतः उस वस्तु का बोध होता है, जिससे काव्य में शोभा की वृद्धि होती है। इसीलिए प्रायः समस्त आलंकारिकों ने इस उपमा से अपनी सहमति व्यक्त की है कि—जिस प्रकार रमणी कटक-कुण्डलादि

अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होती है, उसी प्रकार अलंकार रहित काव्य शोभायमान नहीं होता है । आनन्दवर्धन और मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य में अलंकारों के स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं मानी है । अलंकार साक्षात् रूप से अङ्गों (शब्द और अर्थ) का उपकार करते हैं, और परम्परया अङ्गी का । यह धारणा न केवल अन्य आलंकारिकों की ही है, अपितु हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि जैन-आलंकारिकों की भी है । सर्वप्रथम अलंकारों को दो भागों में विभाजित किया गया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार । यह विभाजन अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर है अर्थात् शब्दों पर अवलम्बित रहने वाले शब्दपरिवृत्य-सहिष्णुत्व अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार हैं और अर्थों पर अवलम्बित रहने वाले शब्दपरिवृत्यसहिष्णुत्व उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार हैं । जहाँ पर शब्द और अर्थ की समान रूप से प्रधानता पाई जाती है, वहाँ उभयालंकार होता है । आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार माना है तथा पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार । जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख नहीं किया है और श्लेष को अर्थालंकार माना है, शेष चार अलंकारों को वे शब्दालंकार मानते हैं । हेमचन्द्र ने उक्त छः अलंकारों को शब्दालंकार स्वीकार किया है । उनके द्वारा मान्य यमक के १५ पादज भेद, पुनः पाद को दो भागों में बाँटने पर २८ भेद, तीन भागों में बाँटने पर ४२ भेद और चार भागों में बाँटने पर ५६ यमक-भेद उनकी तीक्ष्ण बुद्धि के परिचायक हैं । इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भाषाश्लेष के जिन ५६ भेदों का कथन किया है, वे अन्याचार्यों द्वारा मान्य भेदों से सर्वाधिक हैं । उन्होंने काकुवक्रोक्ति को पाठधर्म स्वीकार किया है, अलंकार नहीं । अजितसेन ने लगभग दो सौ पद्यों में चित्रालंकार का जो विवेचन किया है, वह अद्वितीय है । अर्थालंकारों के प्रसंग में जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम और हेमचन्द्र ने सीमित अलंकारों का उल्लेख किया है तथा शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव । अलंकारदण्णकार ने प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर और समज्योति नामक नवीन अलंकारों को स्वीकार किया है । वाग्भट-प्रथम के अलंकार-विवेचन पर भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक और मम्मट आदि आचार्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । उनके द्वारा निरूपित सहोक्ति का लक्षण रुय्यककृत सहोक्ति के एक उपभेद कार्यकारणप्रतिनियम-विपर्ययरूपा-सहोक्ति के लक्षण पर आधारित है । हेमचन्द्र ने कहीं-कहीं दो-तीन अलंकारों के लक्षणों को मिलाकर किसी एक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ निदर्शन के लक्षण को लिया जा सकता है । उन्होंने निदर्शन

का लक्षण करते हुए लिखा है कि—इष्टार्थ की सिद्धि के लिए जो दृष्टान्त का निर्देश किया जाता है वह निदर्शनालंकार है। इसमें मम्मटादि सम्मत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और निदर्शन के लक्षणों का एकदेश समावेश किया गया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने मम्मट के अपह्नुति और व्याजोक्ति के लक्षण को मिलाकर अपह्नुति का लक्षण बनाया है। उनके अनुसार अर्थान्तरन्यास वह है जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्य पूर्वक समर्थन किया जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा किया गया अर्थालंकार विवेचन अधिकतर मम्मट से प्रभावित है। उनका रसवदादि अलंकारों का प्रतिपादन मम्मट की अपेक्षा अधिक है। शेष जैनाचार्यों का अलंकार-विवेचन प्रायः पूर्वाचार्यों का ही अनुगमन करता है। शब्दालंकारों का वर्गीकरण कोई विशेष नहीं है, किन्तु अर्थालंकारों का वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह वर्गीकरण आकृतिमूलक न होकर प्रकृतिमूलक है। रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है—वास्तवमूलक, औपम्य-मूलक, अतिशयमूलक और श्लेषमूलक। तत्पश्चात् रुद्रक ने पाँच वर्गों में विभाजन किया है—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक, न्यायमूलक और गूढार्थप्रतीतिमूलक। जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने छः वर्ग बनाये हैं—अतिशयोक्ति-मूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक, विशिष्ट-वाक्यसन्निवेशमूलक, लोकन्याय-मूलक और रसवदादि। अजितसेन ने अर्थालंकारों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है। प्रथम विभाग में चार वर्ग बनाये हैं—प्रतीयमान-शृङ्गार-रस-भावादिरूप, स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप, अस्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप और प्रतीयमान-औपम्य आदि रूप। अन्य प्रकार के वर्गीकरण में आठ वर्ग बनाये हैं—अध्य-वसायमूलक, विरोधमूलक, वाक्यन्यायमूलक, लोकव्यवहारमूलक, तर्कन्यायमूलक, शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक, अपह्नुतमूलक और विशेषण-वैचित्र्यहेतुक। अजितसेन द्वारा किया गया दोनों प्रकार का अलंकार-वर्गीकरण विद्यानाथ से पूर्णतः प्रभावित है।

ध्वनि :

प्राचीन आलंकारिक—भरत-भामह आदि ने काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्ता अलंकारों को प्रदान की है, किन्तु परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। हेमचन्द्र के अनुसार मुख्य, गौण और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान व्यंग्यार्थ ध्वनि है। ध्वनि शब्द का प्रारम्भ से ही दो अर्थों में व्यवहार होता आ रहा है—सामान्यतः व्यंग्य अर्थ को समझाने के लिए और काव्य-विशेष को समझाने के लिए। यहाँ प्रथम अर्थ को ही ध्यान में रखकर

जैनाचार्यों ने विवेचन किया है, जबकि आनन्दवर्धन ने द्वितीय अर्थ को ध्यान में रखकर ध्वनि-स्वरूप-निरूपण किया है। ध्वनिप्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद किए हैं—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इनमें से प्रथम भेद वस्तुध्वनि के पाँच भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत कर आनन्दवर्धन ने यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) किस प्रकार वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला होता है, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने वस्तुध्वनि के पृथक्-पृथक् तरह भेदों को प्रस्तुत किया है, जिससे वस्तुध्वनि के अन्य विविध रूपों का भी दर्शन होता है। हेमचन्द्र की यह सूक्ष्म दृष्टि उन्हें ध्वनि समर्थकों में प्रथम स्थान दिलाती है। हेमचन्द्र ने अनेकार्थक मुख्य शब्द के नियामक संसर्गादि के जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, उनमें कुछ उनके द्वारा स्वयं चयन किये हुए हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट और हेमचन्द्र-सम्मत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। ध्वनि-भेद प्रसंग में हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्ति-मात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—इन तीन भेदों का कथन न्यायोचित नहीं माना है, क्योंकि प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम स्वतःसिद्ध और कविप्रौढोक्तिसिद्ध—ये दो भेद किए हैं। हेमचन्द्र ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य से अतिरिक्त नहीं माना है, क्योंकि उनके अनुसार वहाँ प्रधान रूप से शब्द की ही व्यञ्जकता होती है। आचार्य मम्मट ने उभय-शक्तिमूलकव्यंग्य का केवल वाक्यगत भेद ही स्वीकार किया है, किन्तु सिद्धिचन्द्र-गणि ने मम्मट के इस मत का खण्डन करते हुए उभयशक्तिमूलकव्यंग्य को पदगत भी स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने संक्षेप में ध्वनि के २३ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने ध्वनि के कुल भेदों की संख्या ६१२३ गिनाई है। मम्मट-सम्मत ध्वनि-भेदों की संख्या १०४५५ है।

नाट्यतत्त्व :

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विविध विषयों का विवेचन किया है, किन्तु कालान्तर में नाट्य आदि विषयों पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी, जिसके प्रमाण स्वरूप दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोश आदि ग्रन्थ हैं। नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो मत पाये जाते हैं। प्रथम पक्ष भारतीय परम्परा का है, जिसका उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है और तीय पक्ष में वे सभी देशी अथवा विदेशी आधुनिक विद्वान् आते हैं, जिन्होंने लोक-

नृत्यादि में उसका उत्स खोजा है। जैनाचार्यों ने नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में नाट्य-तत्त्वों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र लिखित नाट्यदर्पण और पद्ममुन्दरगणिकृत अकबरसाहिष्टुंगारदर्पण—ये दो जैनाचार्यों के शुद्ध नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं, जिनमें केवल नाट्यतत्त्वों पर विचार किया गया है। भरत के परवर्ती आचार्यों में सम्भवतः हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र के साथ नाट्य-तत्त्वों पर भी विचार किया है।

नायक :

आचार्य हेमचन्द्र ने नायक का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह दशरूपककार से गृहीत है। विशेषता यह है कि उन्होंने नायक को समग्र कथाव्यापी तथा उसमें शोभा आदि सात्त्विक गुणों का होना भी आवश्यक माना है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार नायक को प्रधानफल का भोक्ता तथा स्त्री आदि में आसक्ति और प्राण हानि रूप विपत्ति से रहित (अव्यसनी) होना चाहिए।

प्रतिनायक, नायिका और उसके भेद, नायिका के सत्त्वज-अलंकार, प्रति-नायिका, उपनायक और काम की अवस्थाओं आदि का जैनाचार्यों ने जो विवेचन किया है, वह प्रायः भरत-परम्परा का पोषक है।

रीति :

रीति का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार रीति (लोक-व्यवहार) रहित कन्या लोक में मान्य नहीं होती है, उसी प्रकार रीतिशून्य-काव्य रसिकों द्वारा मान्य वहीं है। विजयवर्णी ने माधुर्य आदि गुणों से युक्त पदों की संरचना को रीति कहा है और अजितसेन ने गुणयुक्त शब्दावली वाली रचना को। वाग्भट-प्रथम ने रीति के गौडीया और वैदर्भी—इन दो भेदों को ही स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने उक्त के अतिरिक्त पांचाली और लाटी को मिलाकर चार भेद माने हैं, जो रुद्रट का अनुकरण है। अजितसेन ने लाटी को मान्यता नहीं दी है।

नाट्यवृत्तियाँ :

विजयवर्णी के अनुसार सरल अर्थ समूह से युक्त रचना वृत्ति कहलाती है। अजितसेन के अनुसार रचना के आश्रित रसों की अवस्था को सूचित करने

वाली वृत्तियाँ हैं। विजयवर्णी ने भरत के अनुसार नाट्यवृत्तियों के कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती—इन ४ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु अजितसेन का अनुकरण करते हुए माध्यमा-आरभटी और मध्यमा-कैशिकी—इन दो और अन्य भेदों को मिलाकर कुल छः भेद माने हैं।

शय्या :

शय्या का महत्त्व बतलाते हुए विजयवर्णी ने लिखा है कि जिस प्रकार शय्या के अभाव में काम-क्रीड़ा सुशोभित नहीं होती है, उसी प्रकार शय्यारहित रचना भी सुशोभित नहीं होती है। विजयवर्णी के अनुसार पदों की अनु-गुणता अथवा परस्पर मैत्री शय्या है। शय्या की इस परिभाषा से अजितसेन भी सहमत हैं। भोज ने शय्या नायक एक पृथक् अलंकार माना है।

पाक :

आचार्य भामह और भोज ने सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति को काव्यपाक न कहकर सौशब्द अथवा सुशब्दता कहा है, किन्तु राजशेखर ने पाक शब्द का ही प्रयोग किया है। विजयवर्णी ने चतुर्विध अर्थों के गाम्भीर्य को पाक कहा है। पाक की इस परिभाषा को अजितसेन ने भी मान्यता प्रदान की है। राजशेखर ने पाक के नौ भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु जैनाचार्य विजयवर्णी और अजितसेन ने पाक के द्वाक्षापाक और नारिकेरपाक—ये दो भेद ही माने हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अलंकारशास्त्रीय तत्त्वों का समग्र रूप से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है तथा नाट्यतत्त्वों का अलंकार-शास्त्रीय ग्रंथों में तो समावेश किया ही है साथ ही नाट्यशास्त्रीय स्वतंत्र ग्रंथों का भी प्रणयन किया है। उनमें विवेचित समग्र तत्त्व जहाँ भरत-परम्परा का निर्वाह करते हैं, वहीं अपनी मौलिक चिन्तनधारा से भी सिञ्चित हैं, जिससे काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को एक नवीन दिशा मिली है और उनकी प्रतिष्ठा में जैन-आलंकारिकों का महनीय योगदान रहा है।



सहायक ग्रन्थ-सूची

- अकबरसाहिबशृंगारदर्पण : पद्मसुन्दरगणि, संपा०—के० माधवकृष्ण शर्मा,
प्रका०—अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, सन् १९४३ ।
- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग : संपा०—अनु०—डॉ० रामलाल शर्मा,
प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—६, द्वितीय संस्करण, १९६९ ।
- अनुयोगद्वारसूत्र : आर्यरक्षित, प्रथम भाग, व्या०—घासीलालजी महाराज,
प्रका०—अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम
संस्करण, १९६७ ।
- अनुयोगद्वारसूत्र : आर्यरक्षित, द्वितीय भाग, व्या०—घासीलालजी महाराज,
प्रका०—अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम
संस्करण, १९६८ ।
- अनेकार्थनाममाला : घनञ्जय, अनु०—पं० घनश्यामदास न्यायतीर्थ, प्रका०—
बिहारी लाल कठनेरा जैन, मालिक—जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय,
हीराबाग, पो०—गिरगाँव, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, वी० नि० सं० २४६३ ।
(हिन्दी) अभिनवभारती : अभिनवगुप्त, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०—
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण, सन् १९७३ ।
- अमरकोष : संपा०—पं० हरगोविन्द शास्त्री, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज
आफिस, वाराणसी—१, प्रथम संस्करण, १९७० ।
- अलंकारचिन्तामणि : अजितसेन, सम्पा०—अनु०—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री,
प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, १९७३ ई० ।
- अलंकारदम्पण : मरुधर केशरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दनग्रन्थ,
चतुर्थ खंड, पृ० ४३० से ४५८ तक प्रकाशित ।
- अलंकार धारणा : विकास और विश्लेषण : डॉ० शोभाकान्त मिश्र, प्रका०—
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना—३, प्रथम संस्करण, १९७२ ।
- अलंकारमहोदधि : नरेन्द्रप्रभसूरि, संपा०—लालचन्द्र भगवानदास गान्धी जैन
पंडित, प्रका०—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, १९४२ ।
- अलंकारमीमांसा : डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

२९८

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

- अलंकारशास्त्र की परम्परा : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७० ।
- (हिन्दी) अलंकारसर्वस्व : राजानक रूय्यक, हिन्दीभाष्यानुवादकार—डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७१
- अलंकारानुशीलन : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', प्रका०—संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, १९७० ।
- अलंकारों का क्रमिक विकास : पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६७ ।
- आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ : प्रबन्ध संपा०—कन्हैयालाल दूगड़, प्रका०—जैन इवे-ताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१ ।
- आनन्दवर्धन : डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका०—मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९७२ ।
- उपदेशतरंगिणी : रत्नमंदिरगणि, प्रका०—हर्षचन्द्र भूराभाई घर्माभ्युदय प्रेस वाराणसी, वीर संवत् २४३७ ।
- काव्यकल्पलतावृत्ति : अमरचन्द्रसूरि, संपा०—जगन्नाथशास्त्री होशिग, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३१ ।
- काव्यप्रकाश : मम्मट, व्या०—शलकीकर वामनभट्ट, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९०१ ।
- काव्यप्रकाश : मम्मट, व्याख्याकार—आ० विश्वेश्वर, सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६० ।
- काव्यप्रकाशखण्डन : सिद्धिचन्द्रगणि, संपा०—प्रा० रसिकलाल छोटालाल पारिख प्रका०—सिंधी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९५३ ।
- काव्यमण्डन : मण्डन ग्रन्थ संग्रह भाग-२, प्रका०—शाह लहेरचन्द भोगीलाल, मंत्री—हेमचंद्राचार्य सभा पट्टन, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९७६ ।
- (हिन्दी) काव्यमीमांसा : राजशेखर, व्या०—डॉ० गंगासागर राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०२१ ।
- काव्यशिक्षा : विनयचन्द्रसूरि, संपा०—डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री, प्रका०—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

- काव्यादर्श : दण्डी, अनु०—ब्रजरत्नदास, बी० ए०, प्रका०—श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, बुलानाला, काशी, वि० सं० १९८८ ।
- काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, सम्पा०—रसिकलाल सी० पारिख, प्रका०—श्री महावीर जैन विद्यालय, बंबई, प्रथम संस्करण, १९३८ ।
- काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, सं०—महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा, काशीनाथ पाण्डुरंग परब, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, सन् १९३४ ।
- काव्यानुशासन : वाग्भट-द्वितीय, संपा०—पं० शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ पाण्डुरंग परब, प्रका०—तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, १९१५ ।
- काव्यालंकार : भामह, भाष्यकार—देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, खृष्टाब्द १९६२ ।
- (हिन्दी) काव्यालंकार : रुद्रट, नमिसाधुकृत सं० टीका सहित, व्या०—श्री रामदेव शुक्ल, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, १९६६
- काव्यालंकारसारसंग्रह : भावदेवसूरि (अलंकारमहोदधि के अन्त में पृ० ३४३ से ३५६ तक प्रकाशित) ।
- काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या : उद्भट एवं प्रतिहारेन्दुराज, व्याख्या—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १९६६ ।
- (हिन्दी) काव्यालंकारसूत्र : वामन, व्याख्या—आचार्य विश्वेश्वर, संपा०—डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६, सन् १९५४ ।
- कुमारपालप्रतिबोध : सोमप्रभाचार्य, संपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ीदा, सन् १९२० ।
- कुवलयानन्द : अप्पय दीक्षित, संपा०—वासुदेव शर्मा, प्रका०—पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सप्तम संस्करण, सन् १९३७ ।
- गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ : संपा०—विजयमुनि शास्त्री, डॉ० हरिशंकर शर्मा, प्रका०—गुरुदेव स्मृतिग्रन्थ प्रकाशक समिति, जैन भवन, लोहामण्डी, आगरा, १९६४ ।
- चन्द्रालोक : पीयूषवर्ष श्रीजयदेव, व्या०—नन्दकिशोर शर्मा, साहित्याचार्य, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९३७ ।
- जिनरत्नकोश : हरिदामोदर वेलणकर, प्रका०—भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४४ ई० ।

- जैनग्रन्थावली : प्रका०—श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस मुंबई, वि० सं० १९६५ ।
जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २ : आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज,
प्रका०—जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान), प्रथम संस्करण,
सन् १९४४ ।
- जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, प्रका०—यशोधर मोदी, विद्याधर
मोदी, व्यवस्थापक—संशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२, द्वितीय
संस्करण, १९५६ ।
- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ : पं० अम्बालाल प्रे० शाह, प्रका०—
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, प्रथम संस्करण, १९६९ ।
- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रका०—
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९७३ ।
- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : मोहनलाल दलीचन्द देसाई, प्रका०—श्री जैन
श्वे० कान्फ्रेंस आफिस मुंबई, प्रथम संस्करण, १९३३ ।
- तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खंड : डॉ० नेमिचन्द्र
शास्त्री, प्रका०—अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् पत्रिष्ठ, प्रथम
संस्करण, १९७४ ।
- तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य : डॉ० श्यामशंकर दीक्षित,
प्रका०—मलिक एण्ड कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३, प्रथम संस्करण,
सन् १९६९ ।
- (हिन्दी) दशरूपक : धनञ्जय, व्या०—डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्रका०—चौखम्बा
विद्याभवन, बनारस, चतुर्थ संस्करण, १९७३ ।
- द्वयाश्रय महाकाव्य : हेमचन्द्राचार्य, संपा०—आवाजी विष्णु काथवटे, प्रका०—
निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९२१ ई० ।
- (हिन्दी) ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, व्या०—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०—
गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, प्रथम संस्करण, अगस्त १९५२ ।
- ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, लोचन सहित, प्रथम उद्योत, व्या०—डॉ० राम-
सागर त्रिपाठी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण
१९६३ ई० ।
- नलविलासनाटक : आचार्य रामचन्द्र, सम्पा०—जी० के गोण्डेकर, प्रका०—
गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, सेंट्रल लाइब्रेरी बङ्गोदा, १९२६ ।

नाटकलक्षणरत्नकोश : सागरनन्दी, व्या०—बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्रका०—
चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७२ ।

(हिन्दी) नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, व्या०—आचार्य विश्वेश्वर, प्रका०—
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, संपा०—बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय, प्रका०—
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९२९ ।

(हिन्दी) नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, संपा० एवं व्या०—बाबूलाल शुक्ल शास्त्री,
चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् १९७२ ।

निर्भयभीमव्यायोग : आचार्य रामचन्द्र, सम्पा०—पं० श्रावक हरगोविन्ददास
बेचरदास, प्रका०—हर्षचन्द भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस, वाराणसी, वीर
संवत् २४३७ ।

पार्श्वनाथचरित : भावदेवसूरि, सम्पा०—हरगोविन्ददास बेचरदास, प्रका०—
हर्षचन्द भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस, बनारस, वीर सं० २४३८ ।

प्रतापसूरीय : विद्यानाथ, संपा०—सी० शंकरराम शास्त्री, प्रका०—बालमनोरमा
प्रेस, मेलापूर, मद्रास, तृतीय संस्करण, १९५० ।

प्रबन्धकोश : राजशेखरसूरि, संपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिधी जैन ज्ञान-
पीठ, शान्तिनिकेतन, प्रथम संस्करण, १९३५ ।

प्रबन्धचिन्तामणि : मेरुतुंगाचार्य, संपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिधी जैन
ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, बंगाल, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९८९ ।

प्रभावकचरित : प्रभाचन्द्राचार्य, संपा०—जिनविजय मुनि, प्रका०—सिधी जैन
ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९४० ।

प्रशस्तिसंग्रह : संपा०—पं० के० भुजबली शास्त्री, प्रका०—निर्मलकुमार जैन,
मंत्री—जैन सिद्धान्त भवन, आरा, प्रथम संस्करण, १९४२ ।

भव्यजनकण्ठाभरण : अर्हदास, अनु०—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०—जीव-
राज गौतमचन्द दोशी, संस्थापक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर,
सन् १९५४ ।

भानुचन्द्रगणिचरित : सिद्धिचन्द्रगणि, संपा०—मोहनलाल दलीचन्द देसाई,
प्रका०—सिधी ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९४१ ।

भारतीय साहित्यशास्त्र : गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, प्रका०—पाप्युलर बुक डिपो,
बम्बई-७, प्रथम संस्करण १९६० ।

- भारतीय साहित्यशास्त्रकोश : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', प्रका०—बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना—३, प्रथम संस्करण, १९७३ ।
- मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृतिग्रन्थ : संपा०—अगरचन्द नाहुटा, भँवरलाल नाहुटा, प्रका०—मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी समारोह समिति, दिल्ली, सन् १९७१ ।
- मरुधरकेशरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दनग्रन्थ : प्रधान सम्पा०—शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका०—मरुधरकेशरी अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन् १९६८ ।
- महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृत साहित्य में उनकी देन : डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा, प्रका०—दलसुख मालवणिया, मंत्री—जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी—५, प्रथम संस्करण, १९५९ ।
- मुनिसुव्रतकाव्य : अर्हदास, अनु०-सम्पा०—पं० के० भुजबली शास्त्री, पं० हरनाथ द्विवेदी, प्रका०—निर्मलकुमार जैन, मंत्री—जैन सिद्धान्त भवन, आरा, प्रथम संस्करण, सन् १९२९ ।
- यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ : संपा—मुनिराज श्री विद्याविजयजी आदि, प्रका०—श्री सौधर्मवृहत्पागच्छीय श्वेताम्बर श्रीसंघ, मु०—खुड़ाला, पो०—फालना (राजस्थान), प्रथम संस्करण, सन् १९५८ ।
- रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ, प्रथम भाग, हिन्दी व्या०—पं० श्री मदन-मोहन झा, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१, तृतीय संस्करण सन् १९७० ।
- रससिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९६९ ।
- (हिन्दी) वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, व्या०—राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६७ ।
- वाक्यपदीय : भर्तृहरि, पूना संस्करण, १९६५ ।
- वाग्भट-विवेचन : आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६८ ।
- वाग्भटालंकार : वाग्भट-प्रथम, अनु०—प्रो० उदयवीर शास्त्री, प्रका०—मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, सेदमिट्टा बाजार, लाहौर, द्वितीय संस्करण, १९३५ ।
- वाग्भटालंकार : वाग्भट-प्रथम, सिंहदेवगणि टीका सहित, सम्पा० पं० केदारनाथ शास्त्री, प्रका०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, १९१६ ।

- शृङ्गारार्णवचन्द्रिका : विजयवर्णी, सम्पा०—डॉ० वामन महादेव कुलकर्णी,
एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण,
सन् १९६९।
- संस्कृत शास्त्रों का इतिहास : आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रका०—शारदा मंदिर
वाराणसी-५, प्रथम संस्करण, सन् १९६९।
- संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए० बी० कीथ, अनु०—मंगलदेव शास्त्री,
प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, देहली, सन् १९६०।
- संस्कृत-हिन्दीकोश : वामन शिवराम आप्टे, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास,
वाराणसी, १९६६।
- सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, व्या०—डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, प्रका०—चौखम्बा
ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७६।
- साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, व्या०—डॉ० सत्यव्रत सिंह, प्रका०—चौखम्बा विद्या-
भवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, वि० सं० २०२६।
- हम्मीर महाकाव्य : नयचन्द्रसूरि, संपा०—मुनि जिनविजय, प्रका०—राजस्थान
प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, प्रथम संस्करण, १९६८।
- हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमंडल : प्रो० भोगीलाल साँडेसरा, प्रका०—जैन संस्कृति
संशोधक मंडल, वाराणसी-५।

ENGLISH BOOKS

- History of Indian Literature : M. Winternitz, Vol. II, Univer-
sity of Calcutta, Second Edition, 1972.
- A History of Sanskrit Literature : A. Meadon, London Willi-
am Heinemann, Second Edition, 1905.
- History of Sanskrit Poetics : P.V. Kane, Pub.—Pandurang
Vaman Kane, Angre's Wadi, Girgaon, Bombay 4.
- Kāvyañūśāsana, Volume II Introduction, by—R. C. Parikh
Pub.—Sri Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay, First Edition,
1938.
- The Nāṭyadarpaṇ by Ramchandra and Guṇachandra : A Criti-
cal Study of Dr. K. H. Trivedi, L. D. Institute of Indology,
Ahmedabad—9, First Edition, August 1966.
- The Number of Rasas :—V. Raghavan, Pub.—The Adyar
Library, Adyar, 1940,
- Sanskrit Drama : A. B. Keith, Oxford University Press, 1923.

पत्र-पत्रिकाएँ

जैनभारती (मासिक) : प्रका०—जैन श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता—१

जैन सन्देश (शोधांक) : सम्पा०—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रका०—भा० दि०
जैन संघ, मथुरा ।

जैन सिद्धान्त भास्कर : संपा०—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री,
प्रका०—देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जैन सिद्धान्तभवन,
आरा, हीरक जयन्ती विशेषांक, भाग २३ किरण १ एवं भाग १४
किरण २ ।

तीर्थंकर (मासिक) : संपादक—डॉ० नेमीचन्द्र जैन, प्रका०—हीरा भैया प्रकाशन,
इन्दौर ।

महावीर जयन्ती स्मारिका : सं०—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, प्रका०—रतन-
लाल छावड़ा, मंत्री—राजस्थान जैन सभा, जयपुर, अप्रैल १९६३ ।

श्रमण (मासिक) : संपादक—डॉ० मोहनलाल मेहता, प्रका०—पार्श्वनाथ विद्या-
श्रम शोध संस्थान, जैन इन्स्टीट्यूट, वाराणसी--५

शब्दानुक्रमिका

अ		११४, ११५, ११६, ११७,	
अकथनीय का कथन	५१	११८, ११९, १२२, १२३,	
अकबर	४६, ४७, ४८	१२४, १२५, १२७, १३०,	
अकबरसाहिब्रुज्जारदर्पण	४६, ४७, २८६, २९४	१३३, १३४, १३५, १३७,	
		१३८, १४१, १४९, १५०,	
अकल्याण	६८	१५१, १५२, १६१, १६२,	
अक्रम	१६२, १६०, १७७, १८४	१७६, १७७, १८२, १८३,	
अक्रमता	१५३, १५८, १५९	१८५, १८७, १९७, २००,	
अक्रमत्व	१७१	२०२, २०५, २१०, २११,	
अक्षरसंहति	२०१	२१२, २२१, २२२, २२३,	
अगरचन्द नाहटा	४, ४४, ६०	२३०, २३१, २३२, २३५,	
अगूढ	९७	२४१, २४७, २५७, २५९,	
अगूढभाव	२१२	२६१, २६२, २६३, २६६,	
अग्निपुराणकार	९५, १८६, १९०	२७०, २७१, २७२, २७३,	
अङ्क	१७	२७४, २७५, २७६, २७७,	
अङ्कावतार	१७	२७८, २७९, २८०, २८१,	
अङ्कास्य	१७	२८२, २८३, २८४, २८६,	
अङ्ग	२५३	२८७, २८९, २९१, २९२,	
अङ्गच्युत	१६१	२९४, २९५	
अङ्गज	२६८, २६९	अज्ञातकर्तृक	५६
अङ्गप्रविष्ट	३	अज्ञातनामा जैन	६०
अङ्गबाह्य	३	अज्ञातनामा मुनि	५३, ५७, ५९, ६०
अङ्गाङ्गिभाव	२५२	अणहिल्ल	२२
अज	१०८	अणहिल्लपाटनपुर	७
अजयदेव	१५	अतद्गुण	२१८, २२०, २२१, २२४,
अजितसेन	३५, ३६, ३७, ५५, ५७, ६२, ६४, ६५, ६७, ६८, ७५,		२२६, २२७, २२९, २३१
	७९, ८१, ८३, ८६, ९१, ९७, ९८, १०४, १०८, १०९, १११,	अतिप्रौढसन्दर्भ	३४
		अतिमात्र	१७६, १७७
		अतिमृदुसन्दर्भ	३४

३०६ : जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

अतिरिक्तपदता (अधिकपदता)	१५८	अधिकोपमा	१६१
अतिव्याप्ति	७६, ७७	अधिदेवता	३४
अतिशय ५, २१२, २१३, २१४,		अघीरा	२६४, २६५
२२०, २२१, २२७		अघीराप्रगल्भा	२६५
अतिशयमूलक	२२८, २९२	अघीरामध्या	२६५
अतिशयमूलकवर्ग	२२७	अध्यवसायमूलक	२३१, २९२
अतिशयिता-उपमा	५	अध्याहार	१९१
अतिशयोक्ति ११, २२, १८८, २००,		अनगारधर्माभृत	३६, ४०
२१४, २१५, २१६, २१८,		अनङ्गवती	९३
२१९, २२४, २२६, २२९,		अनन्य	२३१
२३०, २३१, २३२		अनन्वय २१३, २१५, २१६, २१८,	
अतिशयोक्तिमूलक २२९, २३०, २९२		२२०, २२१, २२४, २२६,	
अतिस्फुटता	९८	२२८, २२०	
अतिहसित	११२, ११३	अनन्वयोपमा	२१३
अत्यधिक	२६९	अनन्वितता	१५८
अत्यन्ततिरस्कृत	१५१	अनन्विता	१५५
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य	२४५, २५०	अनभिहित	१४३, १४४
अत्युक्ति	२२६	अनभिहितवाच्यता	१५३
अथर्ववेद	२५३, २५४, २७९	अनर्थक	१४७, १४८
अदृष्टरूपकीर्ति	६८	अनर्थनिवारण	७०
अदृष्टरूपयश	७०	अनवस्था	२४४
अद्भुत ३, ४८, ५१, १०२, १०४,		अनवीकृत	१६८
१०५, १०६, १०८, ११८, ११९,		अनवीकृतत्व १७२, १७५, २८९, २९०	
१२१, १२३, १२४, १२५,		अनित्य	२३३
१८०, १९३, २८१, २८८		अनित्यता	१८६
अद्भुतविधि	२७	अनिबद्ध	८१, ८२, ८३, ९५
अघम ४७, ९६, ९७, ११३, १८०,		अनियम परिवृत्त	१६९
२५९, २८७		अनिर्वचनीय	२३४
अघमकाव्य	९७, २८८	अनिष्ट	७०
अधिक १४३, १४४, १६२, २१८,		अनिष्टान्यार्थ (अमतपदार्थ)	१५८,
२२०, २२१, २२४, २२६,			१५९
२२७, २२९, २३०, २३१			
अधिकपद	१६१, १८५	अनुकूल	४१, २५८, २५९
अधिकपदता	१५३, १५५, १५६	अनुक्तनिमित्ता-विशेषोक्ति	२३१

शब्दानुक्रमणिका : ३०७

अनुगम	३	अनेकोपमेयमूलोपमा	२१३, ३१४
अनुचित	१६२, १७८	अनैकान्तिक	६९
अनुचितार्थ १४७, १४९, १६३, १६८	१७८	अनौचित्य	१४१, १४६, १८३
अनुचितार्थता	१६५, १९९	अन्तोत्तर	२१०
अनुप्रास ५, ११, २२, २६, ३८, ४१, ४५, ९८, २०४, २०६, २०७, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २७८, २९१		अन्त्याक्षरवर्गकाण्ड	३१
अनुबन्ध-चतुष्टय	६८	अन्य	२२४
अनुभय	२४०, २४१	अन्य (अघम) कवि	६७
अनुभयरूप	२३९, २४०	अन्यदीयकन्या स्वरूप	४७
अनुभाव १७, ३३, ३९, ४५, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १२२, १२८, १२९, १३०, १३१, १३४, १३५, १३६, १७८, १७९, २४७, २५५		अन्यसन्निधि	२४१
अनुमान ५, ११, २१२, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३४		अन्यापदेशी	६६
अनुयोगद्वारसूत्र	३, १४०, १४३, २८५	अन्यार्थ १४५, १४९, १५०, १५१	
अनुलोम	२७	अन्यासत्ति	२४५
अनुवादायुक्त	१६९	अन्योक्ति १०, ११, २१५, २२४, २२७	
अनुष्टुप्	१५४	अन्योन्य २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१	
अनुष्टुप्छन्द	२५	अन्योढा	२६३
अनुष्टुप्शासन	२५	अन्वय	२०६
अनूढा	३४, २६३, २६४	अन्वय-व्यतिरेक	२०६
अनूपशृंगार	६०	अपक्रम १४६, १५३, १५४, १७६	
अनेकार्थशब्दसंग्रह	३१	अपद	१४३, १४५
अनेकार्थोपसर्गवृत्ति	५०	अपदयुक्तता	१७५, २८९
अनेकोपमानमूलोपमा	२१३	अपदेश	२४३, २४५
		अपर	४१, २२४
		अपरवक्त्र	९१, ९२
		अपराङ्ग	९७
		अपस्मार	१३०
		अपहसित	११२, ११३, १३८
		अपह्नव (अपह्नुति)	२३१
		अपह्नवमूलक	२३२, २९२
		अपह्नुत	२१०

३०८ : जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

अपह्नुति ५, ११, २१२, २१३, २१५	अभिधानचिन्तामणि	१०
२१७, २१८, २२०, २२१,	अभिधामूल	२५१
२२४, २२६, २२७, २२९,	अभिधामूलध्वनि	२५१
२३०, २९२	अभिधाशक्ति	३३
अपार्थ १४६, १७६	अभिनय १८, २४३, २४५, २५३,	२५४, २५५, २५६
अपार्थक १४३, १४४	अभिनवगुप्त ९९, १००, १०१, १०४,	१०५, १०६, १०९, २८८
अपुष्ट १६८, १६९, १७७	अभिनवभारती १०, २५५, २८८	
अपुष्टार्थ १५०, १५१, १७६, १७८	अभिनववाग्भट ६, ३९	
अपुष्टार्थ कष्ट ४५	अभिनेय ८१, ८२, ८४	
अपुष्टार्थता १७०	अभिप्लुतार्थ १४३	
अपूर्ण १६१	अभिमान २००, २०१	
अप्पयदीक्षित २१२	अमिलाष ४८, ११०, २७५	
अप्रतीत १४७, १४९, १५०, १६७,	अभिव्यक्ति १७८	
१६८, १८४, १८५	अभिसन्धिता ४७	
अप्रयुक्त १४७, १४९, १५०, १५१,	अभिसारिका ४७, २४९, २६६,	२६७
१६२, १६३, १६७, १६८,	अभेद २१६	
१६९, १८४	अभेदप्रधान २२९	
अप्रयुक्तत्व १६३	अभेदवलित ५, २१३	
अप्रयोजक १५०, १५१	अभ्यास ६३, ६४, ७२, ७३, ७४,	७५, ७६
अप्रसिद्ध १४७, १४८, १५१, १६२	अभ्यूह १७	
अप्रसिद्धसादृश्य १७६	अमङ्गल १४९, १६३, १६८	
अप्रस्तुत १७७, २१७	अमङ्गलजनक अश्लील १६७	
अप्रस्तुतप्रशंसा ५, १०, २१२, २१३,	अमतपरार्थता १५३	
२१४, २१५, २१८, २२०,	अमरचन्दसूरि २२, २३, २४, २५,	५४, ५५, ५६, ७०, ७१, २८६
२२१, २२४, २२५, २२९	अमरुक ९५	
२३०, २३१	अमर्ष १३०	
अप्रस्तुतार्थ १६१, १६२, २८९	अमात्य ९३	
अप्रोक्तवाच्य १५८, १५९, १६०	अमुख्य २४१, २४४, २४५	
अभङ्गश्लेष २०९, २२१		
अभङ्गश्लेषवक्रोक्ति २६०		
अभवन्मतयोग १६१		
अभवन्मतसम्बन्ध १५३		
अभाव २३४		
अभिधा २६, ४५, २४१, २४४, २७८		

शब्दानुक्रमणिका : ३०९

अमृतनन्दी	५६	अर्थप्रकृति	२५५
अमृतलाल शास्त्री	३६, ३९	अर्थप्राप्ति	७१
अमृतानन्दयोगिन्	५६	अर्थभेद	४५
अम्बाप्रसाद	५२	अर्थवैचित्र्य	२१, ८५
अम्बालाल प्रे० शाह	३६, ५५	अर्थव्यक्ति	१९१, १९७
अयत्नज	१८, ३४, २६८, २७१	अर्थशक्तिमूल	२५०
अयुक्त	१४३, १४४	अर्थशक्तिमूलक	२४९
अयुक्तिमत्	१४५	अर्थशक्तिमूलकव्यङ्ग्य	११, २४१, २४५, २४६, २४७, २४८, २९३
अयोग	११०	अर्थशक्तिमूलाध्वनि	२१
अयोग्य	१८४	अर्थशक्त्युद्भव	२५१, २५२
अयोग्यार्थ	१६७	अर्थशक्त्युद्भवध्वनि	११
अयोजक	१५०	अर्थशास्त्रविरुद्ध	१७३
अरण्य	८८	अर्थश्लेष	१९६
अरति	१६	अर्थसमाधि	१९६
अरिसिंह	२२, २३, २५, ५४	अर्थसिद्धि	२५, २७
अर्जुन	१४८, २४२	अर्थसौकुमार्य	१९६
अर्थ ६३, ६४, ७०, ७२, ७७, ७८, १८४, १८७, १८८, १९०, २०५, २०६, २३३, २३४, २३५, २४१, २४२		अर्थसौन्दर्य	६७
अर्थकवि	६६	अर्थहीन	१४३
अर्थगत	३४, १४२	अर्थाधिगति	२४४
अर्थगुण	२१, ५२, १८९, १९५, १९६	अर्थान्तर	१४३
अर्थचित्र	५१, ९७, ९८, २८८	अर्थान्तरन्यास	४, ११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२७, २२९, २३०, २३१, २९२
अर्थच्युत	१६१	अर्थान्तरसंक्रमित	२५१
अर्थदुष्ट	१४५	अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य	२४५
अर्थदोष	११, २१, ३४, ४१, ४५, ५२, १४६, १४७, १६८, १६९, १७२, १७५, १७६, १७७, १७८, २८९	अर्थान्तरसंक्रान्तवाच्य	२५०
अर्थप्रकार	३९	अर्थापत्ति	२१८, २१९, २२१, २२२, २२३, २२९, २३०, २३१
		अर्थापत्तिदोष	१४३, १४५

३१० : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

अर्थापहरण	६६, ६७	अलंकारतिलक	४१, १५१
अर्थाभिव्यक्ति	१८९	अलंकारदम्पण	१, २, ३, ४, २१३, २८५
अर्थालंकार ८, ११, २२, ३४, ३८, ४१, ४५, ५२, ७९, २०६, २०७, २११, २१२, २१३, २१५, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २९१		अलंकारदम्पणकार	२०४, २०६, २११, २१२, २९१
अर्थोत्पत्तिबीज	३१	अलंकारदोष	२२
अर्थोपश्लेषक	१७, २५५	अलंकारध्वनि	२३६, २४५, २५१, २९३
अर्द्धभ्रमगूढ	२१०	अलंकारप्रबोध	२४, ५५
अर्द्धान्तरस्थैकपदता	१५८, १५९	अलंकार-भेद	२०५
अर्द्धान्तरैकवाचक	१६१	अलंकारमण्डन	४३, २८६
अर्द्धान्तरैकवाचकता	१५३	अलंकारमहोदधि	१९, २०, ४०, २८६
अर्हदास	३५, ३६, ३७	अलंकार रहित	७८, १७६
अलक्षण	१४७	अलंकारवर्गीकरण	२३६, २२७, २३२
अलंकार ३८, ४२, ४३, ४६, ५२, ६४, ७८, ७९, ८०, ८१, १८६, १८८, २०३, २०४, २०५, २०८, २११, २१३, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२३, २२४, २२५, २२७, २२८, २३०, २३२, २३३, २३६, २४१, २४६, २४९, २५०, २५१, २६८, २६९, २९०		अलंकारविवेचन	२२६
अलंकारकवि	६६	अलंकारशास्त्र	३६, ३८, ४७, २०३, २३३, २५३, २५५, २८५, २८६
अलंकारचिन्तामणि ३५, ३६, ३७, ३८, ५५, ५७, २१०, २८६		अलंकारसंग्रह	५६
अलंकारचिन्तामणिवृत्ति	५७	अलंकारसम्प्रदाय	१, २, ६२, २०३
अलंकारचूडामणि ११, २०, २८५		अलंकारस्वरूप	३८
अलंकारचूडामणिवृत्ति	५४	अलंकारहीनता	१७६
अलंकारचूर्ण	५७	अलंकारावचूर्णि	६०
		अलीक	३, १४३, १४४
		अलौकिक	६४
		अल्प	२६९
		अल्पप्रमाण	२५३
		अवचूरि	५४, ५९, ६०
		अवन्तिमुन्दरी	२८३
		अवयव	२२७
		अवरकाव्य	७९
		अवरोह	१९६, १९८

शब्दानुक्रमिका : ३११

अवसर	२१३, २१५, २१९, २२०, २२१, २२७	असम्यक्त्व	१४६
अवस्था	१७, ४२, ६६, २५५, २७५	असमर्थ	१४७, १४८, १४९, १५०, १६३, १६७, १६८, १८५
अवहित्या	१३०, १३१	असमर्थता	१६४, १६५
अवाचक	१४५, १४७, १४९, १५२, १६७, १६८	असमर्थत्व	१६४
अवाचकता	१६५	असमा-जपमा	५
अविच्छेदी	६६	असमासदोष	१४३, १४५
अविमृष्टविधेयांश	१४७, १४९, १५०, १६२, १६३, १६६, १६७, १६८	असम्बन्ध	२१७
अविरोध	३४	असम्भव	७६, १४५, २२७
अविरोधीरस	१२४	असम्मत	१४७, १४८
अविवाहिता	२६३	असम्मित	१५३, १५४
अविशेष	२२७	असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य	२३६, २४७, २४८ २५०, २५२
अविशेषपरिवृत्त	१६९	असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि	२५१
अविसर्गता	१५५, १५७, १५८	असंस्कार	१८४
अव्ययार्थकाण्ड	३१	असाधु	१४८
अव्याप्ति	७६	असुन्दर	९७
अव्याप्तिदोष	७९	असूया	१३०
अश्रु	१७, १२८, १२९, १३४	असूर्यपश्य	६६
अश्लील	१४७, १४९, १५०, १५२, १६२, १६३, १६८, १६९, १७६, १७७, १८४, १८५	अस्थानपदता	१५३, १५५
अश्लीलता	१५५, १७०	अस्थानपददुःस्थित	१५८
अश्लीलत्व	१६३, १८७	अस्थानसमासता	१५३
अश्लीलदोष	१६८, १९८	अस्थानसमासदुःस्थित	१५८, १५९
अश्व	८९	अस्थानस्थ	१६२
असंगति	२१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१	अस्थानस्थपदता	१५६
असत्क्रिया	१५३, १५४, १५५	अस्थितिसमास	१६१
असत्प्राधान्य	९७, २८७	अस्फुट	९७
असदृशता	१४५	अस्फुटता	९८
		अस्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप	२३०, २३१, २९२
		अहमदाबाद	५४, ५५
		अहेतु	२२४, २२७

३१२ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

आ	२३५, २३६, २४०, २८७, २९०, २९१, २९२, २९३
आकांक्षा १६९	आन्तरिक ६८
आकार २४३, २४४, २४५	आन्तरी १८
आकृतिमूलकवर्गीकरण २२६	आभानक (लोकोक्तियाँ) ३१
आक्षेप ५, ११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२७, २२९, २३०, २३१	आभिमानीकी १३८
आक्षेपिकी १८	आभियोगिकी १३८
आख्यातवाद टीका ५०	आभीक्ष्ण्य २०९
आख्यान ९३, २८७	आभ्यन्तर १९०
आख्यायिका १२, ४१, ८१, ८२, ८३, ८४, ९१, ९२	आभ्यासिक ६६
आगमविरोधी १४६	आयु ६८
आङ्गिक १७	आयुर्वेद ९९, २५४
आच्छादक ६६	आरम्भटी १७, ३४, ४८, २७८, २७९, २८०, २८१, २९५
आजड ५९	आरम्भ १७
आठ अवस्था ३४	आरोह १९६, १९८
आत्मा २५४	आर्जव १३१
आत्मनेपदी ३१	आर्थ ६७
आत्मस्थ ११२	आर्थी व्यञ्जना ५१
आदर्श ५, २१२	आर्द्रता १६
आदिनाथ ४०	आर्यरक्षित १, २, १०५, १०९, ११०, ११२, ११३, ११४, ११५, ११७, ११९, १२०, १२१, १३९, १४०, १४३, २८५, २८८, २८९
आद्युत्तर २१०	आलंकारिक २८५
आध्यात्मिकी १३८	आलम्बन १७९
आनन्द ६९, ७०, ७१	आलम्बन विभाव १२७
आनन्दमेरु ४६	आलस्य १३०
आनन्दवर्द्धन २१, ४५, ७३, ७६, ७७, ८२, ९२, ९५, ९६, ९७, ९८, १०५, १३६, १४१, १४२, १४६, १८३, १८६, १८८, १८९, २०२, २०४, २३४	आलोडन-विलोडन ७२
	आवृत्ति २२०
	आवेग १३०
	आवेगिक ६६

शब्दानुक्रमिका : ३१३

आशाघर	३५, ३७, ४०, ५७	उच्छ्वास	९५
आशिष्	२२६	उज्जयिनी	३
आशीः	२१८, २२०, २२४, २२५	उढा	४७
आशीष	५, २१२	उत्कलिकाप्राय	८२
आश्रम	२६, ९०	उत्तम	४७, ९६, ९७, ११३, १८०,
आश्रमबीज	३१		२५९, २८७
आसक्ति	१६	उत्तमकाव्य	७९, ९७
आहार्य	१८	उत्तर	२१८, २२०, २२१, २२४,
आहार्या	७५		२२६, २२७, २२८, २२९,
			२३०
इ		उत्पलशतपत्रभेदन्याय	२४८
इङ्गित	२४३, २४४, २४५	उत्पादक	६६
इच्छा	१११	उत्पाद्योपमा	२१६
इतिहासवेद	२५४	उत्प्रेक्षा	५, ११, ४१, ४५, २१२,
इतिहासाश्रित कथाएँ	६२, ७२		२१३, २१४, २१५, २१८,
इन्दीवर	१२३		२२०, २२१, २२४, २२५,
इन्दुमती	९४, १०८		२२७, २२८, २२९, २३०,
इन्द्रमरुत्संवाद	२५४		२३१, २९१
इन्द्रवज्रा	३०	उत्प्रेक्षायमक	४
इष्ट	७०	उत्साह	१३६, १३७
इष्टसम्बन्धवञ्चित	१५८	उत्सृष्टिकांक	१२, १७, ८३, २८७
ई		उंङ्गी	२०९
ईर्ष्या	११०, १११	उदयचन्द्र	६०, ६१
ईर्ष्यानिन्तर	२८९	उदयन	२
ईषत्प्रौढसन्दर्भ	३४	उदयसागर	५४
ईषन्मृदुसन्दर्भ	३४	उदयसिंह	२८
ईहामृग	१२, १७, ८३, २८७	उदात्त	२१८, २२०, २२१, २२४,
उ			२२६, २२९, २३०, २३१,
उक्तपदता	११५, १५६		२४३
उक्ति	१९०, १९७, १९८	उदात्तता	१९०, १९७, १९९
उक्तिकवि	६६	उदात्तालंकार	४०
उक्तिनिमित्त-विशेषोक्ति	२३१	उदारता	१८९, १९७
उग्रता	१३०	उद्दिष्टवर्णन	२७
उचित	२२७		

३१४ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

उद्दीपन	१७९	उपमारूपक	४, ५, २१२
उद्दीपनविभाव	१२७	उपमालंकार	३८, ९८, २१९
उद्धतमन्मथा	४७	उपमेय	२६, १५६, २१४, २१५
उद्भट	१, १८५, १८६, २१४, २२५	उपमेयोपमा	२१३, २१५, २१६, २१८, २२१, २२४, २२६, २२८, २३०, २३१
उद्भटालंकार	४	उपवेद	२५४
उद्भिद्	५, २१३	उपसंहार	२८५
उद्यान	२६, ८८	उपसर्गमण्डन	४३
उद्वर्त	५, २१२	उपहतविसर्ग	१६२
उद्वेग	४८, १३१, २७५	उपहतविसर्गता	१५३
उन्माद	४८, १३०, २७५	उपहसित	११२, ११३
उपकथा	१२, ९३, ९४, २८७	उपादानकारण	७२
उपक्रम	३,	उपाध्याय	१७, ५४, ५५
उपघातक	१४३, १४४	उपाध्याय पुष्यनन्दन	५७
उपघातजनक	३	उपाध्याय मेरुसुन्दर	६०
उपचार	१८७	उपाध्याय यशोविजयगणि	५८
उपचारमूलशब्दवैचित्र्य	२१	उपाध्याय श्रीवल्लभ	६०
उपचारवशात्	२०९	उपाध्याय समयसुन्दर	६०
उपदेशतरंगिणी	१३, १४	उपालम्भन	२४०
उपनागरिका	२०९, २७८	उपासना	७२
उपनिषद्	९९	उपेक्षणीय	१७
उपनायक	३४, २७१, २९४	उपेक्षा	४८, १३१
उपमा	५, ११, २७, ३८, ४१, ४५, १५५, २०३, २०४, २०५, २०६, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २२०, २२१, २२२, २२४, २२५, २२७, २२८, २३०, २३१, २९१	उपेक्षावयव	५, २१३
उपमादोष	१४३, १४५	उभयकवि	६६
उपमान	२६, २७, १५६, १७७, २१४, २१५	उभयदोष	११, २१, १४७, १६२, १६७, २८९
उपमानाधिक्य	१४५	उभयनिष्ठ	६९, ७०, ७१
		उभयन्यास	२२४, २२७
		उभयपदी	३१
		उभयवैचित्र्य	८५
		उभयशक्तिमूल	२५०
		उभयशक्तिमूलकव्यंग्य	२४१, २४७, २४८

उभयशक्त्युद्भव	२५१, २५२	ओजगुण	८
उभयालंकार	२०७, २११, २२६, २९१	ओजस्वी	२१०
उल्का	४७	औ	
उल्लेख	२१८, २१९, २२१, २२२, २२३, २२६, २२९, २३०, २३१	औचिति	१९०, २४१
उवस्समालाकहाणयच्छप्पय	२९	औचित्य	३८, १८३, १८४, २४२
ऊ		औत्सुक्य	१३०
ऊन	१४३, १४४	औदार्य	८, १८, १९०, १९३, २६०, २६१, २६८, २७०, २९०
ऊर्जस्व	२२०	औपदेशिक	६६
ऊर्जस्वि	२१८, २१९	औपमानिकी	१३८
ऊर्जस्वी	२२१, २२२, २२९, २३०, २३१	औपम्य	२२७
ऊर्जा	५, २१२	औपम्यमूलक	२२८, २९२
ऋ		औपम्यमूलकवर्ग	२१७
ऋग्वेद	२५३, २५४, २७९	औपाधिकी	७५
ऋतु	२६	औमेयी (उमापुत्री)	२७९
ऋषभदेव	२३	और्जित्य	१९०, १९७, १९८
ऋषभदेवचरितमहाकाव्य	४१	क	
ए		ककुदाचार्य सन्तानीय	६०
एकत्रविकल्पिकोपमा	५	ककुभ	१४८
एकाक्षर	२१०	कथनीय का अकथन	५१
एकाक्षरकाण्ड	३१	कथा	४१, ८१, ८२, ८३, ८४, ९१, ९२
एकार्थ	१४३, १४६, १७६	कथा-आख्यान	१२
एकालाप	२१०	कथित	१६२
एकावली	३३, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३२	कथितपदता	१५३
एकाश्रयानुप्रवेश	२५२	कनिष्ठा	२६४, २६५, २६६
ओ		कनिष्ठा नायिका	२५८
ओज	११, २१, ६३, १८९, १९२, १९३, १९४, १९७, २९०	कन्या	४७, २६३, २६४
		करुण	३, ४८, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०८, १२२, १२३, १२४, १२५, १८२, १९३, २८१, २८८

३१६ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदानं

कण्ठरस ११०, १११, ११३, ११४,	कविनिष्ठ	६९
१७८	कविप्रौढोक्ति	२४६
कण्ठविप्रलम्भ ११०, १११	कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न	२४६, २९३
कण्ठदेव ७	कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर	११
कर्णाटक ३२	कविप्रौढोक्तिसिद्ध	२५०, २५१
कर्णाटी २०९	कविभेद	६६, ६८
कर्णालंकारमञ्जरी ५६	कविमदपरिहार	५६
कर्पूरमञ्जरी १८०	कविमदपरिहारवृत्ति	५६
कर्षक ६७	कविमुखमण्डन	५६
कलहान्तरिता २६६, २६७	कविराज	६६
कला ७२	कविशिक्षा २०, २१, २५, ३८, ५२,	५४, ६४
कलाकलाप २४	कविसमय ८, ११, २६	३०, ३४
कलापक १२, ८२, ८४, ९६	कविसमयप्रसिद्धि	२३
कलाविरोधी १४६	कविसार्वभौम	२३
कलिकालसर्वज्ञ ९	कविस्वरूप २३, ३८, ६२, ६३, ६४,	६५
कल्पनादुष्ट १४५	कषादि २०९	कष्ट १६८, १६९, १७७, १७८, १८५
कल्पनिरुक्त २८, २९	कष्टकल्पना १८२	कष्टता १५५
कल्पपल्लवशेष विवेक ५२	कष्टत्व १८७	कष्टार्थता १६९
कल्पलता ५२	काकपद २१०	काकु २४३, २४५
कल्पलतापल्लव ५२	काकुत्स्थकेलि १९	काकुवक्रोक्ति २०७, २०८
कल्पान्तर्वाच्य ४४	काकुवाक्षिप्त ९७	कादम्बरी ४९, ५०
कल्पितार्थत्व १६४	कादम्बरीदर्पण ४२	कान्तासम्मित-उपदेश ६९, ७०
कवि ६२, ६३, ६४, ६५, ७०, २८७	काकुत्स्थकेलि १९	काम ७०
कविकटारमल्ल १३, १४	काकुवक्रोक्ति २०७, २०८	
कविकण्ठाभरण २५	काकुवाक्षिप्त ९७	
कविकल्पद्रुम ४३	कादम्बरी ४९, ५०	
कवितारहस्य २५, ५४	कादम्बरीदर्पण ४२	
कवित्वशक्ति ७३	कान्तासम्मित-उपदेश ६९, ७०	
कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न २४६, २९३	काम ७०	
कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नशरीर ११		
कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध २५१		

शब्दानुक्रमिका : ३१७

कान्ति १८, ४१, १८९, १९०	काव्यकला	२३
१९१, १९७, २६८, २७०	काव्यकल्पलता २२, २४, २५, ५४, ५५	
कामक्रीड़ा २६	काव्यकल्पलतापरिमल २४	
कामराजदीक्षित २५५	काव्यकल्पलतापरिमलवृत्ति ५४	
कामशास्त्र १८५	काव्यकल्पलतामंजरी २४	
कामशास्त्रविरुद्ध १७३	काव्यकल्पलतामंजरीवृत्ति ५५	
कामसूत्र ९९	काव्यकल्पलतावृत्ति २४, ५४, ५६, २८६	
काम की अवस्था २७४, २९४	काव्यकल्पलतावृत्ति-टीका ५५	
काम की दस अवस्थाएँ ३३, ४८	काव्यकल्पलतावृत्ति-बालावबोध ५५, ५६	
कामावस्था ४२, २७४, २७५	काव्यकल्पलतावृत्ति-मकरन्द टीका ५५	
कामिराज ३२, ३३	काव्यकवि ६६, ६७, ६८	
कामिराजस्तुति ३३	काव्यकारण ६२, ६३, ६५	
कामिराय २८६	काव्यकौतुक ६३	
कायिक १२७	काव्यगुण २०२	
कारकशिक्षा ३१	काव्यचिह्न ४५, २००, २०१, २०२	
कारण २२२	काव्यदोष ८	
कारणमाला ११, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३२	काव्यनिर्माण ६६, ७४	
कारयित्री ७५	काव्यप्रकाश १०, २०, ५०, ५१, ५८, ५९, ६९, ९९, १७५, १७७, २४५, २८६	
कारु ४८	काव्यप्रकाशकार ५२	
कार्य १७, ४५, २००, २०१, २२२	काव्यप्रकाशखण्डन ४९, ५०, ७१, २८६	
कार्यकारणभाव ३४	काव्यप्रकाशगुरुटीका ५८	
कार्यहेतुक ११०, १११	काव्यप्रकाशटीका ५८, ५९	
काल २४१, २४३, २४५	काव्यप्रकाशवृत्ति ५८	
कालकाचरित ४४	काव्यप्रकाशसंकेतवृत्ति ५८	
कालदोष १४३, १४५	काव्यप्रबन्ध १८८	
कालादि-औचित्य ४२	काव्यप्रयोजन ८, ११, २१, ४१, ४५, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२	
कालिकाचार्य ४३	काव्य-भेद ८, ११, ८१, ९६	
कालिकाचार्य कथा २९, ३०, ४४	काव्यमण्डन ४३	
कालिदास २३, १०८		
काव्य १२, १७, १८, ६२, ७३, ७७, ७८, ७९, ८३, १८७, २६१, २६२, २८७		

३१८ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

काव्यमीमांसा	१०, २५, ६५	काव्यालङ्कारसारसंग्रह	४३, ४५, २८६
काव्य में शास्त्र का समावेश करने वाला	६६	काव्येन्दुप्रकाश	२५५
काव्यरचना	६२, ६३, ७२, ७४, ७६, ८०	किलिकिञ्चित्	२६८, २६९
काव्यलक्षण	११, २१, ४३, ५६	कीथ	२५४
काव्यलिङ्ग	२१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२९, २३०, २३१	कीर्ति	३१, ६८, ७०
काव्यविद्यास्नातक	६६	कीर्तिवर्द्धन (केशव)	६१
काव्यविशेष	२३५	कुट्टनीमत	९३
काव्यशरीर	८	कुट्टमित	२६८, २६९
काव्यशास्त्र	२८, ६३, ६८, १८५, २०३, २३३, २५३, २७६, २७८, २९२, २९५	कुन्तक	७७
काव्यशिक्षा	२७, २८, २९, ३०, ४१, ६५, ६७, २८६	कुमार	२६
काव्यसम्पदा	६२, ६३	कुमारपाल	१४, १५
काव्यसर्जना	६६, ७२, ७६	कुमारविहारशतक	१६
काव्यसामग्री	३९	कुमारसम्भव	१७९, १८०
काव्यस्वरूप	८, ३०, ३३, ३८, ४१, ४५, ५१, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१	कुमारिल्लभट्ट	२४४
काव्यहेतु	८, ११, २१, ३८, ४१, ४५, ७२, ७४, ७५, ७६	कुमुदचन्द्र	५३
काव्यादर्श	४, ५७, १८८, २०६	कुलक	१२, ८२, ८४, ९५, ९६
काव्यादर्शवृत्ति	५७	कुसंधि	१६२
काव्यानुशासन	५, ६, १०, ११, २०, ३१, ३९, ४१, ५४, १७५, २४५, २८५, २८६, २९४	कुणवर्मा	५४
काव्यानुशासन-अवचूरि	५४	के० एच० त्रिवेदी	१५, १६
काव्यानुशासनवृत्ति	५४	के० रामचन्द्र शर्मा	५६
काव्यालङ्कार	५७, ५८, २३०	कैटभ	२७८
काव्यालङ्कारनिबन्धनवृत्ति	५७	कैशिकी	१७, ३४, ४८, २५५, २७८, २७९, २८०, २८१, २९५
काव्यालङ्कारवृत्ति	५७	कोमला	२०९, २७८
		कोश	१२, ४६, ७२, ८२, ९५, ९६
		कोष्ठागारिक पद्य	२२
		कौगी	२०९
		कौकणी	२०९
		कौतुक	२१०
		कौन्तली	२०९
		कौमुदीमित्राणन्दप्रकरण	१५
		क्रम	२२०
		क्रमच्युत	१६१
		क्रमभिन्न	१४३, १४४

शब्दानुक्रमणिका : ३१९

क्रमशाली	२०९	गत-प्रत्यागत	२१०
क्रमालङ्कार	२२१	गति	१९०, १९७, १९८
क्रममुक्ताक	२८३	गतिहीन	२६२
क्रियात्मक	२६८	गन्ध	१३८
क्रियानिर्णय परिच्छेद	३१	गम्यमान-औपम्यमूलक	२२९
क्रियोत्तर	४, ५, २१२, २१३, २९१	गर्भ	१७
क्रोध	१३६, १३७, १८०	गर्भित	१६२, १८५, २०९
क्लिष्ट	१४५, १४७, १४९, १५०, १६३, १६७, १६८, १८५	गर्भितता	१५३, १५५, १५७, १५८, १८४
क्लिष्टता	१६६, १८४	गर्व	१३०
क्वचित्पराङ्मता	९७, २८८	गाण्डीव	२४२
क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष	९७, २८८	गन्धर्ववेद	२५४
क्वचिदतिस्फुटता	९७, २८८	गाम्भीर्य	१८, १९०, १९७, २६०
क्वचिदस्फुटता	९७, २८८	गिरनार	२०
क्षमा	१३१	गीत	१७३, २५३, २५४, २५६
क्षमामाणिक्य	५९	गीतविरुद्ध	१७३
क्षयोपशम	१३८	गुजरात	९, १८
क्षुधा	१३१	गुण	३८, ४१, ४३, ४५, ५२, ६४, ७८, ७९, ८०, १६७, १७५, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १९१, १९३, २५५, २९०
क्षेमेन्द्र	२५	गुणकलिता	५
ख		गुण का महत्त्व	३४
खण्डकथा	१२, ८२, ९२, ९३, ९४, २८७	गुणकीर्तन	४८, २७५
खण्डकाव्य	८२	गुणदोष	११
खण्डित	१५३	गुणभेद	१८९
खण्डिता	४७, २६६	गुणरत्नगणि	५८
खण्डोत्तर	२१०	गुण-रीतिसम्प्रदाय	१
खंभात	२४, ५४	गुणवर्मा	३२
खुशफहम (तीक्ष्णबुद्धि)	४८	गुणविचार	१८५
ग		गुणस्वरूप	५२, २०२
गंगवंश	३३	गुणार्णव	३२
गण	३८		
गणेश	५४, १२३		

३२० : जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

गुणार्थप्रतीतिमूलक	२२९	घ	
गुणालङ्कारविवेक	२०२	घटमान	६६
गुणीभूतव्यङ्ग्य	२१, ५१, ९६	घण्टामाघ	२३
गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य (मध्यमकाव्य)		घोड़ा	२६
	९७	च	
गुणोत्तर ४, ५, २१२, २१३, २९१		चक्रवृत्तक	२१०
गुरु	४८	चण्डी	३१
गुरु नामक बृहद् टीका	४८	चतुरप्रिया	६१
गुर्जर	२३	चतुर्वर्गफलप्रदाता	६८
गुलाबचन्द्र चौधरी	२४, २८, ४७	चतुर्विंशति जिनेन्द्रसंक्षिप्तचरित	२४
गूढशब्दाभिधान	१४५	चन्द्र	२६
गूढा-उपमा	५	चन्द्रगच्छ	२८
गूढार्थ १४३, १४९, १५०, १५१,		चन्द्रमा	८९
१५२		चन्द्रविजयप्रबन्ध	४२
गूढार्थप्रतीतिमूलक	२२८, २९२	चन्द्रशेखर	३२
गेय	१२, ८३, ८४, २८७	चपलता	१३०
गोमूत्र	२१०	चम्पू	१२, ८१, ८३, ८४, ९५
गोरोचना	९३	चम्पूकाव्य	९५
गोविन्द	९३	चम्पूमण्डन	४२
गोष्ठी	१२, १८, ८३, २८७	चांगदेव	९
गौडी	३४, ४१, ४५, १५४, २७८	चाचिग	९
गौडीया	८, २७७, २९४	चारुदत्त	२५८
गोण	२३५, २४१, २४५, २४९	चित्र ११, ४१, ४५, १८५, २०५,	
गोणशब्दशक्तिमूलकव्यङ्ग्य	२४५	२०६, २०७, २०९, २१०,	
ग्राम	२६, ८८	२११, २२१, २३१, २९१	
ग्राम्य १४७, १४८, १४९, १५०,		चित्र-अनुप्रास	२६
१६२, १६७, १६८, १६९,		चित्रकर्म	१७३
१७७, १७८		चित्रकार	६४
ग्राम्यता	१८४	चित्रकाव्य	९६, ९७
ग्राम्यदोष	१९६	चित्रप्रपञ्च	२७
ग्राम्यत्व	१४६, १७०	चित्रबन्ध	८
ग्राम्यत्वदोष	१६३	चित्रभेद	५१
ग्लानि	१३०, १३१	चित्रलेखा	९४
		चित्रालङ्कार	८, ३८, २०८, २१०,
			२१२

शब्दानुक्रमिका : ३२१

चिन्ता	४८, १३०, २७५	छलित	८३
चिन्तामणि	६७	छविदोष	१४३, १४५
चिह्न	३१	छेक	२०९
चुम्बक	६७	छेकानुप्रास	२०७
चुम्बिता नायिका	२६६	ज	
चूर्ण	८२	जइदिणचरिया (यति-दिन-चर्या)	४४
चूलिका	१७	जंगल	२६
चूलिकासूत्र	३	जड़ता	२७५
चेट	२७२	जड़त्व	४८
चेटी	४८	जन्मकल्याणक	९०
चेष्टा	४७, २४५, २६८	जम्बूचरित	४६
चेष्टालंकार	२५५	जयदेव	१९०, २२४
चैत्य	३१	जयमंगल	२५
चौधरी	२९	जयमंगलसूरि	५४
चौपासनी	६१	जयसिंह	६, ७
च्युतसंस्कार	१५०, १६७, १९९	जयसिंहदेव	१३
च्युतसंस्कृति	४५, १४७, १४९, १५०, १६१, १६२, २८९	जयानन्दसूरि	५८
छ		जलक्रीड़ा	२६, ८४, ९१
छत्रबन्ध	२१०	जागर	२७५
छन्द	४२, ५१, ६२, ७२	जाति ११, ४१, २१३, २१४, २१५, २२४, २२५, २२७	५, २१२
छन्दच्युत	१६१	जातिव्यतिरेक	२२
छन्दपूर्ति	२६	जिनदत्तसूरि	४३
छन्दप्रकाश	३७	जिनदेवसूरि	५९
छन्दशास्त्र	१५१, १५४, १५७	जिनप्रभसूरि	३१
छन्दशास्त्रज्ञ	६४	जिनयक्ष	५३
छन्दसिद्धि	२५	जिनवर्धनसूरि	५०
छन्दोऽनुशासन	१०, ३२, ४१	जिनविजय	५०
छन्दोऽभ्यास	२६	जिनशतक टोका	१५४
छन्दोभ्रष्ट	१५३, १५४	जिनस्वामि	५६
छन्दोरत्नावली	२४	जिनहर्ष	३१
छन्दःकोश	२५	जितेन्द्र भगवान्	२२
छल	३, १४३, १४४	जीवदेवसूरि	१०८, १३६, १३७, १६३, १६८

३२२ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

जुगुप्सा-अश्लील	१८५	तामस्	२६८
जुगुप्साजनक	१४९	ताम्रपट्टिका	१५
जुगुप्साजनक-अश्लील	१६७	ताम्रलिप्तिका	२०९
जैसलमेर	४, ५५	ताक्यं	२१०
जोधपुर	४६, ६०	तालवृन्त	२१०
ज्ञानचन्द्रोदय नाटक	४७	तिन्तिडीकपाक	२८३
ज्ञानप्रमोदगणिवाचक	५३	तुलुवप्रदेश	३५
ज्ञानमहोदधि	१०	तुल्यप्राधान्य	९७, २८७
ज्ञानमेरु	५६	तुल्ययोगिता	२१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२९, २३०, २३१
ज्ञानावरण	१३८	तुष्णा	१६, १३१, १८, २६०, २६१
ज्येष्ठा	२५८, २६४, २६५, २६६	तेज	२१
ज्योतिप्रसाद जैन	३५, ३७, ५५	तेजपाल	२, ३
ज्योतिष	४२, ४६	तोसलीपुत्र	१६९
ज्ञ		त्यक्तपुनरात्त	१७३
क्षाक्षण	४२	त्यक्तपुनरात्तत्व	१६९
ड		त्यक्तपुनःस्वीकृत	१५८, १५९, १६०, १८४
डिम	१२, १७, ८३, २८७	त्रपानाश	२७५, २७६
डिम्भ (बालक)	७५	त्रपुसपाक	२८३
डोम्बिका	१२, ८३, २८७	त्रावणी	२०९
त		त्रास	१३०
तत्त्व	२२७	त्रिभुवनचन्द्र	५७
तत्रभवन्	१८१	त्रिमल्ल	५६
तद्गुण	२१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२९, २३०, २३१	त्रिवर्ग	७१
तनुता	२७५	त्रिवर्गफलप्राप्ति	७०, ७१
तपस्विनी	४८	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	१०
तपागच्छ	४५	त्रैविद्यवेदिनः	१४
तपागच्छीय	४८	थ	
तरंग	२१, २२	थाहड	६, ७
तर्कन्यायमूलक	२२९, २३१, २९२	द	
तर्कभाषाटीका	५०	दक्ष	६३
तर्कशास्त्र	७२		
तात्पर्या	२७८		
तापस	९३		
तापसवत्सराज	१८०		

दक्षिण	४१, २५८, २५९	२२२, २२४, २२५, २२७, २२९, २३०, २३१, २३२	
दण्डी	१, ५७, ६२, ६३, ६८, ७३, ७५, ७६, ७७, ८१, ८२, ८३, ८४, ९१, ९५, १०५, १४०, १४६, १८८, १८९, २०४, २०५, २१४, २२०, २२१, २२२, २२५, २२६, २५५, २९१	दीपकालङ्कार दीपमालिकाकल्प दीपिकाकालिदास दीप्ति दुःख दुःख और सुखरस दुःखरस दुःखसंस्था दुःखात्मक रस दुर्मिलिता दुर्योधन दुर्वृत्तता दुःश्रव दुःश्रवता दुष्कर्म दुष्टपात्र दुष्टसंघि दुष्यन्त दुःसन्धानरस दुस्सन्धान दूत दूतप्रेषण दूषण दूष्य दृष्टरूप आनन्द दृष्टरूप प्रीति (आनन्द) दृष्टान्त २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २९२	२१४ २८, २९ २३ १७८, २६८, २७० १६ २८६ १०७ ४७ १०२ १८ २६२ १५८ १६७ १८४ १६८, १७६, १८४ ४८ १८५ २६४ ४८ १८३ ८८ ८४ ४८ १२ ७० ६८ १४६ २
दत्तावसर	६६		
दमयन्ती	९५		
दम्भ	१३१		
दया	१३१		
दयारत्न आद्यपक्षीय	६१		
दयावीर	११६		
दर्पणनामक टीका	६०		
दर्पणबन्ध	२१०		
दर्शन	६४		
दशपुर	२, ३		
दशरूपक	४७, २५४, २९३		
दशरूपककार	२५६, २६०, २६१, २६२, २६३, २९४		
दस अवस्था	३३, ३९		
दाक्षिण्य	१३१, २३९		
दान	४८		
दानवीर	११५, ११६		
दासी	३४		
दिगम्बर	४६, ५७		
दिव्यपातालीया	१८०		
दिव्यमर्त्यपातालीया	१८०		
दिव्यमानुषी	१८०		
दिव्या	१८०		
दीपक	५, ११, २०३, ११२, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१,	दृष्टान्तहीन दृष्टिवाद	१४६ २

३२४ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

देवकुलिका	४०	द्विसमस्तकुमुव्यस्त	२१०
देवचन्द्र	९		
देवता	३८, १२२, १२३, १२४	घ	
देवप्रभसूरि	१८	घनञ्जय	१६, ११०, १२६, १२८, १३३, १३४, १३६, १३९, २५४, २५५, २५७, २६७, २७१, २७२, २७३, २७४, २८१
देवसूरि	७		
देवेश्वर	२५		
देश	२६, ८७, २४१, २४२, २४५		
देशविरोधी	१४६		
दैव्य	१३०	घनप्राप्ति	६९, ७०
दैवक	२२६	घनलाभ	६८
दैववशात्	११०, १११	घनिक	२७९
दोष	६४, १४२, १६४, १६५, १६६, १६७, १७१, १७४, १७५, १७७, १७९, १८०, १८१, १८२, १८४, १९९, २५५, २८९	घनुर्वेद	२५४
दोषपरिहार	४१, १८३, १८४, १८५	घर्म	६८, ७०
दोषबीज	३१	घर्मदास	५९
दोषरहित	७८, ७९, ८०	घर्मविधिवृत्ति	२८
दोषस्वरूप	५१	घर्मवीर	१०७, ११५, ११६
दोषाभाव	१८३	घर्मशास्त्रविरुद्ध	१७३
द्रव्यालङ्कार	१६	घातुतरङ्गिणी	४६
द्रव्योत्तर	४, ५, २१२, २१३, २९१	घातुमञ्जरी	४९, ५०
द्राक्षापाक	२८३, २८४, २९५	घात्री	४८
द्रावक	६७	घोरता	२६८
द्रुति	१९३	घोरप्रशान्त	१८०, २५८, २६०
द्रुहिल	१४३, १४४	घोरललित	४१, १८०, २५८, २५९, २६०, २६८
द्रोहिणि	२५४	घीरा	२६४, २६५
द्वयक्षर	२१०	घीराऽघीरा	२६४, २६५
द्वयाश्रयमहाकाव्य	१०	घीराऽघीराप्रगल्भा	२६५
द्वान्निशिकाएँ	१०	घीराऽघीरामध्या	२६५
द्विपदा	८३	घीराप्रगल्भा	२६५
द्विव्यस्त	२१०	घीरामध्या	२६५
द्विव्यस्तसमस्त	२१०	घीरोदात्त	४१, १८०, २५८, २५९, २६०
द्विसमस्त	२१०	घीरोद्वत	१८०, २५८, २६०, २६२

शब्दानुक्रमिका : ३२५

धुंघुका	९	११३,	११४,	११५,	११६,
धूर्त	९३	११७,	११८,	११९,	१२०,
धृति	१३०	१२२,	१२७,	१२९,	१३२,
धृष्ट	४१, २५८	१३४,	१३६,	१३७,	१३८,
धैर्य	२६८, २७०	१३९,	१४१,	१४२,	१४८,
धोलका	१८	१५२,	१५८,	१५९,	१६०,
ध्वनि २१, ८०, ८१, ९६, २३३,		१६२,	१६७,	१६८,	१७५,
२३४, २३५, २४०, २४९,		१८२,	१८३,	१८४,	१८५,
२५०, २५१, २५२, २९२		१८७,	१८८,	१९५,	१९६,
ध्वनिकाव्य	९६, ९७	१९७,	२०२,	२०४,	२०५,
ध्वनिविचार	२३३	२०८,	२०९,	२११,	२१२,
ध्वनिवैविध्य	२३६	२१८,	२१९,	२२०,	२२९,
ध्वनिसंप्रदाय	१, २०३	२३०,	२३२,	२४०,	२४१,
ध्वनिसिद्धान्त	२३४	२४४,	२४५,	२४६,	२४७,
ध्वनिस्वरूप	७७, २३५	२४८,	२४९,	२५०,	२७०,
ध्वन्यालोक	१०, २३४	२८६,	२८८,	२९०,	२९१,
ध्वस्तविसर्गान्त	१५८			२९२,	२९३
न		नर्मसचिव		२७२,	२७४
नगर	२६, ८४, ८८	नर्मसचिवस्वरूप		४७	
नगरी	३१	नलविलास नाटक		१५	
नगेन्द्र	७१	नलोटकपुर		४०	
नट	२५४	नागपाश		२१०	
नटी	४८	नागर		२०९	
नदी	२६, ८८	नागरिक	३४, २७१, २७४		
नमिसाधु	५७, २२७	नाच	२५४		
नय	३	नाटक १२, १७, ४६, ८१, ८२, ८३,			
नयचन्द्रसूरि	२३	२५४, २५६, २८७			
नयनप्रीति	२७५	नाटकलक्षण	२५५		
नरचन्द्रसूरि	१८, १९	नाटकलक्षणरत्नकोश	२५४, २५५,		
नरवाहनदत्त	९४	२९३			
नरसिंहसूरि	२८	नाटिका १२, १६, १७, ८३, ८४,			
नरेन्द्रप्रभसूरि	१८, १९, २०, २८,	२८७			
६२, ६३, ७०, ७१, ७५, ७८,		नाट्य (काव्य) ६८, २५३, २५४,			
७९, ८०, ९७, १०३, १०७,		२५५			
१०८, १०९, १११, ११२,		नाट्यग्रन्थ	२५४, २५५		
		नाट्यतत्त्व	२५५, २९३		
		नाट्यदर्पण १६, १७, ४७, २५४			
		२५५, २८६,			

३२६ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

नाट्यदर्पणकार	१०२, १०३, २८८	नित्य	२३३
नाट्यदर्पणविवृति	१४	नित्यता	१८६
नाट्यरासक	१८,	नित्याभ्यासी	६४
नाट्यवृत्तियाँ	२७८, २९४, २९५,	निदर्शन १२, ९३, २१५, २१६, २२०,	
नाट्यवेद	२५३, २५४, २५६,	२२४, २८७,	
नाट्यशास्त्र	६८, ८४, १०१, १४०,	निदर्शना ५, ११, २१२, २१५, २१८,	
२२६, २५३, २५४, २५५,		२२१, २२६, २२९, २३०, २३१	
२७२, २७६, २७८, २८५,		निदर्शनालङ्कार	२९२
२९३,		निद्रा	१३०
नाट्यशास्त्री	२५४	निन्दा	२४०
नाट्यसम्प्रदाय	१,	निन्दा-प्रशंसोपमा	५
नाट्यालङ्कार	२५५	निन्दोपमा	५
नाथूराम प्रेमी	३९, ४७,	निपुणता	६३, ६४, ७३
नान्दी	१८,	निबद्ध	८२
नामद्विरुक्ति अनुप्रास	२०९,	निमित्तकारण	७२
नामाख्यात	२१०,	नियताप्ति	१७
नायक ८, १७, १८, ४७, २४०,		निरर्गल	७०
२५५, २५६, २५७, २६०,		निरर्थक ३, ४१, १४३, १४४, १४७,	
२६३, २६४, २७५, २९४		१४८, १४९, १५२, १६७,	
नायक-अनुचर	४२	१८४, १८५	
नायकगुण	४२, २५५	निरुक्त	२००, २०१
नायकभेद	४७, २५८	निरुक्ति	४५
नायकस्वरूप	३४, ४७, २५६	निर्देश	२४३, २४५
नायकाम्युदय	८५	निर्देशदोष	१४३, १४५
नायिका ८, १८, ३४, ६५, २४०,		निर्मयभीमव्यायोग	१५
२५५, २६२, २६३, २६४,		निर्वहण	१७
२६६, २६७, २६८, २७५,		निर्वाह	१९०
२९४		निर्वेद १०५, १०८, १३०, १३१,	
नायिकाभेद ११, ३९, ४२, २५५,		१३२, १३३, १३७	
२६३		निर्हेतु १६८, १७५, १७६, १७७,	
नायिका-स्वरूप	४७, २६२	१८५, २८९, २९०	
नारिकेर	२८३	निर्हेतुता	१८४
नारिकेरपाक	२८३, २८४, २९५	निवर्तन	७०
निक्षेप	३	निश्चय	२४०
निगूढपाद	२१०		

निषण्ण	६६	न्यायादपेत	१४६
निषेध	२३८, २३९, २४०, २४१	न्यास	१९०
निषेधपरक	२३६	न्यून	१९०
निषेधरूप	२३७, २३९	न्यूनता	१८४
निषेधान्तर	२३८, २४०	न्यूनपद	१८५
निषेधान्तररूप	२३७	न्यूनपदता	१५३, १५५, १५६, १५८
निष्पत्ति	२४७	न्यूनोपमा	१६१
निःसालबन्ध	२१०		
निस्सार	१४३, १४४	प	
निहतार्थ	१४७, १५१, १५२, १६२, १६७, १६८, १८४	पञ्चतन्त्र	९३
निहतार्थदोष	१४९	पञ्चमवेद	२५४
नीरस	१८३, २६४	पञ्चाक्षरकाण्ड	३१
नीरसकाव्य	४८	पट्टकबन्ध	२१०
नृत्य	१७३	पणाङ्गना	४७
नेता (नायक)	२५७	पण्डितराज जगन्नाथ	७६, ७८, ९८
नेमिकुमार	३९, ४०	पतत्प्रकर्ष	१५३, १५६, १५८, १६२
नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य	६, ३५, ३६, ३९, ४७,	पतत्प्रकर्षता	१५५, १८४
नेमिचन्द्र भण्डारी	५५	पतत्प्रकर्षदोष	१९७
नेमिनाथ	४०, १५४,	पतत्प्रोत्कृष्ट	१६१
नेमिनाथ चतुष्पादिका	२०	पताका	१७, २७३
नेमिनिर्वाणकाव्य	६	पत्तन	१४
नेयार्थ	१४५, १४७, १४९, १५२, १६२, १६७, १६८, १८५	पद	२७, ३४, ४१, १८५, २०८, २०९, २११, २४६, २४८, २४९, २५०, २५२
नेयार्थता	१६५, २८९	पददोष	२१, ३४, ४५, १४६, १४९, १५१, १६१, १६२, २८९
नैयायिक	२४४	पदप्रकाश नामक टीका	५९
नैष्कामिकी	१८	पदसौकुमार्य	१८९
नैसर्गिकी	१३८	पदांश	३४, २५१, २५२
न्याय	४२	पदांशगतदोष	१५२
न्यायकंदलीपंजिका	१९	पदांशदोष	१४६, १४७, २८९
न्यायमूलक	२२८, २२९, २९२	पदाधिक्य	१८४
न्यायविरोधी	१४६		

३२८ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

पदान्त	२४८, २५०	परिकराङ्कुर	२२१, २२२, २२३
पदार्थदोष	१४३, १४५	परिणाम	२१८, २१९, २२१, २२२, २२३, २२९, २३०, २३१
पदैकदेश	१५२		
पद्य	२१०	परिणाम-उल्लेख	२१९
पद्यबन्ध	१०९	परिणीता कनिष्ठा	२६४
पद्यमेरु	४६	परिणीता ज्येष्ठा	२६४
पद्मसुन्दरगणि ४५, ४६, १०८, १०९		परिवर्तक	६६
१११, ११३, ११४, ११५,		परिवर्तनशीलता	१८६
११६, ११७, ११८, ११९,		परिवृत्त	५, २१२, २२०
१२०, १२१, १२५, १३०,		परिवृत्त-अनियम	१६९, १७४, १७७
१३३, १३५, १३७, १८२,		परिवृत्त-अनुवाद	१६९, १७५, १७७
१८३, २५९, २६३, २६७,		परिवृत्त-नियम	१६९, १७४, १७७
२७५, २८६, २९४		परिवृत्त-विधि	१६९, १७५, १७७
पद्मसेन	३५	परिवृत्त-विशेष	१६९, १७४, १७७
पद्मानन्द	२३, २४	परिवृत्त-सामान्य	१६९, १७४, १७७
पद्मानन्दमहाकाव्य	२३, २४	परिवृत्ति ११, २१३, २१५, २१८,	
परकथा	९२	२२१, २२४, २२५, २२७,	
परकीया	३४, २६३, २६४	२२९, २३०, २३१	
परतन्त्रतावशात्	११०	परिसंख्या ११, २१३, २१४, २१५,	
परपरिणीता (परस्त्री)	२६३	२१८, २२०, २२१, २२४,	
परमतव्यवच्छेदस्याद्वादद्वात्रिशिका	४७	२२५, २२६, २२७, २२९,	
परमार्थबीज	३१	२३०, २३१	
परमेश्वरस्तवन	७१	परिस्थिति	२५६
परवशात्	१११	परुष (श्रुतिकटु) १५०, १५१, १६२,	
परशुराम	१७९, २५८	१६३, १६८	
परस्त्रीसंगमोपाय	४८	परुषा	२०९, २७८
परस्थ	११२	परुषार्थ	१७६
परस्मैपदी	३१	पर्याय ५, २१२, २१८, २२०,	
पराङ्गता	९८	२२१, २२४, २२६, २२७,	
परिकथा १२, ८२, ९३, ९४, १८७		२२९, २३०, २३१	
परिकर ५, २१२, २१८, २२०,		पर्यायबन्ध	८२, ९६
२२१, २२४, २२६, २२७,		पर्यायोक्त ११, २१५, २१८, २२०,	
२२९, २३०, २३१, २३२		२२१, २२९, २३०	

शब्दानुक्रमणिका : ३२९

पर्यायोक्ति	२१३, २१४, २२४, २२६	पिहित	२२४
	२३१	पीठमर्द	३४, ३९, ४७, २७१, २७३,
पर्यूषणाकल्प	२९		२७४
पर्वत	२६, ८४, ८८	पीयूषवर्ष जयदेव	२०१
पवनदेव	२३	पुनलिकानृत्य	२५४
पशुबन्ध	२१०	पुनरावृत्ति	१८५
पाक	३४, ७९, ८१, २८२, २९५	पुनरुक्त	१४३, १४४, १६१, १६८,
पाकभेद	२८३		१६९, १७५, १७६, १७७,
पाकमहत्त्व	२८२		१७८, १८४, १८५
पाकस्वरूप	३९, २८३	पुनरुक्तता	२८९
पाञ्चाली	३४, ४१, ४५, २७७,	पुनरुक्तत्व	१७२
	२७८, २९४	पुनरुक्तपदन्यास	१५८, १८४
पाटन	५६, ५९	पुनरुक्तवदाभास	११, २७, ४१, ४५,
पाटलिपुत्र	२		२०७, २०९, २१०, २११,
पाठधर्म	२०८		२१२, २९१
पाठ्य	१२, ८३, २५३	पुनरुक्ताभास	२०७, २०८
पाण्डित्यदर्पण	६१	पुराण	३८, ९९
पाण्ड्यप्प	३२	पुरुदेवचम्पू	३६
पाण्ड्वंग	३२	पुरुवा-उर्वशी संवाद	२५४
पातालीया	१८०	पुरुषार्थ चतुष्टय	६८, ७०, ७१
पात्रदुष्ट	१८३	पुरोहित	२६, ९३
पादोत्तर	२१०	पुष्पचयन	२६
पापी	२६२	पुष्पावचय	९०
पारुष्यदोष	२००	पूना	५६, ५८
पार्वती	१८०, २४३	पूर्व	२२४, २२७, २२८
पार्श्वनाथचरित	२८, २९, ३०, ४३,	पूर्वानुराग	४८
	४४, ४६	पृष्ठप्रश्न	२१०
पार्श्वनाथसूरि	५७	गौण्डी	२०९
पार्श्वसेन	३५	प्रकटता	२४४
पाहिणी	९	प्रकरण	१२, १७, ८३, १८४, २४१,
पिचुमन्दपाक	२८३		२४२, २८७
पिटर्स	१०	प्रकरणिका	१६
पिशोल	२५४	प्रकरणी	१७
		प्रकरी	१७

३३० : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

प्रकाश	११०	प्रतीप २१८, २२०, २२१, २२४,	
प्रकाशसम्भोग	१११	२२६, २२७, २२९, २३०	
प्रकाशितविरुद्ध	१६९	प्रतीयमान	३८, २३०
प्रकृति	२७, २५६	प्रतीयमान-अर्थ	२३५
प्रकृतिमूलक वर्गीकरण	२२७	प्रतीयमान-औपम्यरूप	२९२
प्रकृति-यत्यय	१८०, १८१	प्रतीयमान-औपम्यादिरूप	२३०, २३१
प्रक्रमभङ्ग	१६१	प्रतीयमानशृङ्गाररसभावादि रूप	
प्रक्रान्तालंकारवृत्ति	५६		२३१, २९२
प्रगल्भा	१८, २६५	प्रतीयमानार्थ	२३६, २३७, २३९,
प्रच्छन्न	११०		२४०
प्रच्छन्नसम्भोग	१११	प्रत्यक्ष	२४४
प्रज्ञालचूडामणि	२२	प्रत्यक्षविरुद्ध	१८५
प्रणति	४८	प्रत्यनीक २१८, २२०, २२१, २२४,	
प्रतान	२६	२२६, २२७, २२९, २३०, २३१	
प्रतापरुद्रयशोभूषण	३३, २५५	प्रत्यनीकरस	४८
प्रतिकूल-अनुभाव	१७२	प्रत्यय	२७
प्रतिकूलविभाव	१८१, १८३	प्रबन्ध	२४८, २५०, २५१
प्रतिकूलवर्णता	१५३	प्रबन्धकाव्य	१२
प्रतिज्ञाहीन	१४६	प्रबन्धकोश	२२, २३
प्रतिनायक ११, १८, ३४, २६१,		प्रबन्धगत	२४६, २४९, २५२
२६२, २७१, २९४		प्रबन्धशतकर्ता	१५
प्रतिनायिका	२४०, २७१, २९४	प्रबोध	१३०
प्रतिपाद्य	१८४, २४५	प्रभाकर	२४४
प्रतिपदोक्ति	२३१	प्रभावकचरित	६, ७, १४
प्रतिभा ६२, ६३, ६४, ६५, ६६,		प्रभिन्नक	२१०
७२, ७३, ७४, ७५		प्रमाणसुन्दर	४७
प्रतिमुख	१७	प्रमोद	७०
प्रतिलोम	२७	प्रमोदमाणिक्यगणि	५३
प्रतिवस्तूपमा ५, २१३, २१४, २१५,		प्रयत्न	१७
२१८, २२०, २२१, २२४,		प्रयाण	२६, ८४, ८८
२२६, २२९, २३०, २३१		प्रयोजन	७०, ७१, २४४
प्रतिवेश्मा	४८	प्रयोजनिक	६६
प्रतिषेध	४५, २००, २०१	प्रयोज्य	१७

शब्दानुक्रमणिका : ३३१

प्रलय	१३४	प्रातिहार्यं	३१
प्रलाप	४८	प्राप्त्याशा	१७
प्रवर्तन	७०	प्रावेशिकी	१८
प्रवह्लिका	१२, ९३, २८७	प्रासादिकी	१८
प्रवास	४८, ११०, १११	प्रियव्रत शर्मा	३९
प्रवासजन्य	१११	प्रीति	६८
प्रवासानन्तर	२८९	प्रेक्षणक	१८
प्रवृत्ति	२५६, २७६	प्रेक्ष्य	८३
प्रवेशक	१७	प्रेम	८४
प्रशान्त	३, १०५, २८८	प्रेमातिशय ४, ५, २१२, २१३, २९१	
प्रशान्तरस	१२०	प्रेय १९०, २१८, २२०, २२६	
प्रश्नोत्तर २७, २१३, २१५, २१९, २२०, २२१		प्रेयस् २१९, २२१, २२२, २२९, २३०, २३१	
प्रश्नोत्तरसम	२१०	प्रेयान् १९७, २००	
प्रसङ्गविभ्रम	४८	प्रेरण १२, ८३, २८७	
प्रसदन	१९७	प्रोषितपतिका १८, ४७	
प्रसन्नता	१९१	प्रोषितभर्तृका २६६	
प्रसाद ११, २१, ७४, १८९, १९२, १९३, १९५, १९६, २००, २९०		प्रौढा २६४	
प्रसादगुण ६७		प्रौढि १९०, १९७, १९९	
प्रसिद्धि २००, २०१		प्रौढोक्तिनिष्पन्नमात्र २४६	
प्रसिद्धिविरुद्ध १६८, १६९, १७६, १७७, १८५		प्रौढोक्तिसिद्ध २४६	
प्रसिद्धिविरुद्धत्व १७३			फ
प्रसिद्धिविरोध १५३		फलागम १७	
प्रसिद्धिहृतता १६५, २८९		फलगुरक्षित ३	
प्रस्ताव २४५		फारसी ४९	
प्रस्तुत २१७			ब
प्रस्थान १२, १८, ८३, २८७		बदरपाक २८३	
प्रहसन १२, १७, ८३, २८७		बन्धसौष्ठव ६४	
प्रहेलिका २१०		बलदेव उपाध्याय १६	
प्राकृतसुभाषितसंग्रह ५०		बलभीनाथ ६१	
प्रागल्भ्य २६८, २७०		बहुधाविकल्पिकोपमा ५	
		बहुयोजना ७३	
		बहुश्लेष ५, २१२	
		बाणभट्ट ४९	

३३२ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

बाबर	४६	भट्टनायक	९९, १००, १०४
बालक्रीडनक	३१	भट्टलोल्लट	९९, १००, १०४
बालभारत	२२, २३, २४	भट्टारक	१८१
बाला	४८	भय	५१, १०८, १३६, १३७
बालाबबोध नामक टीका	५६, ६०	भयानक	४८, १०२, १०६, १०७, १०९, १२१, १२२, १२३, १२४, २८१, २८८
बाहुड	६, ४२	भयानकरस	११६, ११७
बाह्य	६८, १९०	भरत	१६, २१, ६८, ७१, १००, १०३, १०५, १०९, ११०, १११, ११३, ११६, ११७, ११८, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १३०, १३१, १३३, १३४, १३६, १३७, १३९, १४०, १४१, १४२, १४६, १८८, १८९, १९०, १९२, १९७, २००, २०२, २०३, २०५, २०६, २११, २१२, २१४, २२६, २५३, २५४, २५५, २६०, २६१, २६७, २६८, २७१, २७२, २७४, २८०, २८१, २८८, २९१, २९२, २९४, २९५
बिन्दु	१७	भरतमुनि	१, ८४, ११२, १२२, १२६, २५५, २७९, २८५, २८९, २९०, २९३
बोकानेर	५८, ५९, ६०, ६१		
बीज	१७		
बीजव्यावर्णन	३१		
बीभत्स ३, ४८, ५१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १२२, १२३, १२४, १२५, २८८			
बीभत्सरस	११७, ११८		
बुद्ध	३१		
बुद्धिग्राह्यस्फोट	२३३		
बुद्धिचातुर्य	२४७		
बुद्धिवर्द्धन	६८		
बृहत्कथा १२, ८३, ९२, ९३, ९४, २८७			
ब्रह्मदीपिका	२१०		
ब्रह्मा	३१, २५३, २५६		
ब्राह्मण	३१		
भ			
भंवरलाल नाहटा	४		
भक्तामरस्तोत्रवृत्ति	५०		
भक्तिरस	१०७		
भगवन्	१८१		
भग्नप्रक्रम	१६२, १८४, १९६		
भग्नप्रक्रमता	१५३, १५५, १५७, १५८		
भग्नोत्तर	२१०		
भङ्ग	१३४		
भट्टतीत	६३		
		भर्तृहरि	२४१, २४४, ३०
		भवभूति	४७
		भविष्यदत्तचरित	४०
		भव्यकुमुदचन्द्रिका	३६
		भव्यजनकण्ठाभरण	
		भाण	१२, १७, १८, ८३, २८७
		भाणिका	१२, १८, ८३, २८७

शब्दानुक्रमिका : ३३३

भाण्डागारिक पार्श्वनाथ	५९	भावस्वरूप	२१, ३३
भानुचन्द्रगणि	४८, ४९	भावाभास	३१, १३५, १३६, २४८
भानुचन्द्रचरित	५०	भावि	२३१
भामह १, २१, ४५, ६२, ६८, ७१, ७२, ७३, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ९१, ९२, ९५, १४०, १४५, १४६, १८९, २०३, २०५, २०६, २११, २१२, २१४, २१९, २२०, २२४, २२६, २३०, २५५, २८२, २९१, २९२, २९५		भाविक १९७, २२०, २२१, २२६, २२९, २३०, २३१	
भारती १७, ३४, ४८, २७८, २७९, २८०, २८१, २९५		भाविकत्व	१९०
भारतीयविद्या	६०	भावोदय	२२९, २४८
भारतीस्तोत्र	४७	भाषा	२७, ५१
भाव ५, १८, ४५, १०२, १२६, १३५, २२४, २२७, २४८, २५५, २६८, २६९		भाषाश्लेष	२०८, २११
भावकत्व	१००	भिन्नलिङ्ग	१६१
भाविक	२१८, २२४	भिन्नवृत्त	१४६
भावदेवसूरि ४३, ४४, ४५, ६२, ६५, ७०, ७१, ७५, ७६, ८०, ८१, १०८, १०९, १२७, १३०, १३३, १६२, १७८, १८३, २००, २०१, २०२, २१०, २११, २२६, २८६, २९०		भिन्नसहचरत्व	१७२
भावप्रकाशन	२५५	भिन्नार्थ	१४३, १७६
भावयित्री	७५	भिन्नोक्ति	१६१
भावशतक	६०	भीमविजय	५९
भावशबलता	२२९, २४८	भीष्म	१७९
भावशान्ति	२४८	भुक्तिवाद	१००
भावसन्धि	२२९, २४८	भूषणार्थी	६७
भावस्थिति	२४८	भृङ्गारबन्ध	२१०
		भेद	४८, २१६
		भेदाभेदतुल्यप्रधान	२२८
		भेद्यभेदक	२१०
		भोगीलाल सांडेसरा	२०, २२, २३, ३०
		भोज १९७, २००, २०२, २०८, २०९, २११, २१९, २२६, २८०, २८२, २९०, २९५	
		भोजकत्व	१००
		भोजराज	५९
		भोज्यभोजकभाव	१००
		भ्रान्ति ११, २१५, २२४, २२६	
		भ्रान्तिमान् २१३, २१८, २२०, २२१, २२७, २२९, २३०, २३१	
		भ्रामक	६७

३३४ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

म		१०५,	१०८,	११०,	१२१,
मकरन्द नामक टीका	५५	१३२,	१३३,	१३५,	१३६,
मक्कलप	४०	१४१,	१४२,	१४६,	१४७,
मङ्गल	२८३	१४९,	१५०,	१५१,	१५२,
मङ्गलवाद	५०	१५३,	१५८,	१५९,	१६०,
मणिकुल्या	१२, ९३, ९४, २८७	१६१,	१६२,	१६३,	१६४,
मण्डनमंत्री	४२, ४३, २८६	१६५,	१६७,	१६८,	१६९,
मत	२२४, २२७	१७१,	१७२,	१७५,	१७६,
मतल्लिका	१२, ९३, २८७	१७८,	१८१,	१८२,	१८३,
मति	२३०	१८४,	१८५,	१८६,	१८८,
मत्स्यहसित	९४	१८९,	१९५,	२०२,	२०४,
मद	१३०	२०५,	२०६,	२०७,	२१०,
मद्रास	५६	२११,	२१२,	२१३,	२१४,
मधु	२६८	२१५,	२१६,	२१७,	२१८,
मधुपान	८४, ९०	२१९,	२२०,	२२१,	२२२,
मधुरिमा	१९०, १९३	२२४,	२२६,	२३४,	२४१,
मध्य	४८	२४५,	२४७,	२४९,	२५१,
मध्यम	४७, ९६, ९७, ११३, १८०, २५९, २८७	२८६,	२८७,	२८८,	२८९,
मध्यमकवि	६७	२९०,	२९१,	२९२,	२९३
मध्यमकाव्य	९७, २८८	मयूर			९३
मध्यमा-आरभटी	२८०, २९५	मरण	४८, १३०, २७५, २७६		
मध्यमाकैशिकी	२८०, २९५	मर्त्यपातालीया		१८०	
मध्या	१८, २६४, २६५	मल्लिकामकरन्द प्रकरण		१६	
मध्योत्तर	२१०	मल्लिनाथचरित		२८	
मनःसक्ति	२७५	मल्लिस्वामीचरित		२९, ३०	
मन्त्र	२६, ७५	महाकवि		६६, ६७	
मन्त्रणा	८४, ८८	महाकाव्य	१२, २३, २४, २६, ३०, ३८, ४१, ६८, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६		
मन्त्री	२६	महादेवी		४०	
मन्दसौर	२	महाप्रमाण		२५३	
मम्मट	१०, ५०, ५१, ५८, ६२, ६३, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७८, ८०, ८१, ९७, ९९, १००, १०४,	महासेन		३५	
		महिमभट्ट		५१, २३४	
		महिमसिंह (मानकवि)		६१	

शब्दानुक्रमणिका : ३३५

महेश्वर	१५०	मिश्रित भेद	२४९, २५०, २५२
मागधी	२०९	मीलन	२२१, २३१, २३२
माघ	२३	मीलित	२१८, २२०, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०
माणिक्यचन्द्रसूरि	५८	मुक्तक	१२, ४१, ८२, ८४, ९५, ९६
मांडवगढ	४२	मुक्तावली	२४
मात्सी	२०९	मुख	१७
माथुरी	२०९	मुख्य	४५, २३५, २४५, २४९
माघव	२५८	मुख्यशब्द	२४१
माधुर्य ११, १८, २१, ५२, ६३, ७९, १८७, १८९, १९२, १९७, २००, २०२, २६०, २६८, २७०, २९०		मुख्यशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य	२४५
माधुर्यगुण	१९४, १९६, २६१,	मुख्यार्थ	२३७
मान	११०, १११	मुग्ध मेघालंकार	५६
मानतुङ्गसूरि	२८	मुग्ध मेघालंकारवृत्ति	५६
मानात्मा	४८	मुग्धा	१८, ४७, २६४, २६६
मानिनी नायिका	४८	मुदिता	१३१
मानुषी	१८०	मुनिचन्द्रसूरि	७
मान्द्यव्या वर्णन	३१	मुनिमेखसुन्दर	५६
मार्गकवि	६६	मुनिसाधुकीर्ति	५३
मार्जारिका	९३	मुनिसुव्रतकाव्य	३५, ३६
मार्दव	१३१	मुनिसुव्रतचरित	२९
मार्दवानुग	६७	मुनिहर्षकुल	५८
मालतीमाघव	२५८	मुरजबन्ध	२१०
मालदेव	४४	मूर्च्छा	१२८, १२९, २७५, २७६
मालवदेव	४६	मूलाक्षरार्थकाण्ड	३१
माला	२३१, २३२	मृगया	२६, ८९
मालादीपक	२१८, २२१, २२२, २२३, २२९, २३०, २३२	मृच्छकटिक	२५८
मालोपमा	५, २१३, २१६	मृद्धीकापाक	२८३
मिथ्याध्यवसाय	२०१	मेकडोनल	२५४
मिश्र	२६	मेदपाट (मेवाड़)	४०
मिश्रालंकार	२२६	मेघावी	१४५
		मेरुसुन्दर	५३, ५४
		मैत्री	१३१
		मैसूर	५७

३३६ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

मोक्षशास्त्रविरुद्ध	१७३	र	
मोदृयित	२६८, २६९	रघुविलास	१४
मोह	१३०, २७५, २७६	रघुविलासनाटक	१५
मोहनलाल दलीचन्द देसाई	२८	रचना	२४८, २५०, २५१, २५२
मोहनीयकर्म	१३८	रचनाकवि	६६
य		रचना की मौलिकता	६५
यजुर्वेद	२५३, २५४, २७९	रति १३१, १३६, १३७, १३८, १८०	
यति	२६	रत्नमण्डनगणि	५६
यतिच्युत	१६१	रत्नमन्दिरगणि	१३
यतिदोष	१४३, १४५	रत्नमूर्ति	६०
यतिभ्रष्ट	१४६, १५३, १५४	रत्नसिंहसूरि	२९
यथासंख्य	५, २१२, २१३, २१५, २१८, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१	रत्नाकर	५७
यदुविलास	१६	रत्नावली	१७९, १८०
यदुसुन्दरमहाकाव्य	४६	रविप्रभसूरि	२८, २९
यमक ५, ८, ११, २२, २६, २७, ३८, ४१, ४५, १८५, २०३, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१३, २९१		रशनोपमा	२१६
यम-यमी संवाद	२५४	रस ११, १७, ३१, ३४, ४१, ४३, ५१, ७९, ८०, ८१, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, ११२, १३८, १७८, १८२, १८७, १८८, २०३, २४७, २४८, २४९, २५३, २५४, २५५, २५६, २८१, २८८	
यश	६८, ६९, ७०, ७१	रसकवि	६६
यशोविजयगणि	५४, ५५	रसगंगाधर	३३
यादवाभ्युदय	१५	रसगत	१४२
यानबन्ध	२१०	रसच्युत	१६०, १६२, २८९
युक्ति	४५, २००, २०१	रसदोष ११, १७, ४१, ५२, १४६, १४७, १७८, १८१, १८२, १८३, २८९	
युगप्रधान	२	रसध्वनि	२३६, २४७
युद्ध	२६, ८५, ९०	रसप्रक्रिया	२१
युद्धवीर	११५, ११६	रस-भाव	६४, २४८
युधिष्ठिर	२६२	रस-भाव निरूपण	३१
योग	३१	रसभेद ३९, १०४, १०५, १०८, १०९	
योगशास्त्र	१०	रसमञ्जरी	६०
योगी	३१		
यौगिक	२६		

शब्दानुक्रमिका : ३३७

रसलक्षण	४७	राज्यारोहण	२४
रसवद् २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२४, २२६, २२९ २३०, २३१, २३२, २३३, २९२		रानी	२६, ८७
रसविचार	९९	राम	१७९, २४२, २६२
रससिद्धान्त	९९, १००	रामचन्द्र	१३, १४, १५
रससूत्र	१००, १०१	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	१२, १६, १०२, १०४, १०७, १०९, ११०, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२२, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३७, १८१, १८२, १८३, २५५, २५७, २६१, २६२, २६७, २७१, २७२, २७४, २८१, २८६, २८८, २९०, २९४
रसस्वरूप ८, ११, १७, २१, ३३, ३९, ९९, १००, १०२, १०४		रामाक्रोड	१२, ८३, २८७
रसादि की स्वशब्दवाच्यता	१८१	रामायण	९९
रसाद्यनुचिताक्षर	१५८, १५९	रायमल्ल	४६
रसाभास	३१, १३५, १३६, २४८	रायमल्लाम्युदयकाव्य	४६, ४७
रसार्णवसुधाकर	२५५	रावण	२५८, २६२
रसिक	४, ५, २१२	रास	४४
रसिकप्रियाटीका	६१	रासक	१२, १८, ८३, २८७
राग	१२, ८३, २८७	राहडपुर	४०
राघवाम्युदय	१५	रीति ८, ४१, ४३, ४५, ४८, ५१, ७८, ७९, ८०, ८१, १९०, १९७, २७६, २८०, २९४	
राजद्वत	२६	रीति का महत्त्व	३४, २७६
राजद्वारवर्णनबीज	३१	रीति के भेद	२७७
राजपुत्र	८७	रीतिच्युत	१६१
राजपुरोहित	८७	रीतिभ्रष्ट	१५३, १५४
राजप्रश्नीयनाट्यपदभंजिका	४६, ४७	रीतिरात्माकाव्यस्य	७७
राजमन्त्री	८७	रीतिसम्प्रदाय	२०३
राजशेखर २५, ६२, ६५, ६६, ६७, ७५, २०८, २५४, २७९, २८२ २८३, २९५		रीतिस्वरूप	३९, २७७
राजशेखरसूरि	१९	रुक्मिणि	२७१
राजस्	२६८		
राजहंस	५३		
राजा	२६, ८७		
राजीमतीपरित्याग	४०		
राजीमती-विप्रलम्भ	४०		
राजेन्द्रपूजित	३२		

३३८ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

रुद्रट ५७, ५८, ८२, २०६, २०८,	लक्षणा २६, ४५, २३४, २४४, २७८
२१४, २१६, २२७, २२८,	लक्षणामूल २५१
२३२, २७७, २७८, २९१,	लक्षणामूलध्वनि २५१
२९४	लक्षणास्वरूप ३३
रुद्रसोमा २	लक्षमण १०७
स्य्यक २१४, २१९, २२३, २२६,	लक्ष्मी ४२
२२८, २२९, २३२, २९१,	लक्ष्य ४५, २३५
२९२	लघु ४८
रुद्र २६	लघुकथा ९३
रूप १३८	लघुकाव्य ८२
रूपक ५, ११, ४१, ४५, ८४, २०३,	लज्जा-अश्लील १८५
२०६, २१२, २१३, २१४,	ललित १८, २६०, २६८, २६९,
२१५, २१८, २२०, २२१,	२७१
२२४, २२५, २२७, २२९,	ललितप्सा-उपमा ५
२३०, २३१, २५५	
रूपकदोष १४३, १४५	लवलेश २२०
रूपकभेद २५५	लाक्षणिक ४५, २४१
रूपकमंजरी ५७	लाट २०९
रूपकमाला ५७	लाटानुप्रास २०९
रूपचन्द्र ५७	लाटी ३४, ४५, २९४
रेवाप्रसाद दिवेदी १४१	लाटीया २७७
रोचिक ६७	लिंग २७, २०८, २४१, २४२
रोघ ५, २१२	लिङ्गभिन्न १४३, १४४
रोमाञ्च १७, १२८, १२९, १३४	लिङ्गभेद १४५
रोहिणीमृगाङ्कप्रकरण १५	लिङ्गानुशासन १६३
रोद्र ३, ४८, ५१, १०२, १०३,	लीला २६८, २६९
१०४, १०५, १०६, १२२,	लुप्तविसर्ग १६२
१२३, १२४, १२५, १८०,	लुप्तविसर्गता १५३
२८८	लुप्तविसर्गान्त १५८
रोद्ररस ११४, ११५, १९४	लुप्तोपमा २२२
ल	लेखलिखनपद्धति ५०
लक्षक २४५, २४९	लेश २२४, २२७
लक्षकशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य २४५	लोकनृत्य २५३
लक्षण २६४	लोककौशल्य ३१

शब्दानुक्रमिका : ३३९

लोकज्ञान	७२	वज्रस्वामी	३
लोकन्यायमूलक	२२९, २३०, २९२	वत्सराज	१७९
लोकमात्रप्रसिद्धपददोष	१६३	वनमालानाटिका	१६
लोकविरोधी	१४६	वरमंगलिकास्तोत्र	४७
लोकव्यवहारमूलक	२३१, २९२	वर्ण	२७, ३१, ३४, ३८, ११३,
लोकादि-उक्तिविरुद्ध	१७६		१२२, १२४, २०८, २०९,
लोकोपकारी-उपदेश	६८		२११, २४८, २५०, २५१,
लोचन	१०		२५२
लोचनकार	७३	वर्णनीयविषय	८६
लोभी	२६२	वर्णोत्तर	२१०
लौकिक	६४	वर्ण्यस्थिति	२६
लौकिकशास्त्र	६३	वर्द्धमानसूरि	५३
लौल्य	१६, २८६	वर्द्धमानाक्षर	२१०
लौल्यरस	१०७, २८८	वर्षा-ऋतु	८९
	व	वलित	५, २१३
वक्ता	२१, १८४, २४५, २४६	वसन्त-ऋतु	८९
वक्त्र	९१, ९२	वसन्ततिलका	८२
वक्र	२२७	वस्तु	२३६, २४१, २४६, २४९,
वक्रोक्ति	११, २२, २७, ३८, ४१,		२५०, २५१
	४५, ८०, ८१, ९५, २०६,	वस्तुध्वनि	२३६, २४५, २६१ २९३
	२०७, २०८, २०९, २१०,	वस्तुपाल	१९, २०, २१
	२११, २२०, २२१, २२२,	वस्तुपालप्रशस्तिकाव्य	२०
	२२५, २२६, २२९, २३२,	वाक्य	३४, ४१, १८५, २४५, २४६,
	२९१		२४८, २४९, २५०
वक्रोक्तिपञ्चाशिका	५७	वाक्यगत	२५५
वक्रोक्तिलक्षण	२०८	वाक्यदोष	११, २१, ३४, ४१, १४६,
वक्रोक्तिसम्प्रदाय	२०३		१४७, १५२, १५३, १५५,
वज्रभूमि	३२		१५८, १६१, १६२, १६३,
वज्रवाटो	३२		१८२, २८९
वचन	२७	वाक्यन्यायमूलक	२२९, २३१, २९२
वचनभिन्न	१४३, १४४	वाक्यपदीय	२४१
वचनभेद	१४५	वाक्याकीर्ण	१६१
वचनमान	१४३, १४५	वाक्योत्तर	२१०

३४० : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

वाग्भट	३९, ४०, ८०	वाग्मी	६४
वाग्भटद्वितीय ६, ३९, ४०, ४१, ६२,		वाघेला	१८
६५, ७०, ७१, ७५, ८०, ८१,		वाचिक	१७, ६७, १२७
८३, ८६, ९१, ९५, ९६, १०४,		वाच्य ४५, १८४, २४०, २४१, २४५	
१०८, १०९, १११, ११३,		वाच्यसिद्धयङ्ग	९७
११४, ११५, ११६, ११७,		वाक्यादनुत्कर्ष	९८
११८, ११९, १२०, १२२,		वाच्यार्थ २३६, २३७, २३९, २४०,	
१२७, १३०, १३३, १३५,			२४७
१३७, १५०, १५१, १५२,		वाणी	१४५
१६१, १६२, १६८, १७७,		वाद	२६
१७८, १८३, १८५, १८७,		वादशिक्षा	२६
२००, २१०, २११, २२४,		वादिराज	५३
२२५, २५७, २५९, २६०,		वादोसिंहसूरि	५७
२६३, २६६, २७२, २७३,		वानवासिका	२०९
२७४, २८६		वाभ्रव्य	१८०
वाग्भटप्रथम २, ५, ६, ७, ५३, ६२,		वामन १, २१, ४५, ५२, ६८, ७०,	
६३, ६९, ७१, ७२, ७४,		७१, ८२, ९५, १४१, १८६,	
७८, ८०, ८३, १००, १०४,		१८८, १८९, १९२, १९५,	
१०६, १०९, ११०, १११,		१९६, २०२, २०४, २०५,	
११२, ११३, ११४, ११५,		२७६, २७७, २७८	
११६, ११७, ११८, ११९,		वायट	२२
१२०, १२७, १३०, १३७,		वायड	२३
१४०, १४७, १५१, १५३,		वाराणसी	१४, ५७
१६२, १६९, १८३, १९०,		वात्तिकपाक	२८३
२०२, २०४, २०५, २०७,		वासकसज्जा	२६६, २६७
२११, २१३, २१४, २१५,		वासकसज्जिका	४७
२१६, २१९, २२१, २५६,		वासवदत्ता	४९, ९५, १८०
२५८, २५९, २६३, २६४,		वासवदत्ता टीका	५०
२७७, २८५, २८७, २८९,		वासुदेव	१२३
९९१, ९९४		वास्तव	२२७
वाग्भटालङ्कार ५, ६, ७, ८, ५३,		वास्तवमूलक	२२८, २९२
२८५		वास्तवमूलकवर्ग	२२७
वाग्भटालङ्कारवृत्ति	५३	विकल्प २१८, २१९, २२१, २२२,	
		२२३, २२९, २३०, २३१	

शब्दानुक्रमणिका : ३४१

विकल्पिकोपमा	५	विट्टलाम्बा	३२
विकृत	१६२	वितर्क	१३०
विगुणरूपा-उपमा	५	विदग्धमुखमण्डन	५९, ६०
विचित्र २१८, २१९, २२१, २२२, २२३, २२९, २३०		विदग्धमुखमण्डन-अवचूरी	५९
विच्छित्ति	२६८, २६९	विदग्धमुखमण्डनटीका	५९, ६०
विजयकीर्ति	३१	विदग्धमुखमण्डनदर्पण	६०
विजयलावण्यसूरि	५४	विदग्धमुखमण्डनबालावबोध	६०
विजयवर्णी ३१, ३२, ३३, ६२, ६४, ६५, ६७, ६८, ७०, ७१, ७९, ८१, ८३, ९७, १०४, १०८, १०९, १११, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२२, १२३, १२४, १२५, १२७, १३०, १३३, १३४, १३५, १३७, १३८, १३९, १४९, १५०, १५१, १५२, १६०, १६२, १७५, १७९, १८२, १८३, १८५, १८७, १९७, २०२, २०५, २०९, २१०, २११, २२०, २२१, २२२, २३५, २४५, २५७, २५८, २५९, २६१, २६२, २६३, २६४, २६६, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८६, २८९, २९०, २९४, २९५		विदग्धमुखमण्डनवृत्ति	५९
		विद्वेषक	३४, ४७, २७१, २७२
		विद्यात्रयीचणम्	१४
		विद्यानाथ २२२, २२४, २३२, २५५, २९२	
		विद्यामण्डल	१९
		विद्याविरुद्ध १६८, १६९, १७३, १७७	
		विद्याविरुद्धत्व	१७३
		विधि २३८, २३९, २४०, २४१	
		विधिरूप	२३६, ९३७, २३९
		विध्यनुवाद-विवृत	१७५
		विध्यन्तर	२३८, २४०
		विध्यन्तररूप	२३७
		विध्ययुक्त	१६९
		विनय	२६३
		विनयचन्द्र	२७, २९
		विनयचन्द्रसूरि २७, २८, ३०, ६२, ६३, ६४, ६५, ७०, ७१, ७९, ८१, २८६	
		विनयरत्न	५९
		विनयसागर (मुनि)	५९
		विनायक	३१
		विनोक्ति २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२९, २३०, २३१	
विजयसुशीलसूरि	५४	विपर्यय	१४५
विट ३४, ४७, ९३, २७१, २७४		विपर्यस्त	२०९
विट्टलादेवी	३२	विप्रयोग ११०, २४१, २४२, २४४	

३४२ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

विप्रलब्ध	२६७	विरुद्धव्यङ्ग्य	१६९, १७७
विप्रलब्धा	१८, ४७, २६६	विरुद्धव्यङ्ग्यत्व	१७२
विप्रलम्भ	८४, ११०, १११	विरुद्धार्थमतिकृत्	१४९
विप्रलम्भशृङ्गार	४८, १०९, १९३, १९४	विरुद्धाशय	१४९, १५१
विब्लोक	२६८, २६९	विरोध ५, ११, ३४, ५२, २१२, २१३, २१४, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २४२	
विभक्ति	२७	विरोधमूलक	२२८, २२९, २३०, २३१, २९२
विभक्तिभिन्न	१४३, १४४	विरोधाभास	२७, २२७
विभाव ३३, ३९, ४५, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०६, १२२, १२६, १२७, १३२, १३४, १३६, १७८, १७९, १८१, १८२, २२१, २४७,		विरोधिता	२४१
विभाव की कष्टकल्पना	१८२	विरोधीरस	१२५
विभावना ५, २१२, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२७, २२९, २३०, २३१		विलाप	२७५
विभिन्नविषयरूप	२४१	विलास	१८, २६०, २६८, २६९, २७१
विभ्रम	१८, २६८, २६९	विवर्णता	१७
विमर्श	१७	विवाह	२६, ६५, ८४, ९०
विमलगच्छ	५५	विवेक	११, १७, १८, २८५
विमुक्तपुनरादृत	१८४	विवेककलिका	२०
वियोग	६५, १११	विवेकटीका	२०२
वियोगानन्तर	२८८, २८९,	विवेकपादप	२०
वियोगावस्था	२७४	विवेकी	६७
विरस	४८, १७६, १७७, १८३	विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक	२२९, २३०, २९२
विरह	२६, ९०, ११०, १११	विशेष ५, २१२, २१६, २१८, २२०, २२१, २२२, २२४, २२५, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१	
विरहोत्कण्ठिता	२६६, २६७,	विशेषक	१२, ८२, ८४, ९६
विरुद्ध	१७८	विशेषणवैचित्र्यहेतुक	२३२, २९२
विरुद्धमति	१८४	विशेषपरिवृत्त	१६९
विरुद्धमतिकृत् १४७, १६२, १६३, १६७, १६८		विशेषोक्ति २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२९, २३०, २३१	

विश्लेषता	१५५	वीरनरसिंह	३२
विश्वनाथ १०, १६, ५१, ७०, ७८,		वीररस	११५, ११६, १७९
९५, ९८, १२५, १२६, १४१,		वी० राघवन्	१२१
१७८, २५५, २७५		वीर्यान्तराय	१३८
विश्वामित्र-नदीसंवाद	२५४	वीसलदेव	२३, २४
विश्वेश्वर	१४	वृत्त (चरित्र)	१७, २१०
विषम ११, १४३, २१०, २१३,		वृत्तगन्धि	८२
२१४, २१५, २१८, २२०,		वृत्तवाद	३७
२२१, २२४, २२५, २२६,		वृत्ति १७, ७९, ८१, २०४, २०९,	
२२७, २२८, २२९, २३०,		२५५, २८०, २८१, २९३	
	२३१	वृत्ति का महत्त्व	३४, २७६
विषय	१८४	वृत्ति का स्वरूप	३९, २७९
विषयद्वेष	२७५	वृत्ति के भेद	२८०
विषाद	१३०	वृत्यङ्ग	२०४
विष्कम्भक	१७	वृत्यनुप्रास	२०९
विष्णु	२७८, २७९	वृद्धप्रस्तावोक्तिरत्नाकर	५०
विसदृश	१७६, १७७	वेणिका	२०९
विसन्धि ४१, १४३, १४६, १५३,		वेणीकृपाणभमर	२३
१५५, १५८, १६२		वेणीसंहार	१७९
विसर्गलुप्त	१६१	वेद	९९, २५३, २५४, २५६
विस्तार	१९०, १९७, १९९	वेपथु	१७, १२८, १३४
विस्मय	१३६, १३७, १८५	वेश्या	२६४
विहसित	११२, ११३, १३८	वैखरीध्वनि	२३३
विहित	४१, २२७	वैदर्भी ८, ३४, ४१, ४५, ७१, १५४,	
विहृत	२६८, २६९	२७७, २७८, २९४	
वीथी	१२, १७, ८३, २८७	वैधर्म्य	२१६, २२२
वोप्सा	२०९	वैय्याकरण	२३३
वीभत्स	१८७, १९४, २८१	वैराग्य	१८५
वीर ३, ४८, ५१, १०२, १०४,		वैवर्ण्य	१२८, १२९, १३४
१०५, १०६, १०८, १२२,		वैशेषिक	१९०
१२३, १२४, १२५, १८०,		व्यक्ति	२४१, २४३
१९४, २८१, २८८		व्यक्तिविवेक	२३४
वीरचरित	१७९	व्यङ्ग्य ४५, १८४, २३३, २३५,	
वीरघवल	१८	२४५, २४७, २४९	

३४४ : जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान

व्यङ्ग्यमूलशब्दवैचित्र्य	२१	व्याकीर्ण	१६१
व्यङ्ग्यार्थ	२४७	व्याघात ५२, २१८, २२०, २२१,	
व्यञ्जक	४५, २४१	२२४, २२६, २२७, २२९,	
व्यञ्जकता	२४५, २४६, २४७	२३०, २३१	
व्यञ्जना २६, ४५, ५१, ७८, ७९,		व्याज	२२७
२४०, २४१, २७८		व्याजस्तुति ११, २१५, २१८, २२०,	
व्यञ्जनावृत्ति (व्वनि)	२३५	२२१, २२४, २२५, २२९,	
व्यञ्जनाव्यापार	२४४	२३०, २३१	
व्यञ्जनास्वरूप	३३	व्याजोक्ति २१७, २१८, २२०, २२१	
व्यतिरेक ११, २०६, २१३, २१४,		२२४, २२५, २२९, २३०,	
२१५, २१८, २२०, २२१,		२३१, २३२, २९२	
२२४, २२५, २२७, २२९,		व्याधि	४८, १३०, २७५
२३०, २३१		व्यायोग	१२, १७, ८३, २८७
व्यपदेश	५, २१२	व्याहत १४३, १४४, १६८, १६९,	
व्यभिचारिभाव ११, १७, २१, ३१,		१७७, १७८	
३३, ३९, ४७, १००, १०१,		व्याहृतार्थ	१४७
१०२, १०३, १०४, १२२		व्याहृतार्थत्व	१७०
१२९, १३०, १३१, १३२,		व्युत्पत्ति ६२, ६४, ७२, ७४, ७५,	
१३३, १३४, १३६, १३८,		७६	
१७८, १८२, २४७		ब्रीडनक ३, १०५, १०९, १२१,	
व्यर्थ	१४६, १७६	१२२, २८८	
व्यवहार का बोध	६८	ब्रीडनकरस	१२१, १३९
व्यवहारज्ञान	७०	ब्रीडा	१३०, १४९, १६३
व्यवहित	१४३, १४५	ब्रीडाजनक	१६८
व्यसन	१६, २८६	ब्रीडाजनक-अश्लील	१६७
व्यसनरस	१०७	ब्रीडाभिव्यञ्जक	१६३
व्यसनी	२६२	व्ही० कृष्णमाचार्य	५६
व्यस्त	२१०	श	
व्यस्तसमस्त	२१०	शकार	२७२
व्यस्तसम्बन्ध	१५३	शकुन्तला	२६४
व्याकरण	४२, ६२, ६४, ७२	शक्ति	६३, ६४, ६५, ७६
व्याकरणविरुद्ध	१५०, १५१	शङ्कर	१८०
व्याकरणशास्त्र	७४, २३३	शङ्का	१३०

शब्दानुक्रमणिका : ३४५

शंकुक	९९, १००, १०४	शब्दार्थचित्र	९८, २८८
शठ	४१, २५८	शब्दार्थरचना	७९
शत्रुञ्जयतीर्थ	४९	शब्दार्थालंकार	२०९
शब्द ६३, ६४, ७२, ७७, ७८, १३८, १८४, १८७, १८८, १९०, २०५, २३३, २३४, २३५, २४१		शब्दालंकार ८, ११, २२, ३४, ३८, ४१, ४५, ५२, ७९, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २२१, २२२, २२६, २९१	
शब्दकवि	६६	शम	१६, १३७, १३८
शब्दगत	१४२	शम्पा	१८, ८३
शब्दगुण २१, ५२, १८९, १९५, १९६		शय्या ३४, ३९, ७९, ८१, २८२, २९५	
शब्दचित्र ५१, ९७, ९८, २८८		शरदऋतु	८९
शब्दच्युत १४३, १६१, १६२		शरीरज	३४
शब्ददोष ४१, १४६, १५०		शान्त ५१, १०२, १०५, १०६, १०९, ११३, १२४, १२५, १३२, १३८, १७१, १९३, २८१, २८८	
शब्दभेद ४५		शान्तरस १६, ४८, १०४, १०८, १२०, १२१, १२५, १८०	
शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व २०६, २९१		शान्तिचन्द्र ५६	
शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व २०६		शान्तिनाथ भण्डार ५४	
शब्दप्रकार ३९		शाप ११०, १११	
शब्दवैचित्र्य २१, ८५		शापहेतुक ११०, १११	
शब्दशक्तिमूल २५०		शापानन्तर २८८	
शब्दशक्तिमूलक २४९		शाब्दिक २१०	
शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य ११, २४१ २४५, २४७, २४८		शारदातनय २५५	
शब्दशक्तिमूला २१		शास्त्रकवि ६६	
शब्दशक्त्युद्भव २५१		शास्त्रमात्रप्रसिद्धपददोष १६३	
शब्दश्लेष १९६		शास्त्र में काव्य का समावेश करने वाला ६६	
शब्दसमाधि १९६		शास्त्राध्ययन ७३	
शब्दसिद्धि २५, २६		शास्त्रान्तररहस्योक्ति १९०	
शब्दसोकुमार्य १९६		शास्त्रार्थ २१०	
शब्दसौन्दर्य ६७			
शब्दस्वरूप २१			
शब्दहीन १४६			
शब्दानुशासन १०			

३४६ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

शोऽन्त्राथकवि	६६	शृङ्गाररस-भावादिरूप	२३०
शैस्त्रिों की रचना करने वाला	६६	शृङ्गाररसस्वरूप	४७
शिक्षापरिच्छेद	३०	शृङ्गाराभास	४८
शिङ्गक	१२, ८३, २८७	शृङ्गारार्णवचन्द्रिका	३२, ३३, २८६
शिङ्गभूपाल	२५५	शोक	१०८, १३६, १३७, १८०
शिथिल	१६२	शोभनस्तुति टीका	५०
शिल्पिक	६७	शोभा	१८, ४५, २००, २०१, २५७, २६०, २६८, २७०
शिल्पिनी	४८	शौर्य	२०४
शिवचन्द्र	५९	श्यामसुन्दर दीक्षित	२३, २४
शिवेनिधान	६०	श्रद्धा	१३१
शिशिर-ऋतु	८९	श्रम	१३०
शीलगुणसूरि	२८	श्रमणधर्म	३
शीलदेव	४४	श्रव्य	१२, ८३
शुद्ध	२०९	श्रव्यकाव्य	१२
शुद्धध्वनि	२५२	श्रीकलश	७
शुद्धभेद	२४९, २५०, २५२	श्रीकृष्ण	२०१, २७१
शुद्धश्लेष	२२७	श्रीगदित	१२, १८, ८३, २८७
शुभविजय	५५	श्रीपत्तन	४३
शूद्रक	९४	श्रीमाल	४२
शृङ्खल	२१०	श्रीराहड	४०
शृङ्खला	२२७	श्रुतदेवता	४
शृङ्खलामूलक	२२८, २२९, २३०	श्रुतबोध	३७
शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक	२३२, २९२	श्रुताभ्यास	६३
शृङ्गार	३, ४८, ५१, ७९, १०२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, १११, १२२, १२३, १२४, १२५, १३५, १५९, १७१, १७९, १८०, १८२, १९४, २६३, २६८, २८८	श्रुति	२०९
शृङ्गारमञ्जरो	३५, ३७, ५५	श्रुतिकटु	४५, ७९, १४७, १४८, १८४, १८५
शृङ्गारमण्डन	४३	श्रुतिकटुता	१६६
शृङ्गाररस	३३, १०९, ११०, १११, १९२, २५८	श्रुतिकष्ट	१४५
		श्रुतिदुष्ट	१४५
		श्रुतिदुष्टत्व	१४६
		श्रुतिमिलितोपमा	५

श्लेष ८, ११, २२, ४१, ४५, १८५,	संसर्ग	२४१, २४२, २४४
१८९, १९२, १९७, २००,	संसिद्धि	५, २१२
२०६, २०७, २१०, २१३,	संसृष्टि २१५, २१७, २१८, २२०,	
२१५, २१८, २२१, २२४,	२२१, २२४, २२६, २२७,	
२२५, २२७, २२९, २३०,	२२९, २३०, २४८, २४९,	
२३१, २९१	२५०, २५२	
श्लेषमूलक	२२८, २९२	सकलकथा १२, ८२, ९२, ९३, ९४,
श्लेषमूलकवर्ग	२२७	२८७
श्लेषसाध्य	२७	सखि
श्लेषसिद्धि	२५, २६	३४
श्लिष्ट	२२०	सखीभट
श्लोकोत्तर	२१०	३१
श्वेत	१२३	सङ्कर ११, २१३, २१४, २१५,
श्वेताम्बर	४५, ४६, ५७	२१७, २१८, २२०, २२१,
श्वेताम्बरसम्प्रदाय	२२	२२४, २२५, २२६, २२७,
श्वेताम्बराचार्य	३१	२२९, २३०, २४८, २४९,
		२५०, २५२
		२७५
ष		सङ्कल्प
षड्भाषागर्भित नेमिस्तव	४७	सङ्कीर्ण
		१६२, २०९, २२७
		सङ्कीर्णता १५३, १५५, १५७, १५८,
		१८४
स		सङ्केत नामक वृत्ति
संयोग २१, ३३, ११०, २४५, २४७		५८
संलक्ष्यक्रमव्यंग्य २३६, २४१, २४८,		सङ्क्रामयिता
२५०		६६
संलक्ष्यक्रमव्यंग्यव्यनि	२५१	संक्लिष्ट
संवर्गक	६६	१६८
संवाद	२५३, २५६	संक्षिप्तकादम्बरीकथानक
संविद्धि	२४४	५०
संवीत	१८४	संक्षेप
संशय ५, १५०, २१२, २१३, २१८,		१९०
२२०, २२७, २३०, २४०		संक्षेपक
		१९७, २००
संशयपूर्ण	२१७	संगीतमण्डन
संशयाख्य	१७६	४३
संश्लेष	२२९	संगीतशास्त्र
		२५३
		संगीतशास्त्रविरुद्ध
		१७३
		संग्रह
		१९०
		संघटना
		२३४
		संघात
		८२, ९५
		संचारिभाव १००, १२९, १३०,
		१४१, १८४

३४८ : जैनाचार्या का अलंकारशास्त्र में योगदान

संज्ञा	२४३, २४५	समज्योति	५, २१२, २१३, २९१
सट्टक	१२, १८, ८३, ८४, २८७	समता	८, १८९, १९०, १९१, १९६, १९७
सत्त्व	२६८		
सत्त्वज	२६८	समताहीन	१७६, १७७
सत्त्वज-अलंकार	१२, २६७, २९४	समयमाणिक्य (समरथ)	६१
सत्यभामा	२७१	समयविरुद्ध	१४३, १४५
सत्यहरिश्चन्द्रनाटक	१५	समयसुन्दरगणि	५३, ५७
सनियम परिवृत्त	१६८, १६९	समरादित्य	९४
सन्तानीय खण्डिल गच्छ	४३	समर्थ	१८५
सन्तोष	१६, १३१	समवकार	१२, १७, ८३, २८७
सन्दानितक	१२, ८२, ८४, ९६	समस्त	२१०
सन्दिग्ध १४७, १४९, १५२, १६२, १६५, १६७, १६८, १६९, १७६, १७७, १७८, १८५		समाधि १८९, १९१, १९७, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२९, २३०, २३१	
सन्दिग्धता १६५, १७१, १८२, १८४, २८९		समाप्तपुनरात्त १५६, १६१, १६२	
सन्दिग्धप्राधान्य	९७, २८७	समाप्तपुनरात्तता १५३, १५५	
सन्देह २१७, २२१, २२६, २२९, २३१, २५२		समाप्तपुनरारब्धता १५८	
सन्देहसंकर	२२७	समाप्तिपुनरारब्ध १८४	
सन्धि	१७, २०४, २५५	समासयुक्त ६७	
सन्धि-अश्लीलता	१५८	समासरहित ६७	
सन्धिकष्टता	१५८, १८४	समासोक्ति ११, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३२	
सन्धिच्युत	१६१		
सन्धिदोष	१४३, १४५	समाहित ५, २१२, २१३, २१४, २१५, २१८, २१९, २२०, २२४, २२९, २३०, २३१	
सन्धिविश्लेषता	१५८		
सन्ध्यङ्ग	२०४	समुच्चय ११, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०	
सप्तस्मरणवृत्ति	५०	समुच्चयालंकार	७
सभङ्गश्लेष	२११		
सभङ्गश्लेषवक्रोक्ति	२०७		
सम ११, २१५, २१८, २२०, २२४, २२५, २२६, २२९, २३०, २३१			

शब्दानुक्रमणिका : ३४९

समुद्र	२६, ८४, ८८	सागारधर्मामृत	३५, ५८
समूहवाचक शब्द	३१	सांक	९५
सम्पूर्णा-उपमा	५	सातिशय	७०
सम्बन्ध	२१६, २१७	सात्त्वती १७, ३४, ४८, १२७, २७८,	
सम्बन्धच्युत	१६१	२७९, २८०, २८१, २९५	
सम्भोग	१११, १३६	सात्त्विक	१८
सम्भोगशृङ्गार	१०९, १८०, १९३	सात्त्विकगुण	११, ३४, २५७, २६०
सम्भ्रम	११०, १११	सात्त्विकभाव	११, २१, ३१, ३३,
सम्मितत्व	१९०, १९७	३९, ४७, १०१, १०४, १२२,	
सरस्वती	४२	१२९, १३४, १३५	
सरस्वतीकण्ठाभरण	५९, २००	सादृश्य	२२७
सरस्वतीकण्ठाभरणवृत्ति	५९	सादृश्यमूलक	२२८, २९२
सरोवर	२६, ८८	सादृश्यमूलकता	३८
सर्गबन्ध	८१, ८२	साधर्म्य	२१६, २२२
सर्वतोभद्र	२१०	साधारणा	३४
सर्ववर्णन	२६	साम	४८
ससंदेह	११, २१५, २१७, २२४	सामर्थ्य	२४१, २४२
ससंशय	१४६	सामवेद	२५३ २५४, २७९
सहकारपाक	२८३	सामान्य	२१६, २१८, २२०, २२१,
सहचरभिन्न	१६९, १७७	२२२, २२४, २२५, २२६,	
सहचरभ्रष्ट	१७६	२२९, २३०, २३१	
सहजा	७५	सामान्यसाम्य	१७६, १७७
सहायक	१८	सामान्या	२३३
सहृदय	७०	सांप्रयोगिकी	१३८
सहृदयनिष्ठ	६९	साम्य	१९०, १९३, २२७, २९०
सहोक्ति	५, ११, २१२, २१३, २१४,	सार	२१३, २१५, २१८, २२०,
२१५, २१८, २२०, २२१,		२२१, २२६, २२४, २२७,	
२२४, २२६, २२७, २२८,		२२९, २३०, २३१, २३२	
२२९, २३०, २३१		सारदीपिका नामक टीका	५८
सांसर्गिकी	१३८	सारदीपिकावृत्ति	५८
साकांक्ष	१६९, १७५, १७७	सारस्वत	६६
साकांक्षता	१७१	सारस्वतमण्डन	४३
सागरनन्दी	२५५	सारस्वतरूपमाला	४७

३५० : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

सालंकार	२१०		२२६, २२७, २२९, २३०
सावरण क्षयोपसममात्र	७५	सूच्य	१७
साहचर्य	२४१, २४२	सूत्र	११
साहित्य	४६	सूत्रदोष	१४०, १४३
साहित्यदर्पण	२५५	सूरत	५७, ५९
साहित्यदर्पणकार	८०, ८२	सूर्य	२६, ८९
साहित्यशास्त्र	२५६	सूर्योदय	८४
सिंहदेवगणि	५३	सेनगण पोगरिगच्छ	३५
सिद्धराज	१४, १५	सेनापति	२६, ८७
सिद्धराज जयसिंह	१२, १३	सेनाप्रयाण वर्णन	३१
सिद्धसारस्वत मंत्र	२२	सेविता	६६
सिद्धाचल पर्वत	४९	सोम	६
सिद्धि	४५	सोमचन्द्र	९
सिद्धिचन्द्रगणि	१, ४८, ४९, ५०, ५१, ५८, ७०, ७१, ७५, ७६, ८०, ८१, १०८, १०९, ११३, १३०, १४२, २१०, २४७, २८६, २८८, २८९, २९३	सोमदेव	२
सुकुमारता	१९७	सोमदेवगणि	५३
सुकुमारत्व	१९७	सौकुमार्य	४१, १९२
सुकृतसंकीर्तन	२४	सौक्ष्म्य	१९०, १९७, १९८
सुखरस	१६, १०७	सौक्ष्म्यगुण	१९९
सुखात्मकरस	१०२	सौत्र	२१०
सुचक्रक	२१०	स्तब्ध	२६२
सुधाकलश	१५, १६	स्तम्भ	१२८, १२९, १३४, १३५
सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव	४७	स्तवक	२५, २६, २७
सुप्त	१३०	स्तुति	५, २१२, २१७, २४०
सुबोधिका नामक टीका	५९	स्तोत्र	३८, ४६
सुभाषितसंग्रह	२०	स्तोत्रग्रन्थ	३८
सुरत	९०	स्त्री की आठ अवस्थाएँ	४२
सुरापान	२६	स्त्रेणालाप वर्णन	३१
सुवाक्यगर्भित	१६१	स्थाधिभाव	८, ११, १६, १७, २१, ३१, ३९, ४७, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०७, १०८, १२२, १२९, १३१, १३२, १३३, १३६, १३७, १३८, १३९, १७८
सुशब्दता	१९०	स्थाधिभावस्वरूप	३३
सूक्ति	१९७, १९९	स्थैर्य	१८, २६०
सूक्तिरत्नाकर	५०		
सूक्ष्म २१८, २२०, २२१, २२४,			

शब्दानुक्रमिका : ३५१

स्नेह	१६, १०८, १०९, २८६	ह	
स्नेहरस	१०७	हतवृत्त	१६२
स्पर्श	१३८	हतवृत्तता	१५३, १५५, १५७, १६१
स्पृहा	१११	हम्मीरकाव्य	२३
स्पृहानन्तर	२८८	हयग्रीववध	१८०
स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप	२३०, २३१, २९२	हरनाथ द्विवेदी	३६
स्फोटसिद्धान्त	२३३	हरि	३१
स्मरण	२१८, २२७, २२८, २३०, २३१	हरिप्रसाद शास्त्री	२९
स्मित	११२, ११३, १३८	हर्ष	१३०, १३८
स्मृति	११, ४८, १३०, २१५, २२०, २२१, २२४, २२६, २७५	हर्षकीर्तिसूरि	४६
स्यादिशब्दसमुच्चय	२४	हल्लोसक	१२, १८, ८३, २८७
स्रग्धरा	१९३	हसित	११२, ११३
स्वकीया	३४, २६३, २६४, २६६	हाजा पटेल की पोल	५५
स्वतःसम्भवी	११, २४६, २५१, २९३	हाथी	७, २६ ८९
स्वतःसिद्ध	२४६, २५०	हायनसुन्दर	४७
स्वभावज	२६८, २७१	हारबन्ध	२१०
स्वभावहीन	१४३, १४५	हाव	१८, २६८, २६९
स्वभावोक्ति	११, ९५, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१, २२९, २३०, २३१	हास	१३६, १३७, १८०
स्वयंवर	२६, ९०	हास्य	३, ४८, ५१, १०२, १०४, १०५, १०६, १०८, १२२, १२३, १२४, १२५, १८७, २८१, २८८
स्वर	१३४, २४१	हास्यरस	११२, ११३
स्वरभेद	१७, १२८, १२९	हित	६८
स्वशब्दवाच्यता	१७८, १८३	हीनता	१४५
स्वशब्दोक्ति	४१	हीयमानाक्षर	२१०
स्वसंकेतप्रकल्पार्थ	१४७, १४८	हीरविजय	४६
स्वाधीनपतिका	११, १२, ४७, २६६	हुमायूं	४६
स्वाभाविक	३४, २६८	हृदयकवि	६६
स्वेद	१७, १२८, १२९, १३४	हेतु	१७, ४५, १९३, २००, २१३, २१४, २१५, २१९, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२८
		हेतुशून्य	१७६

३५२ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

हेतुहीन	१४६	१८४, १८५,	१८७,	१८८,
हेमचन्द्र ५, ८, ९, १०, १२, १३,		१९०, १९२,	१९३,	१९५,
१४, १५, ३१, ४१, ५४, ६२,		१९६, २०२,	२०४,	२०५,
६३, ६९, ७०, ७१, ७२, ७४,		२०७, २०८,	२११,	२१५,
७५, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६,		२१६, २१७,	२१८,	२२५,
९१, ९२, ९३, ९५, ९६, ९७,		२३४, २३५,	२३६,	२४०,
१०१, १०६, १०७, १०८,		२४१, २४५,	२४६,	२४७,
१०९, ११०, १११, ११२		२४९, २५५,	२५६,	२५७,
११४, ११५, ११६, ११७,		२५८, २५९,	२६०,	२६१,
११८, ११९, १२०, १२२,		२६२, २६३,	२६४,	२६६,
१२६, १२७, १२८, १३१,		२६७, २६८,	२७०,	२७१,
१३२, १३३, १३४, १३६,		२८५, २८६,	२८७,	२८८,
१३७, १४१, १४२, १४८,		२८९, २९०,	२९१,	२९२,
१५१, १५२, १५५, १५७,			२९३, २९४	
१५८, १६१, १६२, १६५,	हेमचन्द्राचार्य		२०, ७८, ८०	
१६७, १६८, १६९, १७१,	हेमन्त-ऋतु		८९	
१७२, १७३, १७५, १७७,	हेला		२६८, २६९	
१७९, १८०, १८१, १८३,	होशंग		४२	

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२३	इनका	इनकी
२	२	विशुद्ध	विशुद्ध रूप से
४	२३	सुहृदेविमं	सुहृदेविमं
५	४	रोघ	रोघ
५	९	उद्भिद्	उद्भिद्
५	१२	१७	१३
६	४	ओर	और
६	१९	मुक्तिअ	मुक्तिअ
६	२३	वाग्भटामिषस्य	वाग्भटामिषस्य
६	२४	गाथेकया	गाथेकया
६	२७	अथासित	अथास्ति
६	२८	गुरुपादान्	गुरुपादान्
७	१	अद्भूत	अद्भुत
७	२५	शतैकादशके	शतैकादशके
७	३०	****कारयन्मुदा	****कारयन्मुदा
८	२२	पुनः	पुनः
९	६	घुघुंका	घुन्घुका
९	२२	घुन्घुकाभिधाने	घुन्घुकाभिधाने
१०	१०	विद्वत्तापूर्ण	विद्वत्तापूर्ण
११	२८	शंकर	सङ्कर
१२	२५	रूपक	रूपक
१४	८	श्लोकार्थ	श्लोकार्थ
१४	९	चारयत्	चारयन्
१४	११	विद्वत्ता	विद्वत्ता
१४	२४	विद्यात्रयीषण****	विद्यात्रयीचण****
१४	२७	त्रैविद्यवेदितोऽप्यस्मै	त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै
१४	२८	प्रभालक्ष्म	प्रभालक्ष्म
१८	१०	प्रगल्भा	प्रगल्भा
१८	१२	अयत्नज	अयत्नज

३५४ : जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१८	त्रीगदित	त्रीगदित
१९	१३	नरेन्द्रप्रभसूरि	नरेन्द्रप्रभसूरि
२१	९	शब्दवैचित्य	शब्दवैचित्र्य
२१	१२	अर्थवैचित्र्य	अर्थवैचित्र्य
२१	३०	तद्वचः	तद्वचः
२४	१८	वृत्ति	वृत्ति
२४	२२	मुक्तावली	मुक्तावली
२५	९	वृत्ति	वृत्ति
२६	५	परिवर्तन	परिवर्तित
२६	२४	तत्सदृश	तत्सदृश
२७	१९	बतालाया	बतलाया
२८	७	काव्यशास्त्र	काव्यशास्त्र
२९	१३-१४	उवस्समाला****	उवएसमाला****
३१	८	आमानक	आमानक
३१	२३	रसाभाव	रसाभास
३२	१७	पाण्ड्वंग	पाण्ड्यवंग
३४	१८	ईशन्मृदु	ईषन्मृदु
३६	१९	ध्याताव्य	ध्यातव्य
३७	२२	निर्देश	निर्देश
४०	१	आलंकारिक	अलंकार तिलक
४०	११	मवकल्प	मवकल्प
४०	२७	****भव्यनाटक	****भव्यनाटक
४०	२९	समस्तानवधविद्या	समस्तानवधविद्या
४१	२५	घृष्ठ	घृष्ट
४२	११	विद्वता	विद्वत्ता
४२	२३	श्रीमद्वन्धजिनेन्द्र	श्रीमद्वन्धजिनेन्द्र
४३	२८	देवेन्द्रवन्धक्रमः	देवेन्द्रवन्धक्रमः
४४	१०	से	में
४४	१२	कालकाचरित	कालकचरित
४४	१८	कालकाचरित	कालकचरित
४४	२१	वसुव्यव	वसुव्यव
४४	२६	स्वगीः पुत्थे	स्वर्गीः पूत्थे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	३०	तत्पादपदमधुपाः	तत्पादपदमधुपाः
४६	२१	****गणिजित्वा	गणिजित्वा
४६	२२	सुखासनाभकबर	सुखासनाभकबर
४६	२६	मृभुजोऽत्र	भूभुजोऽत्र
४६	२७	त्यर्थे	त्यर्थ
४६	२७	****राया भिवं	रायाभिवं
४६	२९	इहाभूत	इहाभूत्
४७	१	नाट्यपदमञ्जिका	नाट्यपदमञ्जिका
४७	२२	ऊढा	ऊढा
४८	३	व्याधि	व्याधि
४८	१०	घात्री	घात्री
४८	२३	तापगच्छीय	तापगच्छीय
४९	३	निषेधाज्ञा	निषेधाज्ञा
५७	६	रत्नाकार	रत्नाकर
५९	८	मुखमण्डल	मुखमण्डन
६३	७	गुरु	गुरु
८१	२	सगुणो	सगुणो
८५	२२	रत्योत्सव	रत्युत्सव
९४	१४	लम्बो	लम्बो
९९	१	वाङ्मय	वाङ्मय
११७	९	भा ौ	भावो
१२४	७	दे ता	देवता
१२४	१५	धूम्र	धूम्र
१३४	२४	का	को
१४०	१	भेदो	दोषो
१४९	७	श्रुति कटु	श्रुतिकटु
१४९	२०	इस	जिस
१५७	७	प्रथम	द्वितीय
१५७	८	द्वितीय	प्रथम
१५८	१९	(वाच्यस्थानभिधान)	(वाच्यस्थानाभिधान)
१५९	५	रसाद्यनुचिताक्षर	रसाद्यनुचिताक्षर
१५९	११	सूर्याचन्द्रमसो	सूर्याचन्द्रमसो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	९	बीडाजनक	बीडाजनक
१७२	१९	भिन्नसहरत्व	भिन्नसहचरत्व
१७४	४	रुल्लंघ्य	रुल्लंघ्य
		४. अलंकारचिन्तामणि,	शृङ्गारार्णवचन्द्रिका
१७५	३०	५।२३७।	१०।९८-१००।
१७६	२१	पुरुषार्थ	पुरुषार्थ
१७७	१९	अजिनसेन	अजितसेन
१८१	६	करन	करना
१८१	१४	सूत्रा	सूत्र
१९०	१४	और	और
१९१	२	म ति	मनुवदति
१९२	१	श्लेश	श्लेष
१९४	१०	अपेक्षा	अपेक्षा
२०७	९	देक्रोक्ति	वक्रोक्ति
२०७	१७	अतिरिक्त	अतिरिक्त
२१२	२०	अपह्नुति	अपह्नुति
२१३	९	श्लेश	श्लेष
२१६	२	क	का
२१६	३	को	के
२१८	८	अपह्नुति	अपह्नुति
२१८	९	प्रतिवस्तूपमा	प्रतिवस्तूपमा
२२६	२	अपह्नुति	अपह्नुति
२३१	६	अस्फुटप्रतीयानवस्तरूप	अस्फुटप्रतीयमानवस्तरूप
२३८	२१	प्रतीत	प्रतीति
२४०	२१	(व्यञ्जना)	(व्यञ्जना)
२५९	२२	अनुकूलादि	अनुकूलादि
२६८	१४	क्रियात्मकों	क्रियात्मकों
२८९	१	और	ईष्यान्तर और
२९५	३	मध्यमा कैशिकी	मध्यमा कैशिकी
३१५	८	उवस्समाला....	उवएसमाला....

4656

डा० कमलेशकुमार जैन

एम० ए० (संस्कृत, पालि, प्राकृत), पी-एच० डी०,
साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्य (लब्ध स्वर्णपदक)



- मुभाषित वत्तीसी (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित) सम्पादित एवं 'तुलसी प्रज्ञा' नामक शोध पत्रिका में प्रकाशित.
- अनेक ललित एवं शोध-निबन्धों का प्रकाशन.
- उच्चकोटि के दर्जनों ग्रन्थों की समीक्षाएँ प्रकाशित.
- जोइन्दुदेवकृत 'योगसार' पर ढूँढारी भाषा में रचित टीका का सम्पादन (शीघ्र प्रकाश्य).
- सन् १९७४ से जैनविद्या के अध्ययन/अनुसन्धान में विशेष रूप से संलग्न.
- पूर्व सम्पादक 'तुलसी प्रज्ञा'.
- पूर्व शोधालिकारी, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०).
- पूर्व दर्शनविभागाध्यक्ष, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनौ, वाराणसी (उ० प्र०).
- सदस्य (जनरल काउन्सिल), प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार).
- सम्प्रति जैन-बौद्धदर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैनदर्शन-व्याख्याता पद पर कार्यरत.

हमारे सहविवरण प्रकाशन

Political History of Northern India from Jaina Sources 80.00

—Dr. G. C. Choudhary

An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand Mittal 40.00

A Cultural Study of Nisith Curni—Dr. Madhu Sen 60.00

Jaina Temples of Western India—Dr. Harihar Singh 200.00

The Concept of Pancasila in Indian Thought—

Dr. Kamla Jain 50.00

Doctoral Dissertations in Jaina and Buddhist Studies

—Dr. Sagarmal Jain & Dr. Arun Pratap Singh 40.00

Studies in Jaina Philosophy

—Dr. Nathmal Tatia 100.00

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग १ से भाग ७ तक) २९०-००

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द जैन ३०-००

उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शन लाल जैन ४०-००

जैन धर्म में अहिंसा—डा० वशिष्ठ नारायण सिनहा ३०-००

जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन—डा० अर्हदास बंडोवा दिगे ३०-००

अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमख्यानक—डा० प्रेमचन्द्र जैन ३०-००

जैन प्रतिमा विज्ञान—डा० मास्तिनन्दन प्रसाद तिवारी १२०-००

जैन दर्शन में आत्म-विचार—डा० लालचन्द जैन ५०-००

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान—डा० कमलेश कुमार जैन ५०-००

खजुराहो के जैनमन्दिरों की मूर्तिकला—श्री रत्नेशकुमार वर्मा २५-००

आनन्दघन का रहस्यवाद—साध्वी श्री सुदर्शनाश्री जी ४०-००

जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता ३०-००

जैन धर्म दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता ३०-००

तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित)—पं० सुखलाल संघवी ३०-००

प्राकृत दीपिका—डा० सुदर्शनलाल जैन २५-००

वज्जालगं (हिन्दी अनुवाद सहित)—श्री विश्वनाथ पाठक ६०-००

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

फोन नं० ६६७६२